भारतीय ग्रन्थमाला ; संख्या २८

विश्व-संघ की ओर

लेखक

'भारत मे अगरेजी राज्य', 'हज़रत मुहम्मद और इसलाम' आदि के रचयिता

सुन्दरलाल

और

'भारतीय शासन', 'साम्राज्य और उनका पतन' आदि के रचयिता

भगवानदास केला

प्रकाशक

भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज (इलाहाबाद)

पहला संस्करण
१,००० प्रतियाँ

सन् १९४४ ई०

मूल्य
ढाई रुपये

महात्मा गांधी की सेवा में

पूज्य बापू !

विश्व-संघ या विश्व-राज्य की योजनाएँ आज हर विचारक और हर नीतिज्ञ की ज़बान पर हैं। स्थाई विश्व-शान्ति के लिए इस तरह के किसी न किसी संगठन की ज़रूरत सब महसूस कर रहे हैं। किन्तु कोई भी स्थाई विश्व-संघ केवल मनुष्य मात्र की बराबरी, मनुष्य मात्र के बन्धुत्व, प्रेम और अहिंसा के सहारे ही क़ायम हो सकता है। आज दुनिया में इन सत्य-सिद्धान्तों के आप सब से बड़े प्रतीक हैं। इसलिए यह छोटी सी पुस्तक स्नेह, नम्रता, और आदर के साथ आप के कर कमलों में समर्पित की जा रही है।

सुन्दरलाल

भगवानदास केला

निवेदन

इस समय के संसार की एक खास समस्या पर बहुत नम्रता के साथ हम यह छोटी सी पुस्तक प्रकाशित कर रहे हैं। यह पुस्तक अपने महान विषय की भूमिका सी ही है। काग़ज़ और प्रेस की आजकल की कठिनाइयों में, भारतीय ग्रन्थमाला जैसी मामूली हैसियत की संस्था के लिये, इसे भी छपा सकना ग़नीमत है। हमारा उद्देश्य केवल इतना ही है कि देश के विचारशील लोग इस विषय की ओर ध्यान देने की कृपा करें।

इक्कीस वर्ष पहले की बात है। श्री० भाई (अब संन्यासी) भवानीदयाल जी के सम्पादन में दक्षिण अफ्रीका से निकलने वाले "हिन्दी" के ता० २७ जुलाई १६२३ के 'राष्ट्रीय अंक' में हमने एक लेख लिखा था—'सार्वभौम साम्राज्य'। उस लेख में "क्या इस समस्त भूमंडल पर कभी एक साम्राज्य होगा ?", इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हमने अपनी आशावादिता इन शब्दों में प्रकट की थी—"हाँ, आशा है। जिस इतिहास में विविध राष्ट्रों के जीवन मरण का वृत्तान्त लिखा है, उसी में विवेकी पाठकों को सार्वभौम साम्राज्य की आशा मिल जायगी। इतिहास फिर पढ़िये, और इस दृष्टि से पढ़िये कि विविध साम्राज्यों का ह्रास और पतन क्यों हुआ, उन कारणों को खोज निकालिये। पुष्टि के सिद्धांत निश्चित कीजिये। उनका पालन होने पर, स्वार्थ की नींव हटा कर अपने पराये, काले गोरे, स्वामी और दास का भेद दूर करके परमार्थ की नींव पर मनुष्य-जाति का सार्वभौम साम्राज्य अवश्य बन सकेगा।"

उस लेख के अंत में हमने कहा था—"यह स्वर्गीय भावों वाला साम्राज्य कब बनेगा, कैसे बनेगा, उसकी शासन-प्रणाली कैसी होगी; उसमें भौतिक सभ्यता कितनी कम, और आध्यात्मिक सभ्यता कितनी

अधिक, होगी; भारतवर्ष का उसमें कैसा उत्तरदायित्वपूर्ण स्थान होगा; इन महान प्रश्नो पर फिर कभी विचार होगा। यह स्मरण रहे कि मनुष्यों की कई पीढ़ियाँ निरन्तर उसका उद्योग करें, कवि उसके सम्बन्ध में काव्य रचना करें, गवैये उसका गान करें, लेखक उसके लिये लेख लिखे, और हाँ, स्वप्न देखने वाले उसका स्वप्न भी देखे। परमात्मा की कृपा से, मनुष्यों के संगठन सम्बन्धी इस उच्च अभिलाषा की पूर्ति अवश्य होगी। जो आज विचार है, कल कार्य में परिणत हो जायगा। जो अब सूक्ष्म है, भविष्य मे स्थूल रूप धारण कर सब को दर्शन देगा, और सब का हित साधन करेगा।"

ऊपर की पक्तियों में सार्वभौम साम्राज्य के सम्बन्ध में कुछ ब्यौरेवार विचार करने की बात कही गयी थी। ध्यान रखने पर भी जब हमें उसके लिए समय मिलता दिखायी न दिया तो हमने दूसरे मित्रों से यह काम कराना चाहा। पर उन्हे भी, जैसी चाहिए थी, सुविधा न हुई। हमें समय समय पर इस काम की याद आती रही। सन् १९४० में 'साम्राज्य, और उनका पतन' पुस्तक को छपाने के लिए सशोधित करते समय तो यह काम विशेष रूप से सामने आया, लेकिन उस समय भी न हो पाया। इस बीच, ससार के राजनैतिक वातावरण के एक गहरे परिवर्तन ने हमारा ध्यान अपनी तरफ खीच लिया।

समार के साम्राज्य-सूत्रधारों ने अपनी स्वार्थपरता, हिन्सा और जबरदस्ती का जहा तहा ऐसा नगा नाच दिखाया कि लोगों में 'साम्राज्य' शब्द के प्रति ही घृणा बढ़ने लगी, यहाँ तक कि साम्राज्यों के कुछ कर्ताधर्ता तक अपने आपको 'साम्राज्यवादी' कहने में सकोच करने लगे, वे अपने साम्राज्यों को 'स्वतंत्र राष्ट्रों का समूह', 'राष्ट्र-मंडल' या 'कामनवेल्थ' आदि कहने लगे। ऐसी हालत में, अपना भाव प्रकट करने के लिए हमें अपनी पुस्तक का नाम 'सार्वभौम साम्राज्य' रखना

ठीक न जचा। हमने 'विश्व-राज्य' नाम का विचार किया। पर कुछ मित्रों ने कहा कि विश्व-राज्य से भी शायद कुछ पाठकों के मन में ऐसी ही धारणा हो, जैसी सार्वभौम साम्राज्य से, यानी कोई एक बड़ा और मज़बूत राज्य अपनी ताक़त के ज़ोर से दूसरे सब राज्यों को अपने अधीन करले, और इस तरह संसार भर मे अपनी हकूमत चलावे। यह ख्याल मन में आने पर हमने पुस्तक का नाम 'विश्व-राज्य' रखना भी ठीक न समझा। असल में ससार भर में जिस एक राज्य के होने की हम कल्पना करते हैं, उसकी शासनपद्धति सघ यानी फेडरेशन के रूप में ही होगी। उसमें दुनिया के सब देश, सब राज्य बराबरी के नाते से मिलेंगे। उसकी तरफ प्रगति हो रही है, चाहे उसकी रफ़्तार कितनी ही धीमी हो, और चाहे उसमें कितनी ही बाधाएँ क्यों न हो। इस बात को साफ करने के लिए इस पुस्तक का नाम 'विश्व-संघ की ओर' रखना ही ठीक समझा गया। पुस्तक के अन्दर कहीं कही 'विश्व-राज्य' शब्द का भी उपयोग किया गया है। दोनों शब्दों से, हमारा मतलब एक ही है।

समय समय पर इस विषय का जो साहित्य हमारे सामने आया, उसे हमने पढ़ा, और उसकी ज़रूरी बाते नोट कीं। इस तरह की सामग्री में हमें प्रसिद्ध विद्वान लाला हरदयाल जी की 'हिन्ट्स फ़ार सेल्फ कल्चर' नाम की अंगरेज़ी पुस्तक के आखिरी तीन अध्याय बहुत अच्छे और उपयोगी मालूम हुए। इन अध्यायों के आवश्यक अंश नोट कर लिये गये। इस सब सामग्री का उपयोग करके पिछले वर्ष (१६४३) एक छोटी सी पुस्तक तैयार करने का निश्चय किया गया।

इसी समय हमारे सौभाग्य से हमारे चिर परिचित, हमारे साहित्य-कार्य को सराहने वाले और हमारी दो पुस्तकों—'अपराध चिकित्सा,' और 'साम्राज्य और उनका पतन' के भूमिका-लेखक श्रद्धेय श्री पडित सुन्दरलाल जी जेल से छूटे। आप जेल में सख्त बीमार

रहे थे और बीमारी ही के कारण, उसी हालत में आप छोड़े गये थे। धीरे धीरे आपकी सेहत कुछ सुधरी, तब आप से इस पुस्तक की चर्चा की गयी, और इस विषय में विचार-विनिमय किया जाने लगा। यह काम बहुत डरते डरते किया गया; डर इस बात का था कि पंडित जी का स्वास्थ्य अभी काफ़ी सुधरा नहीं था, और अंदेशा था कि कहीं दिमागी काम का कुछ खराब असर न पड़े। लेकिन पंडित जी को इस विषय से बहुत प्रेम था। जहाँ तक आपका शरीर सहन कर सका, आपने इस पुस्तक के लिए समय दिया। ऐसा करने मे आपने एक हद तक अपने स्वास्थ्य की जोखम भी उठाई। आपके प्रेमपूर्ण सहयोग और सच्ची लगन का ही यह फल है कि यह पुस्तक इस रूप में तैयार हो सकी।

जिस विषय पर हमने इक्कीस वर्ष पहले कुछ लिखने का विचार किया था, उस पर अब हिन्दी संसार के एक सुप्रसिद्ध महानुभाव की बहुमूल्य सहायता से, प्रकाश डालने का साहस किया है। अपनी कमी और त्रुटियों के लिये हम क्षमा चाहते हैं। हमारा नम्र निवेदन है कि मानव हित की दृष्टि से यह विषय इतना महत्वपूर्ण और उपयोगी है कि इस पर भारतवर्ष की ही नहीं, ससार की सभी भाषाओं में बहुत सा साहित्य तैयार किये जाने की ज़रूरत है। हमें आशा है, दूसरे योग्य, विद्वान और सहृदय लेखक इस ओर ध्यान देगे और सत् सहित्य के प्रेमी उन्हे पूरा पूरा प्रोत्साहन देंगे।

विनीत

विषय सूची

पहला खंड ; अब तक की यात्रा

दूसरा खंड ; रास्ते की बाधाएँ

तीसरा खंड; कहाँ पहुँचना है ?

पहला खंड

अब तक की यात्रा

पहला अध्याय

विषय प्रवेश

मेरा हृदय भूत काल में है, शरीर वर्तमान काल में है, और मेरी आत्मा भविष्य में है। —एक दार्शनिक

विश्व राज्य, विश्व-संघ, विश्व-बंधुत्व और विश्व-शान्ति की बातें लोगो को निरी कपोल कल्पना मालूम होती हैं। इस पीढ़ी के आदमी एक नहीं, दो महायुद्धों को देख चुके है। आदमी की बुद्धि, शक्ति, धन और समय सब का उपयोग हिंसक और नाशकारी कामों में हो रहा है। हम अपने भाई बन्धु और मित्रो की मौत की खबरें सुन रहे हैं, और अपने भोजन वस्त्र तक के अभाव का अनुभव कर रहे हैं। हजारो साल के घोर परिश्रम से बसाये हुए सुन्दर नगर, बाग, पुल और घाट बात की बात मे श्मशान बन रहे हैं। दिन भर की मुसीबतें झेल कर जब हम रात को आराम करने जाते हैं, तब भी मन को शान्ति नही मिलती। कौन जाने, सबेरे का समाचारपत्र क्या खबर लाएगा; कल क्या होने वाला है, और अगर युद्ध बन्द ही हो गया, तो भी कौन आनन्द की वर्षा होने वाली है! यह महायुद्ध इतने बड़े पैमाने पर हुआ है, तो इस की परछांई भी लम्बी ही होने वाली

है; न जाने कितने वर्ष तक हमारा जीवन इसके असर में रहे। और, कही ऐसा न हो कि फिर अगले महायुद्ध की तैयारी होने लगे, फिर यही विध्वंस चक्र, फिर यही आसुरी लीला! इस तरह लोगों को न दिन चैन, न रात चैन। बीते कल के दुख को हम भूले नही, आज का दुख हमारे सामने है, और आने वाला कल भी अपनी नई नई चिन्ताओ का दृश्य उपस्थित कर रहा है। ऐसी हालत में हमारा विश्व-संघ कोरा आदर्शवाद समझा जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु अगले पृष्ठो को पढ़ने से यह साफ हो जायगा कि हम इसे कोरी कल्पना या आदर्शवाद नहीं समझते। हम विश्व-संघ को, यानी संसार के सब राज्यो के आपस में मिलजुल कर शासन करने को, मानव समाज की अब तक की प्रगति का स्वाभाविक, तर्कसंगत और अनिवार्य परिणाम मानते है। परन्तु थोडी देर के लिये मान लो कि यह केवल एक कल्पना या स्वप्न ही है, तो भी क्या हर्ज है! क्या कल्पनाओ और स्वप्नो का मानव जीवन मे कोई मूल्य नहीं है?

इमर्सन ने कहा है कि 'कल्पना शक्ति के बिना मानव समाज नष्ट हो जाता है।' दुनिया का हर बड़ा काम पहले कल्पना के रूप मे ही जन्म लेता है। आज दिन समुद्र पर भारी-भारी जहाज तैरते हुए जाते है, इस की पहले कल्पना ही तो हुई थी। भाफ के जोर से चलने वाली रेल और मशीनें हजारो लाखो घोड़ो की ताकत से काम करती हैं, यह बात एक दिन केवल कल्पना ही ही तो थी। आदमी हवाई जहाज मे बैठ कर पक्षियों की तरह उड रहा है, इसकी भी तो पहले कल्पना ही की गयी थी। रेगिस्तान में पानी की नहर बहेगी, गरम जलवायु वाले स्थानो मे सर्द मुल्कों की चीजें पैदा होगी, आदमी हजारो मील दूर की चीज़ देखने का यंत्र बनायेगा, ये सब बातें पहले पहल

कल्पना के संसार मे ही थी। हज़ारो मील का समाचार बेतार के तार से हमे मिनटो मे मिल जायगा; नदी, पहाड़, और समुद्रो से परे दूर देशो के आदमियो की आपस मे इस तरह बातचीत हो सकेगी, जैसे दो आमने सामने खड़े हुए आदमियो की होती है। जिस आदमी को हमारी आंखे देख नही पातीं, उसका चित्र हमारे सामने आ जायगा, किसी भी प्राणी के शरीर के भीतर के अगो की हालत हमे मालूम हो जायगी और हम उसी बिना पर उसकी चिकित्सा कर सकेगे— ये सभी बाते किसी न किसी समय कल्पना रूप मे रह चुकी है। कहां तक गिनावें, पाठक तनिक विचार करे, तो इसी तरह के जितने चाहे, उतने उदाहरण ले सकते है। आज दिन विश्व मे जितनी मानवी क्रियाएँ हो रही है, वे कभी न होने पाती अगर कुछ लोग अपने मन मे उनका चित्र न बनाते। उनकी कल्पनाओ ने ही संसार में कुछ का कुछ कर डाला है। जिन महानुभावो ने पहले पहल किसी महान विषय की कल्पना की, उन्हे पागल और शेखचिल्ली आदि की उपाधि मिली, परन्तु इतिहास गवाह है कि मानव समाज उन पागलो या शेखचिल्लियो का कितना ऋणी है।

यह ठीक है कि कुछ कल्पनाओं या विचारो के अमल मे आने के लिये बहुत समय लगता है। किसी को कुछ दिन या महीने लगते है तो किसी को सैकड़ो या हज़ारो साल लग जाते हैं। परन्तु इससे क्या! मानव समाज की आयु करोड़ो वर्ष की है और यह समाज अभी अनिश्चित काल तक रहने वाला है। इस लम्बे समय मे हज़ार दो हज़ार वर्ष भी किस गिनती मे है। निदान, कल्पना या विचार का बड़ा महत्व है, साधारण मनुष्य इसे जल्दी नहीं समझ पाता। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—

"अगर आप पहाड़ की गुफा में जाकर रहने लगेंगे तो भी आपकी विचार-धारा पर्वत के परकोटे को भेदकर बाहर निकल आवेगी। सम्भव है, वह धारा सैकड़ो वर्ष तक कोई आश्रय न पाकर सूक्ष्म और अदृष्टरूप से संसार मे घूमती रहे, लेकिन एक न एक दिन वह किसी मस्तिष्क का आश्रय लेगी ही। तब उस विचार-धारा के अनुसार काम शुरू होगा। निष्कपटता, पवित्र विचार और शुद्ध भावना इन मे असीम बल होता है।"

इसलिये यदि विश्व-संघ की चर्चा और इस विषय के आन्दोलन को कुछ सज्जन, जो अपने आपको व्यवहार-कुशल समझते हैं, कल्पना या स्वप्न मानते हैं, और 'अव्यावहारिक' कहते हैं तो इससे विश्व-संघ मे श्रद्धा रखने वालो और उसके विनम्र सेवकों को न तो अप्रसन्न होने की जरूरत है, और न निराश होने की। किसी भी नयी चीज़ के लिए आन्दोलन करने वालो को ऐसी बातो के लिए सदा तैयार रहना चाहिये। वे यह जानते हैं कि "इस तरह के सभी आन्दोलनो को जिनसे हमारा सम्बन्ध है, अपने लक्ष्य तक पहुँचने से पहले कई हालतों मे से होकर गुज़रना पड़ता है। पहली हालत उपहास की है। उसके बाद आन्दोलन की गति के साथ साथ निन्दा की हालत आती है। इसके बाद प्राय: किसी अंश मे स्वीकृति और उद्देश्यो के प्रति गलतफहमी की हालत आती है। इसके साथ साथ चेतावनियाँ दी जाती हैं कि अंधेरे मे लम्बी लम्बी कुदान न मारी जायँ। आखिरी हालत आन्दोलन के अधिकांश रूप मे स्वीकृति की है। और, तब आश्चर्य प्रकट किया जाता है कि यह आन्दोलन पहले क्यो नहीं स्वीकार किया गया। ये भिन्न भिन्न स्थितियाँ एक दूसरे के साथ मिली हुई, चलती हैं, पर पहली और आखिरी हालत में बहुत

अन्तर होता है ।"*

इससे जाहिर है कि कल्पनाओ या स्वप्नो को फजूल समझ कर उनकी अवहेलना नही करनी चाहिये, उनमे बहुत शक्ति होती है; उनका संसार के निर्माण मे बड़ा भाग रहता है। हाँ, यह जरूरी है कि कल्पना करने वाले, कल्पना से सहानुभूति रखने वाले और उसके कार्य-रूप मे परिणत होने की इच्छा रखने वाले केवल कल्पना करने मे ही अपने कर्तव्य की इतिश्री न समझ बैठें, बल्कि उसकी साधना मे तन मन से लग जायँ, विघ्न बाधाओ से न घबराते हुये और हमेशा आशावादी रहते हुए उसे सिद्ध करने मे लगे रहे। हमारी कल्पना और इच्छा के साथ दृढ़ संकल्प और पूर्ण विश्वास होना चाहिये। हमे अपने उद्देश्य सिद्धि की ऐसी धुन होनी चाहिए कि दुनिया हमे उसके लिए पागल कह सके। ऐसा होने पर हमारी कल्पना अवश्य ही स्थूल रूप में आकर रहेगी, चाहे इस समय किसी को इसकी आशा हो या न हो।

जब कि कल्पनाओ और विचारो का इतना महत्व है, तो क्यो न हम उन्हे लिख कर रखे। जो बात हम चाहते हैं, जिस काम के पूरा होने के हम इच्छुक हैं, उसका साफ-साफ रूप हमारे मन मे हुए बिना काम न चलेगा, और साफ-साफ रूप देने के लिए उसका लिखा जाना बहुत उपयोगी और ज़रूरी है। लेख बद्ध होने पर दूसरों को उस पर ब्यौरेवार विचार करने का मौका मिलेगा, वे उस मे अपनी योग्यतानुसार आवश्यक संशोधन कर सकेंगे। साथ ही पाठको के सामने कोई धुंधला चित्र न होकर एक सुनिश्चित योजना होगी, वे उसे हर समय मनन कर सकेंगे, और उसका दूसरो मे प्रचार

* श्री० जार्ज यूल के एक भाषण से।

कर सकेंगे। जो बात आज मुट्ठी भर लोगों के ध्यान में है, वह अधिकाधिक जनता के सामने आयेगी, पहले सैकड़ों या हजारों और पीछे लाखों और करोड़ों आदमियों की सहानुभूति प्राप्त करेगी, उनके सहयोग से उसका आन्दोलन अधिकाधिक व्यापक और विस्तृत होगा, और अन्त में उसका लक्ष्य पूरा होगा।

यहाँ तक हमने इस बात पर विचार किया है कि यदि विश्व-संघ केवल कल्पना का ही विषय हो तो भी उसका विवेचन और मनन करने की बहुत ज़रूरत है। परन्तु वास्तव में विश्व-संघ तर्कसिद्ध और मानवसमाज की प्रगति का अनिवार्य परिणाम है। मनुष्य शुरू से ही समाज-प्रेमी है, उसे दूसरों के साथ मिलकर रहने की आदत है। वह परिवार में रहा, उसने कबीले और जातियाँ बनायी, गाँव और शहर बसाये। उस ज़माने की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए उसने नगर-राज्यों से काम लिया। वह और आगे बढ़ा, राष्ट्र-राज्यों तक पहुँचा। उससे आगे कई-कई राष्ट्रों को मिलाकर उसने आखिर संघ-राज्यों और साम्राज्यों का प्रयोग किया। इस समय मानव संगठन के ये सब नमूने मौजूद है। पर मनुष्य अपनी हालत से संतुष्ट नहीं है। वह अनुभवकरता है कि उसकी यह लम्बी यात्रा अभी कुछ बाकी है, उसका गतव्य स्थान, उसकी मञ्जिलेमक़सूद दूर है, और उस तक पहुँचे बिना अभीष्ट सिद्ध न होगा। उसका लक्ष्य विश्व-संघ है। इन बातों पर आगे के अध्यायों में खुलासा विचार होगा।

मानव समाज का आगे का संगठन विश्व-संघ के रूप में होना चाहिए। और, हमारा निश्चित मत और दृढ़ विश्वास है कि मानव समाज अपने विचार और व्यवहार में उसी

ओर बढ़ता रहा है। उसकी चाल चाहे कितनी भी धीमी रही हो, वह उत्तरोत्तर आगे ही बढ़ता रहा है। अवश्य ही उसका मार्ग ज्यामिति की सीधी रेखा मे नही है। उसकी गति को साँप की चाल से उपमा दी जा सकती है, जो दायीं-बायी ओर बल खाता हुआ चलता है, और कभी-कभी किसी बाधा के कारण रुकता सा भी नज़र आता है, लेकिन फिर भी अपने लक्ष्य की ओर चलता रहता है।

पूरे मानव समाज की गति का विचार करते हुए हमे चाहिए कि हम विशाल दृष्टिकोण से काम लें। देश काल की छोटी छोटी इकाइयो से काम नही चलेगा। एक साल या एक सदी मानव समाज की आयु मे ऐसे ही है जैसे किसी आदमी के जीवन में एक दिन या एक महीना। किसी बालक की एक दिन या एक महीने की रिपोर्ट देख कर उसके भविष्य का हिसाब लगाना कभी-कभी बहुत ही भ्रममूलक हो सकता है। सम्भव है, उस दिन या उस महीने बालक कुछ अस्वस्थ रहा हो। अथवा, यह भी हो सकता है कि जिस बालक का हम विचार कर रहे हैं, वह नमूने का काम न दे सकता हो, यानी वह अपने वर्ग का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व न करता हो। इसलिए चाहे जिस बालक की एक या अधिक दिनो की दशा देख कर यह कह बैठना असंगत है कि बाल-समाज अपनी आयु बढ़ने के साथ-साथ कमज़ोर होता जाता है। इसी तरह मानव समाज की कुछ पीढ़ियो के इतिहास के आधार पर यह अनुमान करना भी ठीक नही कि वह प्रगति नहीं कर रहा है। यदि हम व्यापक दृष्टि से सिंहावलोकन करें तो हमे मालूम होजायगा कि मानव समाज निश्चित रूप से आगे बढ़ता रहा है।

इस पुस्तक के पहले खंड में इसी विषय पर विचार होगा।

दूसरे खंड में उन बाधाओ के बारे मे लिखा जायगा जो उस की भावी प्रगति में इस समय मौजूद हैं, और जिनको जान लेना, और हटाने की कोशिश करना, हमारा कर्तव्य है। अन्त मे तीसरे खड मे यह विचार किया जायगा कि हमारा लक्ष्य विश्व-संघ क्या है, उसकी स्थापना का आधार क्या होगा, उसकी संस्कृति, अर्थ-नीति, शासन-नीति आदि कैसी होगी, उस मे शान्ति का उपभोग कैसे किया जायगा, पाशविक हिन्सा का परित्याग कर, किस तरह मनुष्य मानवोचित अहिन्सा का व्यवहार करेगा। ऐसे विश्व-संघ का निर्माण पहले हम अपने हृदय और अन्तःकरण मे ही करें। इसके लिए कुछ चुने हुए राजनीतिज्ञो या कूटनीतिज्ञो की जरूरत न होगी, यह कार्य मुझे, आप को, हर एक व्यक्ति को अपनी-अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार करना है, और अपना उदाहरण अपने उत्तराधिकारियो के लिए छोड़ जाना है। हमारे उत्तराधिकारी इस कार्य को कुछ और आगे बढ़ायेंगे, इस तरह मानव समाज आगे-आगे बढ़ता रहेगा, और विश्व-संघ की मंज़िलें तय होती जायेंगी।

दूसरा अध्याय

सामाजिक भावना

यह मेरा है, और यह पराया है, ऐसा विचार क्षुद्र हृदय वाले करते हैं। उदार लोगों के लिए तो सारी मानव जाति ही उनका कुटुम्ब है।

—*महाभारत*

आदमी सामाजिक प्राणी है, उसमे दूसरों के साथ मिल जुल कर रहने की भावना होती है। हम ज़रा यह विचार करें कि वह अकेला ही क्यो नहीं रहता। उसे सामाजिक जीवन क्यो पसन्द है ? और, उसकी सामाजिक भावना किस तरह बढ़ती रहती है।

दूसरे प्राणियो की तरह आदमी में भी दो इच्छाएँ प्रबल होती हैं—(१) अपने आप को जीवित रखना, और इसलिए अपना भरण पोषण करना, और (२) अपने परिवार या नसल को बढ़ाना और उनकी हिफाज़त करना। इन कामो के लिए ही मनुष्य को दूसरों के साथ मिलजुल कर समाज में रहने की ज़रूरत पडती है। मनुष्य को खाने पहनने के लिए भोजन वस्त्र चाहिए; सर्दी, गरमी और बारिश से बचने के लिए मकान चाहिए। कोई आदमी इन ज़रूरतो की पूर्ति अकेले रहकर नही कर सकता। मिसाल के तौर पर आदमी को भोजन के लिए अनाज चाहिए इसके वास्ते खेती करने की ज़रूरत होती है। परन्तु खेती के लिए हल आदि औज़ार चाहिए। अकेला आदमी स्वयं अपने लिए औज़ार नहीं बना सकता। उसे लोहे की ज़रूरत होगी। लोहा खान से निकालना पड़ेगा, फिर उसे गलाकर साफ करना होगा, तब उससे औज़ार बनेंगे। अकेले आदमी से यह सब काम नहीं हो सकता, और यदि करे भी तो इतने समय तक उसका निर्वाह कैसे हो। फिर औज़ार बनने से ही तो मतलब सिद्ध न होगा। खेती करने का काम तो बाक़ी ही रहेगा, जिस में दूसरे आदमियो की मदद की ज़रूरत है। खेती करने से भी भोजन एक दम नही मिल जायगा। फसल तैयार होने मे कुछ समय लगेगा, फिर उसे काटना होगा, इसके बाद भी उसे खाने लायक़ बनाने मे कई मंज़िलें तय करनी होंगी। हर मंज़िल पूरी करने

मे समय, और दूसरो के सहयोग की जरूरत होती है। इस तरह यदि कोई आदमी अपने भोजन सम्बन्धी सब कामो को स्वयं करना चाहे तो उसे सैकडो काम करने पड़ें, तब कहीं भोजन तैयार हो। और, उस समय तक निराहार रहने से उस बेचारे के प्राण ही निकल जायँ! जैसी भोजन की बात है, ऐसी ही कपड़े, मकान आदि की है। किसी भी आदमी के लिए अकेले ही अपनी सब जरूरतो को पूरा करना कठिन ही नही. असम्भव है। उसे पद पद पर दूसरो की मदद की जरूरत होती है। इसके अलावा जॅगली जानवरो से अपनी और अपने बाल बच्चो की रक्षा करने के लिए भो आदमी को दूसरो का सहयोग चाहिए। इस तरह आदमी के लिये सामाजिक जीवन अनिवार्य है, लाजमी है।

समाज मे भी आदमी पूरी तरह स्वतन्त्र नहीं रह सकता। उसे दूसरो की सुविधा, असुविधा का ध्यान रखना होता है। उसकी स्वतन्त्रता की एक सीमा या मर्यादा रहती है। उसे कुछ नियमो का पालन करना होता है। परिवार मे इन नियमों का रूप स्पष्ट नहीं होता, और वे ठीक तरह से तय किये हुए नहीं रहते, फिर भी नियम रहते अवश्य हैं। जब मनुष्य का सम्बन्ध अपने परिवार के बाहर के आदमियों से होता है, जब उसका समाज बढ जाता है तो नियम अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित हो जाते हैं। नियमों का मतलब है, आदमी की स्वच्छन्दता या स्वतंत्रता का नियंत्रण उस पर रोक थाम, अपने निजी स्वार्थ या लोभ पर अंकुश रखना दूसरो के हितों या सुविधाओं का ध्यान रखना। इस तरह का नियम-पालन हमारे लिये हितकर ही होता है, मनुष्य में एक-से-एक अधिक बलवान होता है और यदि मैं स्वच्छन्दता पूर्वक दूसरो की चीजो पर जबरदस्ती अधिकार करके अपना स्वार्थ

सिद्ध करने लगं तो जो मुझसे अधिक बलवान होगा, वह मेरा सर्वस्व छीन सकता है। इसकी नौवत न आने देने के लिए यह ज़रूरी है कि सब लोग अपनी अपनी स्वच्छन्दता पर कुछ रोक रखना मञ्जूर करें, हर आदमी दूसरो की सुविधा का ध्यान रखे, कोई किसी को कष्ट न दे, किसी के साथ अन्याय न करे। आदमी की यह भी इच्छा होती है कि दूसरो से सहानुभूति रखे और उनकी सहायता करे। ऐसा करने से उसे भी दूसरों की सहानुभूति और सहायता पाने की आशा होती है। इस तरह सामाजिक भावना और निजी स्वार्थ दोनो मे गहरा सम्बन्ध है।

परन्तु इन दोनों मे समय समय पर संघर्ष भी होता रहता है। ज्यों ज्यों आदमी मे समझ आती जाती है, त्यो त्यों वह अपने स्वार्थ को सामाजिक भावना के अनुसार नियंत्रित करता जाता है, और जहाँ तक बन आवे, दोनो का समन्वय करने की कोशिश करता है। मानव समाज का इतिहास एक तरह से इसी कोशिश की लम्बी कहानी है। मनुष्य ने कई मञ्ज़िलें तय की है, उसकी यात्रा अभी जारी है; स्वार्थ और सामाजिकता का संघर्ष अभी मिट नही गया है; कभी कभी तो इस संघर्ष का का वड़ा विकराल रूप सामने आ जाता है। फिर भी विवेकशील मनुष्य यह अनुभव करते है कि जिस हद तक यह संघर्ष कम होगा, और समन्वय बढ़ेगा उसी हद तक मनुष्य की उन्नति मानी जायगी, शुरू मे मनुष्य जाति हज़ारो बल्कि लाखो साल ऐसे बिता चुकी है, जब हर परिवार केवल अपने ही आदमियो का हित देखता था, और दूसरे परिवारो से लड़ता झगड़ता रहता था। उसके बाद थोड़े थोड़े परिवारो ने मिलकर रहना सीखा। धीरे धीरे ज़्यादह बड़े गिरोह या फ़िर्के बने। इनमें एक गिरोह के सब लोगों ने आपस में प्रेम का व्यवहार करना

सीखा, पर दूसरे समूह के आदमियों को गैर और पराया समझा और उनसे उपेक्षा या शत्रुता का व्यवहार किया। कभी कभी दो कबीले इस लिये मिले, क्योकि उन्हे किसी तीसरे के हमले का डर था। इसी तरह कालान्तर में इन तीनो कबीलों ने बाक़ी के दूसरे कबीलो से अपनी रक्षा की।

आत्मरक्षा की भावना छोटे कबीलो को मिल जुल कर रहने, आपस मे मित्रता का व्यवहार करने और बड़े बड़े समूहो का निर्माण करने के लिये मजबूर करती है। एक खेड़े या गांव का दूसरे खेड़े या गांव से सम्बन्ध हो जाता है, इन दोनो का तीसरे से, और फिर इन तीनों का किसी चौथे से। इस तरह ये कबीले अधिकाधिक बड़े होते जाते हैं। हर एक कबीले वालो की, पास के दूसरे कबीले वालो से पानी के चश्मो, चरागाहो वगैरह के लिये लड़ाइयां होने लगती हैं। इन लड़ाइयों के लिये हर कबीले के अन्दर एक तरह के शासन और एक सरदार की ज़रूरत होती है। इसी से राजा और राज्य की बुनियादें पड़ती हैं। राजा का गांव धीरे धीरे कस्बा या नगर हो जाता है। हर राज्य के अन्दर वहां के नागरिको के ख़ास अधिकार माने जाते है। हर राज्य के नागरिक अपने राज्य के अन्दर रहने वालो को अपने समझते हैं, और दूसरे राज्य में रहने वालों को गैर और जँगली समझकर अकसर उनसे शत्रुता या दुशमनी करते हैं।

यद्यपि समय समय पर होने वाले इस तरह के संघर्षों और लड़ाई झगड़ों से स्पष्ट है कि मनुष्यों में संकीर्णता बनी हुई है, फिर भी आम तौर पर मनुष्य के अपने गिरोह या समाज का क्षेत्र धीरे धीरे बढ़ता ही रहा है। शुरू में उसके प्रेम और सहानुभति के अधिकारी इनेगिने लोग होते थे। बाद मे वे बढ़ते गये।

प्राय:मनुष्य ने संसार को दो भागो मे बाँटा; एक भाग को उसने अपना समझा, और दूसरे को पराया या गैर। पहले भाग से उसने प्यार किया, उसके लिए कष्ट उठाया, ज़रूरत पड़ने पर वह उसके लिए अपनी जान न्यौछावर करने को तैयार रहा। मनुष्य के अपने संसार का यह भाग, धीरे धीरे बढ़ता रहने पर भी, अभी तक बाक़ी ससार की तुलना मे छोटा ही रहा। इस बड़े भाग को, जिसे उसने गैर समझा, कष्ट देने, छल कपट या बल से इसका माल हड़पने मे मनुष्य को अब तक बहुत कम संकोच रहा है। फिर भी दूरदर्शी विचारवान लोगों को यह विश्वास है कि मनुष्य सदा संसार को इस तरह के दो भागो मे—अपने और पराये में—नहीं बाँटता रहेगा। पिछले युगों मे उसका अपना समझा जाने वाला संसार धीरे धीरे बढ़ता रहा है, और यह क्रम या सिलसिला अब भी जारी है। एक दिन ऐसा आएगा कि उसके इस अपने संसार की सीमा सम्पूर्ण संसार तक पहुँच जायगी, फिर पराया या गैर माना जाने वाला कोई भाग न रहेगा।

मनुष्य ने इस समय जो सामाजिक व्यवस्था मान रखी है, वह उसके अपने क्षेत्र के लिये अलग है, और दूसरे यानी गैरों के लिए अलग। अपने परिवार, समूह या कबीले, अपने ग्राम या नगर, अपने राष्ट्र या राज्य के लिए मनुष्य इस तरह के नियमो को स्वीकार करता है—सच बोलो, किसी की चोरी मत करो; किसी को मत सताओ, सबके हमारी सी जान है; सब से प्रेम और सहानुभूति रखो; जहाँ तक बन पड़े सब की सेवा और सहायता करो, ज़रूरत हो तो अपनी जान पर खेल कर भी इस कर्तव्य का पालन करो। कितने सुन्दर हैं ये नियम! अफ़सोस यही है कि ये बहुत छोटे क्षेत्र मे बर्ते जाते हैं। इस क्षेत्र से बाहर संसार

के जिस भाग को हम पराया या गैर समझ रहे हैं, उसके लिये हमारे नियम सिद्धान्त में तो नही, पर व्यवहार में इस से बिल्कुल भिन्न होते है। उन्हे लिखकर निश्चित या स्पष्ट रूप बहुत कम दिया जाता है; प्राय अपनी बदनामी के डर से कोई वैसा करने का साहस नहीं करता। यदि उन्हे मूर्त या साकार रूप दिया जाय तो कुछ इस तरह होगा—जिस चीज़ की हमे ज़रूरत है, उसे प्राप्त करना हमारा कर्तव्य है, जैसे भी बने छीन झपट कर या लूट मार करके उसे ले लेना चाहिए। दूसरों को तकलीफ पहुँचाने से यहाँ तक कि ज़रूरत होने पर उनकी जान माल ले लेने से भी हमें संकोच नहीं करना चाहिए। गैरों से छल कपट करने मे कोई दोष नहीं है, यह तो कूटनीति या होशियारी ही है। हमें अपने, और अपने बाल बच्चो, परिवार, नगर या राज्य के फायदे के लिये दूसरों से हिन्सा और घृणा के भाव रखना ज़रूरी है, इत्यादि।

समय समय पर साधु सतो, महात्माओ आदि ने यह उपदेश दिया है कि यह अपने पराये का भेद करना मनुष्य की अल्पज्ञता या मूर्खता है। यह पशुपन का व्यवहार है। मनुष्य को चाहिए कि इस पाशविक व्यवहार को छोड़ कर दैवी गुणो को—प्रेम, अहिन्सा, सेवा, सहयोग आदि को—अपने अन्दर धारण करे। उन्होने यह भी प्रचार किया कि समस्त सृष्टि का रचयिता एक परमपिता परमात्मा है; चाहे उसे कोई किसी भी नाम से पुकारे। सब उसी की संतान हैं, इसलिए सब मनुष्य आपस मे भाई-भाई हैं। जो आदमी सब की सेवा और मदद करेगा, उससे परमात्मा प्रसन्न होगा, वह स्वर्ग मे जायगा और जो कोई भेद-भाव या हिन्सा का आचरण करेगा वह नर्क मे भेजा जायगा, जहाँ बहुत कष्ट मिलेंगे। इन साधु-स्वभाव महात्माओं ने जनता

की विचार-धारा का धरातल ऊंचा उठाने में विलक्षण कार्य किया है। फिर भी साधारण मनुष्यो के लिए अभीष्ट स्थान पर पहुँचना अभी भी कठिन मालूम हो रहा है। वड़े दुर्भाग्य की बात तो यह है कि लोगो ने इन धर्माचार्यों का भी बंटवारा कर लिया है। एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के अनुयाइयो से लड़ते झगड़ते हैं। सब ने अपना अलग अलग ईश्वर बना रखा है। हर एक के ईश्वर के अलग-अलग नाम है, और वह अलग-अलग तरह के पूजा पाठ से प्रसन्न होता हैं। हर समूह स्वर्ग को अपने लिए सुरक्षित समझता है। उसकी समझ से दूसरे सब धर्मवालों को केवल नरक मे ही जगह मिलेगी।

इसी तरह समाजनीति मे हम अपने और पराये के भेद को भुला नहीं सकें हैं। पहले. परिवारों का सगठन होने पर एक परिवार दूसरे परिवार से लड़ता भिड़ता था; नगर-राज्यों का निर्माण हो जाने पर एक नगर-राज्य की दूसरे नगर-राज्य से लड़ाई होती थी; राष्ट्र-राज्य कायम हो जाने पर अलग-अलग राष्ट्र-राज्यो का एक दूसरे से संघर्ष होता है। सामाजिक भावना और अधिक विकसित होने पर संघ-राज्यो का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु स्वार्थ भाव ने अब भी पीछा न छोड़ा। राष्ट्रो और संघ-राज्यों ने दूसरे प्रदेशो पर राजनैतिक और आर्थिक अधिकार जमा कर आज कल के नये साम्राज्यो की स्थापना की। इन साम्राज्यों में पहले तो सब भागो के स्वाधीन न होने के कारण स्वाधीन शासक राष्ट्रो और पराधीन शासित देशो में संघर्ष चलता रहता है; साम्राज्य के अन्दर ही कलह रहता है। दूसरे, यदि साम्राज्य के सब भाग स्वाधीन हो, यानी साम्राज्य 'कामन-वेल्थ' का रूप धारण कर ले तो भी उसके नागरिक, उसकी सीमा से बाहर रहने वालों को पराया या गैर समझते हैं।

इसलिये इन साम्राज्यो के युग मे एक साम्राज्य का उसकी सीमा से वाहर के देशो से या दूसरे साम्राज्य से सघर्ष होना लाजमी है।

सारांश यह कि मनुष्य की सामाजिक भावना का साम्राज्य-स्थापना तक वढ़ आना मनुष्य की उन्नति को ज़रूर साबित करता है। पर इससे भी मनुष्य की सुख शान्ति की समस्या हल नही होती, क्योकि इस मे भी अपने और पराये का भेद तो रहता ही है; और यही सब झगड़े और सब दुखो की जड़ है। इसका अन्त करने के लिए हमे याद रखना चाहिए कि हम सब मनुष्य हैं; यह केवल सयोग की बात है कि हम में से किसी का जन्म भारतवर्ष मे हुआ, किसी का जापान मे, और किसी का इङ्गलैंड या जरमनी आदि में। भाषा या रंग का भेद अलग-अलग देशो और आबोहवा से होता है। आपस के सामाजिक व्यवहार में इन भेद-भावो को महत्व न देना चाहिए। हमारे सामाजिक कर्तव्य का आधार यह नियम होना चाहिए कि हमारे सब विचार और कार्य पूरी मानव जाति के सुख और उन्नति को वढ़ाने वाले हो; इसमें परिवार, वंश, जाति या राष्ट्रीयता का कोई पक्षपात न होना चाहिए। हम एक बहुत वड़ी वस्तु—मानव जाति—के नन्हे से अंग हैं। उस बड़े समाज को हमे अपनी दृष्टि से कभी ओझल न होने देना चाहिए।

इसलिए यह ज़रूरी है कि समाज-संगठन बड़े-से-बड़े आधार पर हो—राष्ट्र-निर्माण या संघ-राज्यो पर सतोष न किया जाय। हमें समस्त मानव समाज का एक और केवल एक "विश्व-संघ" बनाना होगा। जाति, रंग, सम्प्रदाय या देश किसी भी आधार पर किसी वर्ग, या समूह को उससे बाहर रखना अनिष्टकारी

होगा, वह हमारे छुटपन, हमारे अन्दर की कमी, हमारी अदूर-दर्शिता, अनुदारता और अयोग्यता का विज्ञापन होगा। आओ! ऐसा आयोजन करें कि काले, गोरे, हिन्दू, मुसलमान, पार्सी, यहूदी और ईसाई, हबशी या पीले सब भाई-भाई की तरह एक विशाल परिवार के सदस्यो की भांति प्रेम के साथ सहयोग और सहानुभूति पूर्वक रह सकें। हमारे इस प्रेम-मिलन से हम धन्य होंगे, और हमारी सब की माता, पृथ्वी माता धन्य होगी।

तीसरा अध्याय

परिवार

मानव जाति की सेवा के लिए परिवार तुम्हारा सब से छोटा कार्य-क्षेत्र है। इस में तुम, तुम्हारी पत्नि और तुम्हारे बच्चे होते हैं। प्राणिशास्त्र की दृष्टि से परिवार समाज की स्वाभाविक इकाई है।

—*हरदयाल*

हम बतलाचुके हैं कि मनुष्यो में धीरे-धीरे सामाजिक भावना का विकास हुआ है। परिवार से शुरू करके आदमी अधिकाधिक बड़े संगठनों की ओर बढ़ता रहा है। इस समय संसार में छोटे-बड़े अनेक संगठन हैं। अब हम मुख्य मुख्य संगठनों में से हरेक के सम्बन्ध मे कुछ विचार करेंगे। पहले हम परिवार को लेते हैं। यह समाज संगठन का सब से पहला और कुदरती स्वरूप है। परिवार में प्रायः एक पुरुष उसकी स्त्री और उसके बच्चे माने जाते हैं। पुरुष और स्त्री का एक

दूसरे के प्रति स्वाभाविक प्रेम और आकर्षण होता है, उसका प्रत्यक्ष फल संतान है।

परिवार के रूप में समाज-संगठन जैसा इस समय है, ऐसा शुरू मे नहीं था। बहुत पुराने ज़माने में स्त्री पुरुषों में विवाह-शादी करके टिकाऊ सम्बन्ध कायम करने का रिवाज नहीं था। बच्चे केवल मा के साथ रहते थे; उस समय परिवार का अर्थ था, मा और उसके बच्चे। पीछे जा कर, पिता भी परिवार का सदस्य होने लगा। कहीं-कहीं दो या अधिक भाई अपने-अपने स्त्री-बच्चो सहित एक साथ रहने लगे। इस दशा में बालक अपने माता पिता के ही साथ नहीं रहते, बल्कि अपने चाचा चाची, ताऊ ताई आदि के साथ रहते हैं। ऐसे परिवार को संयुक्त परिवार कहते हैं। हमारे देश के आदमी इस से अच्छी तरह परिचित है।

परिवार दो तरह के होते हैं—एक, पितृ प्रधान; जिनमें बालक अपने पिता, पितामह (बाबा) और प्रपितामह (परबाबा) आदि के वंश के माने जाते हैं, और हर आदमी की जायदाद का उत्तराधिकारी उसका बड़ा लड़का समझा जाता है। दूसरे, मातृ प्रधान; जिनमें वंश माता, नानी, परनानी आदि के नाम से चलता है; जायदाद पर अधिकार स्त्री का होता है, और उसकी वारिस उसकी बड़ी लड़की होती है। परिवार किसी भी तरह का हो, वह सारे समाज का छोटा सा रूप है। उस से समाज का व्यापक रूप बनता और विकासित होता है। पुरुष स्त्री दोनो एक दूसरे की सहायता और सेवा करते हैं; और दोनो मिलकर अपने बच्चों की ज़रूरतो को पूरा करते हैं।

परिवार आदमी को सामाजिकता की शिक्षा देने वाली एक प्रमुख संस्था है। इसमे पुरुष और स्त्री को यह मौक़ा मिलता है

कि एक दूसरे के लिए त्याग करना और कष्ट उठाना सीखे, हर व्यक्ति दूसरे के स्वभाव, आदर्श और रुचि के साथ अपने स्वभाव, आदर्श और रुचि का मेल बैठावे, सामंजस्य पैदा करे, और वह भी इस तरह कि एक दूसरे के विकास मे सहायक हो, बाधक न हो। प्रेम चाहता है—सेवा, संयम, उदारता और त्याग। जब पुरुष-स्त्री एक दूसरे के लिए इन गुणो का अभ्यास करते है तो वे जीवन के व्यापक क्षेत्र मे भी इन गुणों का परिचय देते हुए समाज के लिए अपनी उपयोगिता बढ़ाते हैं।

संतान होजाने पर पुरुप और स्त्री दोनो उसकी ओर आकर्षित होते है; उसके हित मे दोनो का हित, और उसके सुख मे दोनो का सुख केन्द्रित होजाता है। यहाँ तक कि अनेक वार संतान के हित के लिए वे अपने सुख-दुख को बिल्कुल भूल जातेहै। यदि यह भाव ठीक-ठीक बढ़ता जाय, जैसे हम अपने बच्चे को प्यार करते है, वैसे ही दूसरो के बच्चो को प्यार करें, यदि संसार के स्त्री-पुरुप जाति, धर्म, व्यवसाय, देश, रंग आदि के भेदो को भूलकर मानव संतान की सेवा-सुश्रुषा मे लग जावें तो हमे पारिवारिक जीवन से मिलने वाली शिक्षा का असली और पूरा फल मिल जाय।

इसी तरह सन्तान की दृष्टि से विचार किया जा सकता है। हम अपने माता-पिता की संतान हैं। माता पिता ने हमारे पालन-पोषण के लिए जो कष्ट उठाए है, उसका वर्णन नहीं हो सकता। यदि मा अनेक वार स्वय सर्दी, गरमी, भूख, प्यास आदि सहकर हमारे सुख सुविधा की चिन्ता न करती तो कौन जाने हमारी क्या गति होती; हम इतने बड़े हो भी पाते या नहीं। पिता ने हमारे वास्ते कितना परिश्रम किया है, इसकी मधुर स्मृति हृदय में रखने की चीज़ है। माता, पिता का हम पर कितना

ऋण है, यह तो केवल अनुभव का ही विषय है। बड़ा होने पर जब कोई खुद माता-पिता बनता है, तभी उसे इस बात का कुछ ठीक ठीक ज्ञान हो सकता है। निदान, माता पिता के प्रति हमारा एक महान कर्तव्य है, और यह कर्तव्य एक दरजे तक दूसरे सम्बन्धियों या रिश्तेदारों आदि के प्रति भी है, जिन्हों ने हमारे साथ बहुत स्नेह किया है, और जो हमारे हितैषी रहे हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि सन्तान के जन्म से पहले ही बाप का, देहान्त हो जाता है, या जब बच्चा थोड़े दिन का होता है, मा चल बसती है, या वह ऐसी अस्वस्थ होती है कि बच्चे की सारसंभार तो क्या, उसे अपनी छाती से दूध भी नहीं पिला सकती। ऐसी हालत मे निकट सम्बन्धी बच्चे का भरण पोषण करते हैं। यदि बालक को उनकी सहायता, प्रेम, और संरक्षण न मिले तो उसका जीना और बढ़ना कठिन हो जाय। फिर बड़े होने पर भी हमें उनसे कई तरह की मदद मिलती रहती है। सारांश यह कि हर आदमी खुद अपने साथ और दूसरों के साथ होने वाले व्यवहार से अच्छी तरह समझ सकता है कि आदमी अपने सगे सम्बन्धियों का कितना ऋणी होता है।

हमें चाहिए कि उन सब से प्रेम करें, और उनके अहसान-मन्द रहें; उनके साथ आदर सम्मान, दया और शिष्टाचार का व्यवहार करें। यदि वे ग़रीब हों तो उनको धन से मदद करें, यदि वे कमज़ोर या रोगी हों तो उनकी सेवा सुश्रुषा करें और उनके स्वास्थ्य और इलाज की व्यवस्था करें, हमेशा उन्हें प्रसन्न रखने की कोशिश करें। ऐसा करना हमारा कर्तव्य है, और हमें इसका ईमानदारी से पालन करना चाहिए। इस बात को पूरी तरह ध्यान मे रखना है। साथ ही यह भी याद रखना है कि हमारे इस कर्तव्य की एक मर्यादा या सीमा है, जिसका

हमें उल्लंघन नही करना चाहिए।

हमारा काम अपने मा-वाप से और जहां तक हो सके दूसरे सम्बन्धियो से प्रेम करना और उनकी सेवा करना है। इसका मतलव यह नहीं कि हम उनकी हर आज्ञा को शिरोधार्य करने के लिए मजबूर है। जब हम बड़े होजायँ. हमारी विवेक बुद्धि जाग जाय और हम भलेबुरे, पाप पुण्य को समझने लगे तो हमे किसी बात का निर्णय करने के वास्ते, कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करने के लिए अपने अन्तःकरण से काम लेना चाहिए; हमे अपने माता-पिता या किसी दूसरे के कहने पर भी आँख मीच कर नही चलना चाहिए। हर आदमी का अन्तःकरण अलग है। हमारा अन्तःकरण हमारी माता के या पिता के अन्तःकरण से पृथक् है; हमें अपने अन्तःकरण की स्वतंत्रता की रक्षा करना जरूरी है।

अकसर जब कोई व्यक्ति बड़ा होने पर भी अपने माता पिता के साथ रहता है, खासकर भारतवर्ष और चीन मे, जहाँ संयुक्त परिवार की प्रथा है, युवकों के व्यक्तित्व का ठीक-ठीक विकास नहीं होने पाता; वे बात-बात मे यही चाहते हैं कि उनका कोई बड़ा बूढ़ा उन्हे रास्ता दिखावे, वे किसी भी विषय में अपनी आज़ाद राय नही रखते, और यदि रखते हैं तो उसे साफ ज़ाहिर नही करते, उनके मन मे एक तरह की लज्जा, संकोच या हिचकिचाहट रहती है, उन्हे डर रहता है, कि न जाने माता पिता की राय क्या हो, यदि हमने अपना मत पहले प्रगट कर दिया तो कहीं उनसे विरोध न हो जाय; ऐसी हालत में दूसरे आदमी हमें ही दोष देंगे। इसलिए वे चुपचाप माता पिता या दूसरे वड़े बूढ़ो की हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं। अनेक बार यह देखने में आया है कि किसी युवक की, कुछ रीति रिवाजो या

रूढ़ियों में कोई श्रद्धा नहीं है, वह उन्हे व्यर्थ ही नहीं, हानिकर मानता है, फिर भी उनका पालन वह केवल इसलिए करता है कि ऐसा न करे तो माता पिता बुरा मानेंगे। पिछले दिनो इस देश मे कितने ही युवक ऐसे पाये गये हैं, जो केवल शुद्ध खादी पहिनना, देश को आजादी के आन्दोलन मे क्रियात्मक भाग लेना, और पर्दा प्रथा, मरणोत्तर जाति-भोज (औसर, मौसर) आदि का त्याग करना चाहते है। वे कहते है, क्या करें लाचार है, बुढ़ा या बुढ़िया यानी बाप मा बैठे है, तब तक हम ये बातें नही कर सकते; उनका शरीर पूरा हो जाने पर हम स्वतंत्र होगे।

यद्यपि कुछ सुन्दर अपवाद भी मिलते है, पर आम तौर पर रूढ़ियो के मामले मे बड़े बूढ़ो का मत और उनकी विचार-धारा युवको से भिन्न होती है, और वे अपने दृष्टिकोण को उचित से अधिक महत्व देते है, और युवको से आशा करते है है कि वे हमारे विचार के अनुसार ही सब काम करें। यह ठीक है कि उनकी उम्र अधिक होने के कारण उनका अनुभव दीर्घ काल का है, परन्तु जमाने के साथ साथ परिस्थितियाँ बदलती रहती है, हर पीढ़ी की समस्याएँ अलग-अलग होती है। मनुष्य जाति के सामने नए आदर्श नए सिद्धान्त और नयी विचार-धाराएँ आती रहती हैं। जिस बात को हमारी पीढ़ी बहुत अच्छा समझती है, और बडी बुद्धिमानी और घोर परिश्रम का फल मानती है, उसी बात को अगली पीढ़ी सम्भव है निकृष्ट और गयी गुज़री माने। यदि सब बच्चे हर बात मे अपने माता पिता काही अनुकरण करते रहे तो मानव जाति की उन्नति ही कैसे हो ? समाज जहाँ का तहाँ रहे।

जल का प्रवाह बन्द हो जाने पर वह सड़ जाता है। मानव समाज को भी ऐसे दुर्भाग्य से बचाने की बड़ी ज़रूरत है। यदि

गौतम बुद्ध अपने माता पिता की इच्छानुसार ही अपना जीवन व्यतीत करते तो संसार उनके महान उपदेशों से वंचित रह जाता। कार्ल मार्क्स का पिता चाहता था कि उसका पुत्र ऐसे विषयों के पढ़ने में लगे, जिनसे खूब धन कमा सके, उसकी दृष्टि से समाजवाद आदि की खोज और चिन्तन मे लगना व्यर्थ और बेकार था, परन्तु कार्लमार्क्स ने अपना स्वतंत्र मार्ग निश्चित किया, उसने समाज को धन से कही अधिक मूल्यवान वस्तु दी; और अपने साथ अपने पिता का नाम भी चिरस्मरणीय बना दिया।

युवावस्था नयी नयी बातों के सोचने वाली, आशावादी, साहस वाली, जोखम उठाने वाली, गलतियों से न घबराने वाली, और आगे बढ़ते रहने वाली होती है; इसके विपरीत, बूढ़े आदमी आम तौर पर पुरानी बातो मे लगे रहते है; फूँक फूँक कर पाँव रखते हैं, कठिनाइयो से बचते है, पुराने जमाने की रूढ़ियों और रीति रस्मो से चिपटे रहते हैं, नया प्रयोग करने का उत्साह नही रखते; वे अपने पुराने अनुभवों का गर्व करतेहैं, और अच्छे से अच्छे नवयुवकों का व्यवहार देखकर भविष्य के प्रति अश्रद्धा और आशंका प्रकट किया करते है। जब तक दोनो पक्ष काफी गम्भीरता और समझदारी से काम न लें उनमे संघर्ष की सम्भावना बनी रहती है। इसीलिये लाला हरदयाल का मत हैं कि युवक हो जाने पर हर पुरुष और स्त्री को, चाहे वह अविवाहित ही क्यो न हो, अपने माता पिता आदि बड़े बूढो से पृथक् घर बसा कर स्वतन्त्र रूप से रहना चाहिए; भविष्य को भूत के साथ, आशा को निराशा के साथ या जीवित को मृतक के साथ बाँधे रखना ठीक नही।

इस विषय में मतभेद की बहुत गुँजायश है; हमें लाला

हरदयाल के कथन मे अत्युक्ति मालूम होती है और अव्यवहारिकता भी। तनिक विचार कीजिये; लड़की का प्रायः चौदह पन्द्रह वर्ष की उम्र मे, और लड़के का बाईस चौबीस वर्ष की उम्र मे विवाह हो जाता है। इतनी उम्र तक वे शिक्षा पाने मे लगे रहते है। ज्यों ही लड़का कालिज से छुट्टी पाकर अपनी जीविका कमाने मे लगे, उसे दुनिया का यथेष्ट अनुभव नही हो जाता। लड़की घर के काम धन्धे की कुछ जानकारी भले ही प्राप्त कर ले, परन्तु गृहस्थी की गाड़ी चलाने के लिये उसमे जैसी योग्यता चाहिए वह एकदम नहीं आ सकती। ऐसी दशा में यदि यह नवदम्पति अपना अलग परिवार बना कर रहे तो उनका मार्ग बहुत कष्टदायक होगा। अभी उन्हे अपने बड़ो के संरक्षण की ज़रूरत है। स्वयं उनके विवाहित जीवन के लिए भी यह अच्छा है कि वे बिल्कुल स्वच्छन्द न रहे। योग्य माता पिता और सास ससुर के मर्यादित नियन्त्रण मे वर वधु के आपसी विरोध का अवसर कम आता है, और वे अपने आप को एक दूसरे के अधिक अनुकूल बना सकते हैं। इसके अलावा बीमारी की हालत मे उन्हे अनुभवी आदमियों की ज़रूरत हो सकती है।

यदि संयोग से वे अपने परिचित जनों से दूर किसी दूसरे स्थान में रहते हों, और युवक कहीं आफिस आदि में काम करता हो तो नववधु की बीमारी कितनी कष्टदायक हो जाती है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। ऐसे अवसर पर माता पिता या सास ससुर के साथ रहने से कितना आराम और सुविधा मिल सकती है। सम्भव है, यह कहा जाय कि युवक युवति की अपेक्षा मा बाप के बीमार रहने की सम्भावना अधिक है; इस तरह उनसे जितना आराम मिलेगा, उससे

ज़्यादह हमे उनकी सेवा करनी होगी। लेकिन यह भी तो एक कारण है कि हमे जहाँ तक हो सके अपने माता पिता के पास रहना चाहिए। जब तक हम असहाय और दूसरो के मोहताज थे, तब तक तो हम उनके आसरे रहे, अब जब हम किसी क़ाबिल हुए और उन्हे हमारी मदद की ज़रूरत हुई तो हम उन्हे अकेला छोड़कर अलग रहने लगें, यह कहाँ की भलमनसाहत है। यह हमारी खुदग़रज़ी और कृतघ्नता ही होगी। ऐसी ग़लत और कमज़ोर बुनियाद पर मानव समाज सुसंगठित नही हो सकता। हमे तो कृतज्ञता, निस्वार्थता, सेवा और त्याग की मिसाल क़ायम करनी है। इन बातों का मौका हमे सब से पहले पारिवारिक जीवन मे मिलता है, उसका हमे अपनी शक्ति भर उपयोग करना चाहिए।

यह कहा जाता है कि माता पिता की दृष्टि भूतकाल की ओर रहती है, और युवकों की भविष्य की ओर। परन्तु क्या इन दोनो के मेल और समन्वय की ज़रूरत नही है? केवल भूत काल की बातो से हमारा गुज़ारा नहीं हो सकता, और केवल भविष्य की बातों मे भी हमे लीन न हो जाना चाहिए। हमे वर्तमान काल को संभालना है, जो भूत और भविष्य दोनो का संधिकाल, दोनो के मिलने की जगह है। इसलिए बेहतर है कि हम माता-पिता के साथ रहते हुए उनके भूतकाल के अनुभवो से लाभ उठावें। हाँ, माता पिता आदि का भी कर्तव्य है कि वे युवकों के दृष्टिकोण को समझने की कोशिश करते रहे और व्यक्ति-स्वातंत्र्य का ध्यान रखें। जब तक कोई ख़ास ज़रूरत तथा कोई अनिवार्य कारण उपस्थित न हो तब तक वे उनके काम-काज में फजूल दखल न दें। इस तरह प्रेम और समझ से काम लिया जावे तो युवकों और बड़े-बूढ़ों मे मतभेद की दीवार बहुत चौड़ी

नहीं होने पाती।* हम यह भी याद रखें कि बड़ी उम्र का अर्थ सदैव बुढ़ापा नहीं होता। प्रौढ़ आयु के बहुत से सज्जनों में युवकों से बढ़कर उत्साह, साहस, आशा और नवीनता का आदर पाया जाता है। वे 'साठा सो पाठा' की कहावत चरितार्थ करते हैं। इसके विपरीत, कितने ही युवक अपनी भरी जवानी की उम्र मे भी बुढ़ापे का भार ढोये फिरते हैं; उनमे निरुत्साह, निराशा और निस्तेजता का दुखदायी समावेश होता है।

इस प्रसंग मे प्राचीन भारतीय प्रथा का विचार करना उपयोगी होगा। यहाँ पुराने जमाने मे आश्रम व्यवस्था चलती थी। उसके अनुसार आदमी पच्चीस वर्ष की आयु तक विद्या उपार्जन करके गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता था, और जब उसके बड़े लड़के का विवाह होकर उसके सन्तान हो जाती थी, यानी करीब पचपन वर्ष की उम्र मे वह वानप्रस्थ आश्रम मे प्रवेश कर लेता था। इस तरह उसकी सन्तान अपना काम चलाने मे स्वतंत्र हो जाती थी, उस पर माता पिता के विचारों का प्रतिबन्ध नही रहता था। बुढ़ापा और यौवन अलग-अलग हो जाते थे। बूढ़े लोग घूमते फिरते थे और गृहस्थो को उपदेश देकर उनका पथ-प्रदर्शन या रहनुमाई करते थे। परन्तु समाज का काम

*जब किसी युवक को यह अनुभव हो कि माता-पिता की आज्ञा का पालन करना उसके अन्तकरण के आदेश के विरुद्ध है, तो वह उसे पालन न करे, और यदि ऐसे प्रसग बार-बार आने से परस्पर में कटुता आने की आशंका है, तो युवक का उनसे अलग रहना ठीक ही है। परन्तु यह विशेष दशा की ही बात है, साधारण नहीं। माता-पिता से सिद्धान्तों में मतभेद होते हुए भी युवकों को उनके प्रति आदर-भाव रखना आवश्यक है।

चलाने वाले युवक और युवतियाँ (गृहस्थ) ही होते थे, जो गृहस्थ आश्रम का शुरू का कुछ समय (दो चार वर्ष) अपने पिता माता के संरक्षण में रहने कारण कुछ सांसारिक अनुभव प्राप्त कर चुकते थे।

इस तरह यह आवश्यक है कि एक दरजे तक युवको के मत-स्वातंत्र्य का आदर किया जाना चाहिए। समाज सेवा के विशाल क्षेत्र मे अपने महान कर्तव्य का पालन करने के लिये वे सदा स्वाधीन रहे; हाँ ऐसा करते समय वे न तो विनय और शिष्टाचार को तिलाञ्जलि दें, और न उस ऋण को भूलें, जो उन्हे माता पिता आदि के प्रति प्रेम और सेवा करके चुकाना है।

यह स्पष्ट है कि परिवार हमारे सामाजिक संगठन की पहली और आवश्यक सीढ़ी है। किन्तु कुछ दशाओं में यह आगे की सीढ़ियों के लिये बाधक भी हो सकता है, और हो जाता है। इस विषय का विचार आगे दूसरे खंड में किया जायगा।

—o—

चौथा अध्याय

कबीला और जाति

पिछले अध्याय में परिवार के बारे में लिखा गया है। वह समाज का एक छोटा सा स्वरूप है। पुराने ज़माने मे जो परिवार एक ही पूर्वज की सन्तान होते थे, या अपने आपको ऐसा समझते थे, वे प्राय: पास-पास ही रहते थे। अब भी गावो मे खासकर जहाँ रेगिस्तान या पहाडी या जँगली प्रदेश है और आने जाने के साधन कम हैं, वहाँ निकट सम्बन्ध वाले परिवार

अकसर इकट्ठे एक ही जगह रहते है। परिवारों से बड़े संगठन को कुल, कबीला, या बिरादरी या गोत्र कहते हैं।* एक कुल के सब आदमियों मे रहन-सहन खान-पान और रीति-रिवाज की बहुत समानता होती है। वे आपस मे अपनेपन का अनुभव करते, और खान-पान विवाह शादी यानी रोटी बेटी का घनिष्ठ सम्बन्ध रखते है। उनमे जो बड़ा बूढ़ा होता है, वह सबका मुखिया या चौधरी माना जाता है।

कबीले मे परिवार के वे खास-खास लक्षण पाये जाते हैं, जिनका ज़िक्र हम पिछले अध्याय मे कर आये है। एक परिवार का उसके पास मे रहने वाले दूसरे परिवार से बैर विरोध न हो, इसका उपाय यही है कि पास-पास रहने वाले परिवार मिल कर एक कुल या कबीला बना कर रहने लगें। यदि कबीले मे किसी आदमी का दूसरे आदमी से मतभेद होता है तो मुखिया उसे शीघ्र निपटा देता है, बैर-विरोध ज्यादा बढ़ने नहीं पाता, लड़ाई झगड़े की नौबत नहीं आती। इस तरह यह सगठन एक दरजे तक लोगों की रक्षा मे सहायक होता है। यह अपने सब आदमियो की तरक्की और बेहतरी की कोशिश करता है। यदि दूसरे बाहर के आदमी इसके आदमियों को किसी तरह सताने या नुकसान पहुँचाने लगते हैं, तो यह उनका सामना करता है। उसका यह काम एक हद के अन्दर सारे समाज के भले के लिए ही होता है, परन्तु उसका क्षेत्र परिमित है। वह इस हद से बाहर के आदमियों के दु.ख सुख की परवाह

*आजकल प्रायः एक कबीले में कई-कई परिवार होते हैं, कबीला कई परिवारों का बना होता है, परन्तु पुराने ज़माने में कहीं-कहीं पहले एक कबीला रहा और बाद मे इससे कई परिवार बन गये।

नहीं करता; यही नही, अपने आदमी के सुख या स्वार्थ के लिए वह गैर या पराये आदमी को कष्ट देने या नुकसान पहुँचाने मे कुछ संकोच नही करता, वल्कि ऐसा करने मे एक तरह का गर्व अनुभव करने लगता है। यही कारण है कि जहाँ एक कवीले के लोगो मे परस्पर ऐसा प्रेम होता है कि उसे एक परिवार के आदमियो के आपसी प्रेम से उपमा दी जा सकती है, वहाँ एक कवीले के आदमी दूसरे कवीले वालो से उस 'सौतेली मा' का सा व्यवहार करने लगते हैं, जो अज्ञान या मोहवश अपने ही बालक को चाहती है, और जिसे दूसरी मा का वालक फूटी आँख नही सुहाता।

कवीलो की आपसी ईर्षा और लड़ाई वर्षो और कभी-कभी पीढ़ियो तक चलती रहती है। अन्त मे कभी उनमे से एक दूसरे को जीत लेता है, और कभी दोनो मे मेल या संधि हो जाती है। इस तरह दो या अधिक कवीले मिल कर एक जगह रहने लगते हैं; उनके शासन या नियंत्रण का काम उनके मुखियाओ की कमेटी या पंचायत करने लगती है। धीरे-धीरे कई कवीलों के लोग बहुत समय तक पास-पास रहने के कारण आपस मे इतने हिल-मिल जाते हैं, उनकी भाषा, रहन-सहन, सभ्यता, धर्म, परम्परा आदि में इतनी समानता आ जाती है कि उन सब को एक ही समूह या एक ही जाति समझा जाता है।

जाति या नसल का मूल आधार वर्ण या रङ्ग है। भारतवर्ष में जाति-भेद को वर्ण व्यवस्था ही कहा जाता है। सिद्धान्त से यहाँ जाति के आधार जन्म और कर्म दोनो माने जाते है। कहा जाता है कि वर्ण व्यवस्था या जाति व्यवस्था को भारतवर्ष के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदो का समर्थन प्राप्त है, जो संसार के सबसे प्राचीन साहित्य का भाग है। परन्तु जानकारों का मत है कि वेदो

मे केवल दो ही वर्ण बताये गये हैं—आर्य और दस्यु। आर्य का अर्थ है श्रेष्ठ, सदाचारी, और दस्यु का अर्थ है दुष्ट, दुराचारी। इस तरह समाज का यह विभाजन असल मे गुण कर्मानुसार ही है। वेदो ने वृत्ति या पेशे के आधार पर मानव समाज को चार हिस्सो मे बाँट दिया है, अर्थात् धार्मिक वृत्ति वालों को ब्राह्मण, राजनैतिक वृत्ति वालो को क्षत्री, व्यावसायिक वृत्ति वालों को वैश्य और मेहनत मजदूरी करने वालो को शूद्र कहा है। इसमें श्रम विभाजन के साथ एक दूसरे से पूरे सहयोग का भी विधान किया गया है। ब्राह्मण को ब्रह्मा का मुख, क्षत्री को भुजा, वैश्य को जाँघ, और शूद्र को पैर बताने का अर्थ यह है कि ये सब समूह मानव समाज रूपी शरीर के भिन्न भिन्न अग हैं। इन अंगो मे छोटे बड़े या ऊँच नीच का भाव नहीं, हर एक को दूसरे से सहानुभूति और सद्भाव रखना होता है; अपने अपने स्वार्थ का ध्यान रखने से सभी का अहित होगा। मिसाल के तौर पर यदि पैर मे कांटा लगने पर माथा उसकी चिन्ता न करे, आँख उसे न देखे, हाथ उसे न निकाले तो सारे शरीर को कष्ट रहेगा। यह सिद्धांत समाज-सचालन के लिये उपयोगी है, इसमे किसी को सदेह नहीं हो सकता।

मनुष्यो मे श्रम या कर्म विभाग स्वाभाविक है। किसी आदमी की प्रवृत्ति एक तरह के काम की ओर होती है, किसी की दूसरी तरह के काम की ओर। आम तौर पर मुख्य प्रवृत्तियाँ चार हैं—बुद्धि प्रधान, तेज प्रधान, वासना प्रधान और सेवा प्रधान। अँगरेज़ी लेखको ने चार मकारो से इन्हे ज़ाहिर किया है, मिश्नरी (पादरी), मिलीटरी (सैनिक), मर्चेंट्स (व्यापारी), और मीनियल्स (सेवक)। इसलिये भारतवर्ष मे शुरू में समाज के चार भाग (ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र)

माने गये, तो कोई आश्चर्य नहीं। दुख का विषय तो यह है कि वाद में इन चार की संख्या वरावर वढ़ती ही गयी। अव इनमे से हरेक के अन्तर्गत सैकड़ों छोटी वड़ी शाखाएँ है। फिर इनमें प्रान्तीय भेद भी माना जाता है। एक ही जाति के आदमी मूल निवास की भिन्नता के कारण आपने अपको अलग अलग समझते है। जाति के इन भागो थानीं उपजातियो ने जातियो का नाम धारण कर रखा है। इनमे कितनी ही जातियो के परिवारों की संख्या वहुत ही थोड़ी है। वहुत से आदमियों का मेलजोल रहन-सहन; खान-पान, विवाह सम्वंध आदि अपने अपने संकुचित क्षे मे ही होता रहता है।

इस तरह आम लोगो के विचार और काम का केन्द्र वहुत ही परिमित हो गया है। हर आदमी अपनी ही जाति का भला सोचता है। दूसरी जाति वालो की उसे कुछ चिन्ता नहीं। हर जाति के आदमी अपनी जाति की संस्थाएँ स्कूल, वाचनालय, छात्रालय (वोर्डिंग हाउस) कारखाने आदि खोलकर अपनी-अपनी जाति वालो के लिए शिक्षा, आजीविका या व्यापार आदि की सुविधाएँ करते है, उनके लिए राजनैतिक अधिकार या संरक्षण माँगते है, चाहे उनके इन कामो से दूसरी जाति वालो का कितना ही नुकसान क्यो न हो। थे सव जातियाँ अपने सदस्यो के सामने तुच्छता और क्षुद्रता का उदारहण पेश करती हैं। देश या समाज के वड़े हित की उपेक्षा करके, इनका अपना स्वार्थ सिद्ध करना सर्वथा निन्द्य और अनुचित है। पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य को अपनेपन का भाव अपनी स्त्री और वच्चों तक सीमित न रखना चाहिए। उसी तरह उसे कवीले या जाति की सीमा से भी आगे वढ़ना चाहिए।

—:o:—

पाँचवाँ अध्याय

गाँव और नगर

अगर कोई आदमी केवल एक ही गॉव को नमूने का गॉव बना सके तो वह भारतवर्ष के लिए ही नहीं, शायद सारी दुनिया के लिए एक आदर्श उपस्थित कर सकता है।

—*म० गांधी*

जिस तरह घर तुम्हारी घरेलू प्रवृत्तियों का क्षेत्र है, उसी तरह गॉव या नगर तुम्हारी राजनैतिक प्रवृत्तियों का क्षेत्र है। वास्तव में नागरिकता का पवित्र बन्धन ही तुम्हें सभ्य मनुष्यों की श्रेणी में रख देता है। तुम्हें अच्छा नागरिक होना चाहिए। नागरिकता की भावना के बिना नीतिशास्त्र बेमतलब की चीज़ है।

—*हरदयाल*

पिछले अध्यायो मे हमने मनुष्यो के ऐसे संगठनो के बारे में विचार किया है, जिनका आधार या तो जन्म यानी वंश है, या धर्म है। अब हम स्थान या जगह की दृष्टि से विचार करते हैं। आजकल आदमी किसी-न-किसी गॉव या नगर मे रहते हैं। हमने उस युग को पीछे छोड़ दिया है, जब आदमी जंगल में खुदरौ (स्वयं पैदा होनेवाले) फलो पर पर गुजारा करता था या शिकार करके अपना पेट भरता था। उस हालत में आदमी अपने फलहार या शिकार की खोज में फिरता रहता था; आज यहाँ, कल वहाँ। उसका कोई निश्चित ठौर ठिकाना न था। फिर जब वह खेती करने लगा तो उसकी आवरागर्दी कम हो गयी।

अब उसका अपने खेत के पास रहना जरूरी हो गया। उसे जमीन तैयार करने और जोतने, फिर बीज बोने, पानी देने का, और निराई (खेत मे से फालतू घास फूस निकाल देने) का काम करना था। उसके बाद फसल पकने तक जानवरो से उसकी रक्षा करना था, बाद मे फसल काटने और उसे घर लाने का काम था। इस तरह आदमी बहुत दिनो तक दूसरे स्थानों मे नहीं जा सकता था। खेती ने उसे एक ही जगह रहने पर मजबूर कर दिया। खेती करने वालो को एक दूसरे की मदद की भी जरूरत रहती है। खेती मे काम आने वाले पशुओ को चराने और उनकी देख भाल करने, फसल की रक्षा करने और पकने पर उसे काटने आदि का काम एक ही आदमी नही कर सकता। इन कामो मे एक दूसरे को मदद देने के लिए कुछ आदमियो को मिल कर एक जगह रहना होता है। फिर, खेती के तरह तरह के औजार बनाने और उनकी मरम्मत करने वाले भी नजदीक मे ही रहने चाहिएँ। इस तरह धीरे-धीरे कुछ आदमी इकट्ठे और स्थायी रूप से एक ही जगह घर बना कर रहने लगते है। उनकी बस्ती को खेड़ा या गाँव कहते हैं।

जब आदमी स्थायी रूप से एक जगह रहने लग गये तो उस बस्ती से उनका गहरा सम्बन्ध हो गया। उसे जहाँ तक हो सके साफ सुन्दर, उपजाऊ और स्वस्थ बनाने की तरफ ध्यान जाने लगा। ऐसा करने मे वहाँ के सभी आदमियो का लाभ है। पारस्परिक सहयोग से काम अच्छा होता है। एक गाँव या नगर के आदमियो को अपने तरह-तरह के कामो मे एक दूसरे की मदद की जरूरत होती है। इस तरह धीरे-धीरे सार्वजनिक भावना पैदा होती और बढ़ती जाती है। यह सहयोग और सहायता की बात सभ्यता के उस शुरू जमाने से ही चली आ

रही है, जब से आदमी खेती करने लगे। खेती का धंधा ही ऐसा होता है, जिसे कोई आदमी अकेला केवल अपने बल पर नहीं कर सकता। पीछे, ज्यो-ज्यों सभ्यता की उन्नति होती गयी सहयोग की भावना बढ़ती गयी, अथवा यह कहा जा सकता है कि मानव सभ्यता का इतिहास ही सहयोग की वृद्धि का इतिहास है।

गांव (कस्बा या नगर) हमारा 'राजनैतिक घर' है। यहाँ रहनेवाले सब मनुष्यो और स्त्रियो से हमारा एक तरह का राजनैतिक सम्बन्ध है। हर आदमी जो हमारे गाँव (या नगर) में रहता है, हमारा नागरिक भाई है। हमारा यह निवास स्थान हमारा असली कार्यक्षेत्र है। इसकी गली-गली से हम परिचित है, यहाँ के नदी नाले, टीले, खेत, जंगल और चरागाहो से हमें प्यार है। क्यो न हो, यहाँ की मिट्टी और जल से हमारा भरण-पोषण हुआ है। यहाँ की तरक्की और सुधार करना और अपने नागरिक भाइयो के प्रति सहयोग की भावना रखना हमारा परम कर्तव्य है। यह हमारी सभ्यता की कसौटी है। इसमे सन्देह नही कि हमें अपने राज्य या राष्ट्र के नागरिक कहा जाता है, परन्तु राज्य और राष्ट्र इतने बड़े होते हैं कि उनके पूरे रूप से हमारी घनिष्ठता नहीं होती। उनके विषय मे विचार आगे किया जायगा। यहाँ गाँवों की बात लेते है।

हर गांव का आकार प्रकार और आमदनी ऐसी होनी चाहिए कि वहाँ शिक्षा स्वास्थ्य आदि की ठीक-ठीक व्यवस्था हो सके। भारतवर्ष में अनेक बस्तियाँ ऐसी हैं, जिनमे घरो की तादाद पूरी बस्ती मे एक दर्जन भी नहीं हैं। और ऐसे गांव तो सैकड़ो या हजारो ही नही, लाखो है, जहाँ शिक्षा के लिए प्रारम्भिक पाठशाला तक नही; बीमारो को दवाई देने वाला कोई

वैद्य नहीं; स्वास्थ्य सम्बन्धी दूसरी बातो का तो कहना ही क्या, जहां पीने के लिए साफ पानी का भी प्रबन्ध नही। लोगो के लिए स्वास्थ्यप्रद भोजन वस्त्र के अलावा हर गांव मे माध्यमिक पाठशाला, साधारण दवाखाना, वाचनालय, पुस्तकालय, रोशनी का प्रबन्ध, गन्दे पानी के बहाव के लिए नालियो, और बरसात मे भी अच्छी तरह काम आनेवाली सडको की जरूरत है।

खेती की जमीन दूर-दूर बिखरी हुई होने से कितनी हानि है. और चकबन्दी की कितनी जरूरत है, यह सहज ही समझ मे आ सकता है। ये सब बातें खासकर भारतवर्ष को नजर मे रखकर कही गयी है, परन्तु कई दूसरे देशो के सम्बन्ध मे भी ठीक हैं। आजकल शिक्षित और सम्पन्न लोग शहरो की तरफ दौड रहे हैं। सभ्यता नगरो मे केन्द्रित होती जा रही है। गांवो की तरफ से प्रायः बेपरवाही हो रही है। वहां आदमी ठीक-ठीक भोजन-वस्त्र भी नही पाते; दरिद्रता का तांडव नृत्य है। कूड़े कचरे के ढेर और गन्दी आबोहवा में मनुष्यो का दम घुटता है, वे रोगी और अल्पायु होते है, तिस पर भी एशिया और अफ्रीका मे गांव के रहनेवालो की तादाद ज्यादह होने से संसार की अधिकांश जनता गांवो मे ही जीवन व्यतीत करती है। गांवों की दुर्दशा मानवता के लिए एक कलंक है, इसका अन्त जल्दी से जल्दी किया जाना चाहिए।

गांवो के लिए जिन-जिन जरूरतो का ऊपर जिक्र किया गया है, उनका पूरा होना गांवो की जनता के बहुत छोटे-छोटे भागो मे बटे और बिखरे हुए होने की हालत में मुमकिन नही है। बहुत छोटे-छोटे खेडो मे अलग-अलग स्कूल और अस्पताल आदि कैसे कायम किये जा सकते है! और यदि किये भी जाँय तो इन पर कितना अधिक धन खर्च करना पड़े! इसलिये छोटे छोटे गांवो

के समूह बना देने चाहिएँ, जिससे हर ग्राम-समूह अपनी मामूली जरूरतो के लिये बाहर के गांवो के आश्रित न रहे। इस तरह का ग्राम-समूह करीब दो तीन मील लम्बा और करीब इतना ही चौड़ा हो; उसकी आबादी लगभग डेढ़ दो हजार हो सकती है। आने जाने के साधन की उन्नति होने पर यह क्षेत्र कुछ बढ़ सकता है, पर बहुत अधिक बढ़ाना ठीक नही।

यह कहा जा सकता है कि ग्राम-सुधार का काम बहुत बड़ा है। इसे ठीक ठीक करने के लिये बहुत धन चाहिए; वह कहाँ से आवे ? इस बारे मे नीचे लिखी बाते ध्यान मे रखनी चाहिएँ। राज्य की कुल आमदनी कितनी है, और आबादी कितनी है। इस तरह हर हजार आदमी पीछे कितना औसत खर्च किया जा सकता है। हर ग्राम या ग्राम-समूह के लिये खर्च का अन्दाजा करते समय जहां तक हो सके इस औसत का ख्याल रखा जाय। विशेष हालतो में एक क्षेत्र के लिये औसत से कुछ कम ज्यादह भी खर्च कर सकते है। गॉव की और शहर की जनता मे इस समय जो बहुत ज्यादह भेद भाव रखा जाता है, और गाँववालों से जो सौतेली माँ का सा व्यवहार होता है, वह सर्वथा अनुचित है।

जो लोग शहरो में रहते आये हैं, या दूसरों की ही सभ्यता को सभ्यता मानते है, उन्हे यह बात रुचेगी नहीं। लोगों की यह धारणा बन गई है कि नगर तो विद्या, सभ्यता, शिक्षा और स्वास्थ्य आदि के केन्द्र होने ही चाहिएँ; गाँवों का चाहे जो हो। किन्तु हम गॉव और नगर दोनो को देश का एक बराबर अंग और दोनों की जनता को देश की सतान समझकर जहाँ तक बन पड़े समानता की बात कह रहे हैं। यदि गॉव के भाई भूखे मर रहे हैं, और अपना तन ढकने के लिए भी कपड़ा नही पा रहे है, और

नगरो में विलासिता के साधनो को जुटाने में धन खर्च किया जा रहा है तो यह विल्कुल अधेर है। जिन चीजो से नगरों के इने गिने आदमी लाभ उठाते है, उनके खर्च में गॉव वालो को भी हिस्सेदार वनाना सरासर अन्याय है। इसीलिये गाँवो के सुधार और उन्नति के लिए प्राय. हर देश मे रुपये की कमी रहती है। इसका इलाज यही है कि हम अपना दृष्टिकोण वदलें।

प्रचीन काल मे साधु-संत ऋपी-मुनि गाँवो मे रहते थे, अव भी कुछ भले लोगो को गॉव मे रहना पसन्द है। आवश्यकता है कि आजकल के 'सभ्य' आदमी मानवता के लिए गाँवो में रहे और गाँवो का सांस्कृतिक धरातल ऊँचा उठाने मे सहायक हो। गाँवों और शहरो की हालत मे जो भयङ्कर विषमता है, उसका अन्त होना ही चाहिए। जहाँ तक हो सके, गॉवो की अच्छी वातो की—प्राकृतिक दृश्य, हरियाली, ताजी हवा, सरल जीवन आदि की व्यवस्था नगरो में, और, नगरो की सड़क, स्कूल, डाक, अस्पताल अदि अच्छी वातो की व्यवस्था गाँवो मे भी होनी चाहिए। और, जो वातें वुरी हैं, सदाचार के खिलाफ और मानवता के लिए हानिकर हैं, उन्हे गाँवो और नगरो दोनों से हटाना चाहिए।

हमें एक आदर्श गाँव की कल्पना अपने सामने रखनी चाहिए और उसे अमल मे लाने की लगातार कोशिश करते रहना चाहिए। महात्मा गांधी के विचार से हर आदमी को साधारण भोजन के साथ साथ हर रोज़ आध सेर दूध और दो तोले घी या ढाई तोले मक्खन, साग तरकारी और कुछ मौसमी फल मिलने ही चाहिएँ, कपड़ा भी आवश्यकतानुसार होना चाहिए। महात्मा जी अपनी तरह सवके लिए एक छोटी सी धोती पहनने की वात नही कहते। पुरुषो के लिए वे कुर्ता, ओछी धोती और टोपी जरूरी

समझते हैं; स्त्रियो के लिए वे पञ्जाब की पोशाक—कुर्ता दुपट्टा और सलवार अच्छी मानते हैं। आजकल गाँव वालो का जैसा अपूर्ण भोजन वस्त्र है, उसे देखते हुए यह बात अव्यवहारिक मालूम होती है। परन्तु मौजूदा हालत अस्वाभाविक और अन्यायपूर्ण है। इसका जल्दी से जल्दी अंत करना ही होगा। जैसा कि महात्मा जी ने कहा है, देहातो मे हम उचित सुधार करने मे तब तक सफल नहीं हो सकते, जब तक हमारे हाथ मे हकूमत की बागडोर न हो। लेकिन हमारी तपस्या और सेवा बहुत ऊँची हो जाय तो हमे हकूमत की बाट देखने की भी ज़रूरत नही है। उसके बिना भी बहुत कुछ किया जा सकता है।

पशुओ और खेती आदि के सम्बन्ध मे महात्मा जी का मत है कि 'मवेशियो के बारे मे गाँव वालो को परस्पर सहयोग से काम लेना चाहिए। उन्हे गाँव भर मे उतने ही मवेशी रखने चाहिए, जितने की उन्हे ज़रूरत हो। जानवरो के रखने का इन्तजाम सारे गाँव की तरफ से शराकत मे किया जा सकता है। अगर गाँव वाले इस तरह मिलजुल कर काम करना सीखें तो बहुत तरक्की कर सकते है। इसी तरह खेती मे भी सहकारी तरीके से यानी मिलजुल कर काम कर लेना चाहिए। गाँव की सारी पैदावार का बँटवारा भी मेहनत करने वालो मे ही होना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं है कि मेहनत का हिसाब नही रहेगा; हरेक की मेहनत का हिसाब तो ठीक-ठीक रखना ही पड़ेगा। जब तक हम यह नही कर सकते तब तक सत्य और अहिन्सा की दृष्टि से आदर्श समाज तक नहीं पहुँच सकते। और, अहिन्सक समाज मेलजोल और सहयोग पर ही क़ायम हो सकेगा।'

महात्मा जी हर गाँव में एक तरह का लोकराज्य (रिपब्लिक) कायम करना चाहते हैं। उनका कहना है कि दो चार साल के लिए लोग किसी एक आदमी को अपना सरदार मान सकते हैं लेकिन बाद में उसके बिना भी काम चला सकते हैं, क्योंकि लोकराज्य में कोई सरदार होता ही नहीं। लोग एक दूसरे को नजदीक से जानते हैं। आजकल के से चुनावो का सा किस्सा नहीं होता, जहाँ लाखो, करोडो वोटर होते है, और उन्हे पता ही नहीं होता कि उम्मेदवार कौन शख्स है। लोगो के पसन्द का सरदार उन्हें दवा नही सकता। पुराने जमाने मे हमारे यहाँ इसी तरह की कोई तजवीज थी।

ये बातें भारतवर्ष को नजर मे रखकर कही गयी है, परन्तु दूसरे देशो के गाँवों के सम्बन्ध में भी उपयोगी हैं। हमने ग्राम सम्बन्धी बातो को तनिक विस्तार से लिया है, इसका कारण यह है कि संसार की अधिकांश जनता ग्रामो में ही रहती है। जबतक गाँव की जनता के उद्धार का ठीक-ठीक प्रयत्न न होगा, संसार का भला नहीं हो सकता। इस समय जिस तरह जाति-पाँति, धर्म, राष्ट्रीयता आदि की कृत्रिम दीवारों से मानवता का गला घुट रहा है, उसी तरह एक संसार व्यापी भेद-भाव ग्रामीण और नागरिक जनता का है। नगरो मे रहनेवालो को शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की, और अपनी शक्तियो के विकास की जितनी सुविधाएँ हैं, उनकी तुलना मे ग्रामवासी बन्धुओ का क्या हाल है! और, यदि नगरो की अधिकांश जनता भी शिक्षित, सुखी सम्पन्न हो जाय, और ग्रामो की अधिकांश जनता मूर्ख, रोगी, और दुखी रहे तो विश्व का कल्याण कैसे हो सकता है! यह विषमता अब असहनीय है, थोड़े से नगरो के आदमी, वे चाहे जितने योग्य और कुशल क्यो न हों, सारी

मानव जनता के उत्थान का भार अपने कन्धों पर नहीं उठा सकते। निदान, आम जनता की शक्ति और योग्यता का धरातल ऊंचा उठाने की बहुत ज़रूरत है।

अब हम नगरो का विषय लेते हैं। कुछ बातें तो वही है, जो ऊपर गाँवो के बारे में कही गयी है, विचारशील पाठक उनमे आवश्यक हेरफेर करके उन्हे नगरोपयोगी बना लेंगे। यहाँ कुछ दूसरी बातो की चर्चा की जाती है।

एक नगर न तो बहुत छोटा होना चाहिए, और न बहुत बड़ा। वह ऐसा बना होना चाहिए कि गाड़ी या इक्का तांगा उसकी हर गली और हर कोने में जा सके। आबादी इतनी हो कि हर नागरिक अपने यहाँ के प्रश्नो को समझ सके, नगर की सार्वजनिक सभाओ मे भाग ले सके और अपने यहाँ के नेताओ आदि को जान सके, उनके भाषण आदि सुन सके और उस पूरे क्षेत्र के प्रति अपने कर्तव्य का अनुभव कर सके। ये सब बातें उन बड़े-बड़े शहरो मे नहीं हो सकती जो पिछले सौ सवासौ वर्ष के अन्दर दूषित औद्योगिक संगठन आदि के कारण बढ़ गये हैं, पश्चिम के देशो मे तो ऐसे नगर अनेक है; भारतवर्ष में भी कलकत्ता बम्बई आदि बढ़ते जा रहे हैं। म्युनिसिपल कार्य सुचारु रूप से होने के लिए आवश्यकता है कि इन नगरो के कई-कई नगर कर दिये जायँ और किसी एक नगर मे जहाँ तक हो सके एक लाख से ज्यादह आदमी न हो। बड़ी आबादीवाले नगरों मे सच्ची लोकतंत्रता का व्यवहार नही हो सकता, नौकरशाही बढ़ जाती है।

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी शहरो का विस्तार हद के अन्दर रहना चाहिए। आजकल अनेक नगर इतने बड़े होते है कि उनके कई हिस्सो से हर रोज़ खुली हवा का सेवन करने या प्राकृतिक

दृश्यों का आनन्द लेने के लिए बस्ती से बाहर जाना बहुत कठिन होता है; शहरवालो के लिए खेत और चरागाह देखना, तरह-तरह के पक्षियो की आवाज़ सुनना, ताज़े फूलो की सुगन्ध लेना जैसी बातों का अवसर बहुत कम आता है। हम प्रकृति से कितनी दूर रहते हैं! फिर,हमे खाने पीने की चीजें शुद्ध और अच्छी नहीं मिलती। इन सब बातो के सुधार की बड़ी ज़रूरत है।

अस्तु, नगर निवासी भाइयो की ओर हमारा कर्तव्य स्पष्ट है। हमें चाहिए कि निस्स्वार्थ और क्रियात्मक नागरिक भावना का विकास करें। जो आदमी अपने ग्राम या नगर सम्बन्धी सार्वजनिक कामो में पूरा भाग नही लेता, और जिसके पास ऐसा न करने की कोई खास वजह या सबब न हो, वह समाज मे निन्दनीय है।

स्थानीय संस्थाओं के सम्बन्ध मे एक खास काम चुनाव में मत देना है। कितने ही आदमी इसमें बेपरवाही करते हैं, अथवा डर या किसी लालच मे आकर अयोग्य आदमी के लिए मत देते हैं; या चुनाव में अपने मिलने वालों या जाति बिरादरी या धर्म वालों, का पक्षपात करते हैं, इससे ग्राम-बोर्ड या म्युनिसपेलटी के लिए जैसे योग्य मेम्बरो का चुनाव होना चाहिए, नही हो पाता; इन संस्थाओं के खराब संगठन के कारण नागरिक कार्यों मे अनेक दोष आ जाते हैं, और सार्वजनिक जीवन बहुत कलुषित हो जाता है। इस विषय पर विस्तार से 'निर्वाचन पद्धति' पुस्तक मे लिखा जा चुका है; यहाँ केवल इन बातों की ओर इशारा कर देना काफी है। हर नागरिक को चाहिए कि अपने गांव और नगर के फायदे के लिए निर्वाचन की ओर ठीक ठीक ध्यान दे और जनता के नागरिक जीवन को ऊंचा उठाने में मदद करे।

निर्वाचन के अलावा हमे अपने दूसरे नागरिक कर्तव्यों का भी अच्छी तरह पालन करना चाहिए। हमे हर प्रश्न को खूब अध्ययन और मनन करके उस पर अपनी राय बनानी चाहिए, किसी की एकतर्फा बातें सुन कर या पढ़ कर नहीं। अपने से विरुद्ध मत रखने वालो के प्रति भी हमारा व्यवहार शिष्टाचार का होना चाहिए, दूसरे दल वालो की सभाओं में हमे गोलमाल या गड़बड़ी नहीं करनी चाहिए। हमें दूसरों के स्वतंत्र विचार और मत-प्रदान सम्बन्धी अधिकार का आदर करना चाहिए। अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए या विरोधी दल वालो का खंडन करने के लिये हमें झूठ, अर्द्ध सत्य या अत्युक्ति का आसरा नहीं लेना चाहिए। अपनी विजय या सफलता के लिए लोगो मे क्षुद्र, संकुचित या साम्प्रदायिक भावनाओ का उभारना निन्दनीय है।

यदि हमारे मित्र किसी सार्वजनिक पद के लिए हमे निर्वाचित कर दें तो हमे अहंकार या अभिमान न करके विनय, निस्पक्षता और विवेक का परिचय देना चाहिए। अगर हमें यह निश्चय है कि उस पद की जिम्मेवरी संभालने के लिए हम मे जैसी चाहिए काबलियत या क्षमता नही है, या फुरसत की कमी है, तो नम्रता किन्तु दृढ़ता के साथ उसे नामंजूर कर देना चाहिए। यदि हम यह समझते है कि हम उस पद सम्बन्धी कर्तव्य का भली भांति पालन कर सकते है तो हमारा उसे स्वीकार कर लेना उचित ही है, परन्तु सार्वजनिक पदो की प्राप्ति के लिए कूटनीति या तिकड़म से काम न लेना चाहिए। आजकल लोकतंत्र ऐसे सिद्धान्तहीन स्वार्थी आदमियो से दबा हुआ है, जिनका उद्देश्य येन-केन प्रकारेण कौंसिल, बोर्ड या कमेटी का मेम्बर बन जाना होता है। ये लोग रुपये या सम्मान के भूखे होते हैं, और

तरह-तरह की बातें बना कर या चाल चल कर अपनी विजय का प्रयत्न करते रहते है। एक बार निर्वाचित होने पर दूसरी बार, और हो सके तो बार-बार निर्वाचत होने के लिए भले-बुरे सभी उपायो का सहारा रहते है। ऐसे पेशेवर राजनीतिज्ञो से नागरिक जीवन दूषित होता है, ये स्वयं अपना स्वार्थ-साधन करते हैं और ज्यो'ही मौका मिलता है, अपने भाई भतीजो या मित्रो को आमदनी या सम्मान के पद देते रहते है। ऐसे विकारो से हमे बहुत दूर रहना चाहिए।

हमे अपने गांव या शहर का अभिमान करना चाहिए और अभिमान का उपयोग अपनी बस्ती के सुधार मे करना चाहिए। हम उसे केवल कुछ घरो या गलियो का समूह न समझें। वह हमारे नागरिक भाइयो का समुदाय है, उसका अपना इतिहास है, जो कभी भूलने की बात नहीं है। उसकी विकास की कथा जाननी चाहिए कब उसका निर्माण हुआ, कब-कब उसमे कुछ खास वृद्धि की गयी, कब उसमे पंचायती भवन, चौपाल या टाउन हाल बना, कब उससे पाठशाला, वाचनालय अस्पताल आदि बने। किस-किस महापुरुष का वहां जन्म हुआ और उन्होने क्या-क्या शुभ कार्य किया। उन की यादगार केवल चित्रो, प्रतिमाओ मे या गलियो, बाजारो सड़को के नाम में नहीं रहनी चाहिए, वरन् उनकी हर साल जयन्तियाँ मनायी जायँ, जनता को उनके सद्गुणो का परिचय कराया जाय, और इस तरह सार्वजनिक सेवा की भावना की वृद्धि और विस्तार की हमेशा कोशिश होती रहे। ऐसे कामो से हम अपने अपने स्थान में रहते हुए मानव समाज की निस्वार्थ सेवा कर सकते है, जिसका करना हमारा परम कर्तव्य है।

—:o:—

छठा अध्याय

राष्ट्र

—:o:—

एक व्यक्ति से आदर्श भूमण्डल समाज नहीं बन सकता। एक व्यक्ति से परिवार, परिवारों से वंश, वंशों से जाति, जाति का राष्ट्र बन जाता है। वे सब सीढ़ियाँ राष्ट्रों में लड़ाइयाँ हैं, झगड़े हैं—किन्तु इन सारी त्रुटियों के साथ एक उन्नति का तत्व विद्यमान है।

—इन्द्र वेदालंकार

राष्ट्रीयता भावुकता का नारा नहीं है। यह एक रचनात्मक भावना है। हमें अपने देश को आर्थिक रूप में स्वावलम्बी तथा सांस्कृतिक रूप से प्रगतिशील बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।—*सर्वपल्ली राधाकृष्णन*

पिछले अध्याय मे गाँव और नगर के सम्बन्ध मे विचार किया जा चुका है। वे हमारे रोजमर्रा के कामो या सेवा के निकट क्षेत्र है। इनसे बड़ा क्षेत्र जिसके प्रति हमारा स्वाभाविक अनुराग होता है, राष्ट्र कौम, या नेशन, है। एक राष्ट्र में बहुत से कबीले और जाति-उपजातियाँ होती है। इन संगठनों के विषय में पहले लिखा जा चुका है। इनमें से हर समूह के आदमियो की अपनी अपनी रीति-रस्म, संस्थाएँ और परम्पराएँ होती हैं। बहुत समय तक पास पास रहने के कारण ये आपस मे आत्मीयता या अपनेपन का अनुभव करने लगते हैं, और सुसंगठित होकर एक ही शासन पद्धति में रहने लगते हैं। भाषा आदि की विभिन्नता के कारण एक राष्ट्र की दूसरे से पृथकता स्पष्ट हो जाती है।

राष्ट्र के प्रति मनुष्य का प्रेम, श्रद्धा और भक्ति कितनी प्रबल होती है, यह सब जानते हैं। 'मेरी मातृभूमि' 'मेरा वतन' 'मेरा मुल्क' 'मेरा देश (स्वदेश)' 'मेरी जन्मभूमि' या 'मेरा राष्ट्र' यह विचार आते ही मनुष्य गद्‌गद् हो जाता है, और वह उसके लिए अधिक से अधिक त्याग करने और कष्ट सहने को तैयार हो जाता है। राष्ट्रीय झण्डे के सम्मान के लिए बालकों और बूढ़ो तक ने अनुपम साहस का परिचय दिया है। झंडा-गान के समय आदमी अपने सब दुखो को भूल जाता है। मातृवन्दना से हृदय में विलक्षण ही भावो का संचार होने लगता है। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' में किसी व्यक्ति विशेष का ही भाव प्रकट नही किया गया है, यह लोक भावना का व्यक्त स्वरूप है, लोकवाणी है। ऐसे ही इसलाम धर्म का एक मशहूर सिद्धान्त है—हुब्बुल वतन मिनल ईमान' यानी अपने देश से प्रेम करना ईमान का एक अंग है।'

राष्ट्रीयता का यह तकाजा है कि हम अपने देश से, उसके खेतो और खलिहानो से, वहां के नाना भांति के दृश्यो से, वहाँ के इतिहास, साहित्य, कला, संस्कृति और परम्पराओ से ख़ास प्रेम रखें। जो प्रदेश या जो लोग भौगोलिक परिस्थिति या भाषा की समानता आदि के कारण हमारे सम्पर्क में अधिक आते हैं, उनकी ओर आकर्षित होना, उनके साथ अधिक प्रेम करना स्वाभाविक ही है। इस तरह देश हमारी कई तरह की सेवाओ का क्षेत्र हो सकता है। आम तौर पर एक भारतवासी भारतवर्ष मे, अंगरेज इंगलैण्ड मे, और जर्मन जर्मनी में मानव समाज की इतनी सेवा कर सकता है, जितनी वह दूसरे देश मे जाकर नहीं कर सकता, क्योकि अपने देश मे वह दूसरे भाइयो की हालत, स्वभाव और ज़रूरतो आदि को अच्छी तरह

समझता है, उनके विषय में उसको अच्छा अनुभव होता है।

देश या राष्ट्र की सेवा के अनेक अग हैं सामाजिक, शिक्षा और साहित्य सम्बन्धी, औद्योगिक, राजनैतिक आदि। यहाँ इनमे से हरेक के सम्बन्ध मे विस्तार से लिखने की जरूरत नही है, कुछ बातो की सक्षेप मे ही की चर्चा जाती है।* सामाजिक विषयोपर लोगो मे प्रायः दो दल हुआ करते है। बहुत से आदमी पुरानी बातो को आँख मींच कर पालन करते रहते हैं; चाहे वे बातें अब नये जमाने और नयी परिस्थिति मे उपयोगी न होकर हानिकर ही हो। वे नहीं सोचते कि यदि कोई बात किसी खास समय मे अच्छी भी रही हो तो अब बदली हुई परिस्थिति मे उसका वैसा ही लाभदायक होना जरूरी नहीं है। और, कोई बात, 'हमारे बाप दादो ने की थी', इसी आधार पर हमेशा के लिए सुरक्षित नही रखी जानी चाहिए। इसके विपरीत, देश मे कुछ आदमी ऐसे भी होने हैं, जो हर पुरानी चीज का बहिष्कार करने और नयी बातो का बिना जाँच पड़ताल किये प्रचार करने के लिए तैयार रहते हैं। सचाई यह है कि कोई बात केवल नयी होने के कारण ही मानने के काबिल नहीं हो सकती। देश का सच्चा हित चाहने वालों को ऊपर लिखे दोनो मार्गों की अति को छोड़कर अपना कर्तव्य निश्चय करना चाहिए; वे रखने योग्य पुरानी बातो की रक्षा करें और साथ ही उन नयी बातो को भी अपनाते रहे, जो विचार करने पर और तजरबे यानी अनुभवसे उपयोगी साबित हो। हम सुधारक तो हो, पर जल्दबाज

* भारतीय पाठकों के लिए इन विषयों पर विचार 'हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ' और 'भारतीय जागृति' पुस्तकों मे किया गया है।

या अविवेकी न हों। गम्भीर, धैर्यवान, सहनशील और अमली जीवन बिताने वाले कार्यकर्ताओ की हर देश को ज़रूरत रहती है।

देश मे शिक्षा और साहित्य के प्रचार मे अपनी शक्ति भर योग देना हर नागरिक का कर्तव्य है। हाँ, यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि इनकी आड़ मे बालक बालिकाओ के मन में ऐसे संस्कार न पड़े जो उनके दृष्टिकोण को अनुदार और उनकी विचारधारा को संकुचित कर दें। इस विषय मे आगे और लिखा जायगा। यहाँ एक बात की ओर ध्यान दिलाना ज़रूरी है। हर नागरिक को केवल अपने प्रान्त की भाषा या साहित्य से संतुष्ट न होकर राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रीय साहित्य का भी प्रचार करना चाहिए। हमारा अपने को देश-प्रेमी या राष्ट्र-प्रेमी कहना बेमाइने है, जब तक हम देश की भाषा (राष्ट्र-भाषा) नहीं सीखते, और सीख कर उसकी उन्नति करने में जहाँ तक हो सके, भाग नहीं लेते। हमे इस बात की भी कोशिश करनी चाहिए कि हम दूसरे देशो की भाषा और साहित्य से, और वहाँ के रहने वालों से जानकारी हासिल करें।

इस तरह के प्रयत्नो से भी हमारी सहानुभूति और हमारा सहयोग होना चाहिए, जो देशवासियो की आर्थिक अवस्था सुधारने में सहायक हो। 'देशवासियो' से हमारा मतलब कुछ इने गिने थोड़े से आदमियो से नहीं है, जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरो की मेहनत से बेजा फायदा उठाते हो। हमारा उद्देश्य जनता जनार्दन की सेवा और हित साधन है; वे किस तरह स्वावलम्बी और स्वाभिमानी जीवन व्यतीत करें, और अपने शारीरिक और मानसिक विकास का मार्ग साफ करें, यही हमारा मुख्य विचार

रहना चाहिए। पूँजीवादियो के औद्योगिक कार्य वास्तव में व्यापक राष्ट्र-हित साधक नही होते, इस विषय का विवेचन आगे किया जायगा; विचारशील लोगो को चाहिए कि उनमें आँख बन्द करके योग न दे।

अपने देश या अपनी कौम को आज़ाद करना और उसकी आज़ादी की रक्षा करना तो नागरिक का अनिवार्य कर्तव्य है। पराधीनता की हालत मे कोई राष्ट्र अपनी स्वाभाविक शक्तियो का पूरा पूरा विकास नहीं कर सकता और मानवता के लिए जितना चाहिए उपयोगी नही बन सकता। नागरिको को चाहिए कि वे अपने राष्ट्र को आज़ाद करें और अनियंत्रित या अन्यायी शासन से उसे छुटकारा दिलावें। वे किस तरह इस काम मे मदद दे सकते है, और इसे करते हुए उन्हे किन-किन सिद्धान्तों का ध्यान रखना जरूरी है, इसके बारे मे कुछ विचार-सामग्री दूसरी जगह मिलेगी। यहाँ हमे यही कहना है कि हम राजनीति और राष्ट्र-नीति को कूटनीति या कपट-शास्त्र न समझें, और अपने व्यवहार से उसे सब के भले के लिए मानव शास्त्र का अंग बनाने की कोशिश करें। हम याद रखें कि हिन्सा और छल-कपट से प्राप्त विजय या आजादी क्षणिक तो होती ही है, इसके अलावा, यदि अच्छी तरह विचार किया जाय, तो वह सच्चे अर्थ में विजय या या आजादी नहीं होती, वह हमारे पतन का रास्ता तैयार करती है, इसलिए हमे भ्रम से उसके प्रलोभन मे नहीं पड़ना चाहिए।

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले इस बात पर जोर देना ज़रूरी है कि चाहे किसी खास परिस्थिति के कारण हम दूसरे राष्ट्रों की भलाई के कामो मे बहुत सहयोग न दे सकें,

फिर भी हमे याद रखना है कि सब राष्ट्र एक ही मानव जाति के अंग हैं। यदि हो सके तो हमे दूसरे राष्ट्रों की भी सेवा में हिस्सा लेना चाहिए। हमारी भावना संकीर्ण या अनुदार न होकर व्यापक और उदार होनी चाहिए। वह किसी को अधीन करना या किसी का शोषण करना न चाहे; वह युद्ध और विजय दोनो से लज्जित हो।* उदार राष्ट्रीयता सैनिक यादगारो को मिटा देना चाहती है। वह उन कवियो, चित्रकारो, वैज्ञानिको, कलाकारो, और दूसरे स्त्री पुरुषो की याद मे सुन्दर स्मारक खड़े करती है, जिन्होने समाज की असली सेवा की है। जब ऐसी प्रशसनीय उदार राष्ट्रीयता जोर पकड़ेगी तो वह इतिहास को मनुष्यो के रक्तपात से मुक्त कर देगी।

याद रहे कि संकीर्ण या अनुदार और उग्र होने की दशा मे राष्ट्रीयता विनाशक होती है, वह विशाल सामाजिक संगठन में रुकावट डालती है। उसके बारे मे आगे लिखा जायगा।

---

*सम्राट् अशोक ने अपने कलिंग विजय पर खुले शब्दो मे पश्चाताप और दुख प्रकट किया था। उसके एक शिला-लेख के कुछ अंश का अनुवाद देखिए—"कलिंग को जीतने पर 'देवताओं के प्यारे' (अशोक) को बड़ा पश्चाताप हुआ, क्योंकि जिस देश का पहले विजय नहीं हुआ है, उसका विजय होने पर लोगों की हत्या या मृत्यु अवश्य होती है, और न जाने कितने आदमी कैद किये जाते हैं। 'देवताओं के प्यारे' को इससे बहुत दुख और खेद हुआ।"

सातवाँ अध्याय

साम्राज्य

संसार का शासक बन जाने के बाद भी (खलीफा) उमर पहले की तरह सादा, अपने रहन-सहन में कठोर और ईमानदार बना रहा।...उसने महान ससार-व्यापी मानव बन्धुत्व को उसकी शुरू की सीधी-सादी सच्ची मानव समता पर कायम रखा। यदि इसी तरह के आदमी संसार के शासक होते रहते तो ससार का इतिहास कुछ और ही होता।

—*डेनीसन*

हम कह चुके हैं कि आदमी की राजनैतिक भावना पहले नगर-राज्यों मे प्रकट हुई। जो नगर पास-पास थे, उनमे लोगो का रहन सहन, भाषा, व्यवहार, संस्कृति, सभ्यता आदि बहुत कुछ एकसी होती थी, फिर भी हर राज्य अपना अलग अस्तित्व रखने का अभिलाषी होता था; यहाँ तक कि वह अपने पड़ोसी राज्य से लड़ कर अपनी बहादुरी और बड़प्पन का परिचय देता था। इससे मानव उन्नति मे बाधा पड़ती थी। धीरे-धीरे उन्हे अपनी भूल मालूम हुई, और उनमे पास-पास के नगर-राज्यो को मिलाकर एक राष्ट्र-राज्य बनाने का बिचार पैदा हुआ।

नगर-राज्यो से राष्ट्र-राज्य एक दम नही बन गये। अनेक बार बनते बनते रह भी गये। बडी कठिनाई से नगर-राज्य अपनी प्रभुता और पृथकता का त्याग करने को तैयार हुए। कहीं राष्ट्र-राज्य एक समय बना, कहीं उसके बहुत आगे पीछे। कहीं

उसके निर्माण का एक ढंग रहा, कहीं दूसरा। राष्ट्र-राज्यों का बनना सामाजिक विकास की अच्छी मंजिल थी। कुछ समय बाद अनुभव हुआ कि राष्ट्र-राज्य भी छोटे हैं। इन्हें अलग-अलग अपनी नई-नई जरूरतें पूरी करने में कठिनाई होती थी। इनका आपस में संघर्ष होता था और इनकी बहुत सी शक्ति आपसी लड़ाई झगड़ों में ही खर्च हो जाती थी। धीरे-धीरे कोई राज्य इतना शक्तिशाली या ताकतवर हो गया कि वह दूसरों पर अपना रौबदौब जमा सका; कुछ को राजी से, और कुछ को थोड़े संघर्ष के बाद उसने अपने अधीन कर लिया। इस तरह वह राज्य से साम्राज्य बन गया, और प्रबल राजा सारे साम्राज्य का सम्राट् हो गया।

जिस तरह एक जवान साहसी आदमी यह चाहने लगता है कि मेरे साथी मेरे बल और पुरुषार्थ का लोहा मानें, उसी तरह एक राष्ट्र में भी, सबल होने पर यह आकांक्षा पैदा हो जाती है कि दूर-दूर तक के प्रदेश मेरी प्रभुता को स्वीकार करें, मैं सब पर शासन कर सकूँ, सब पर मेरा आतङ्क छाया रहे। जब किसी राष्ट्र में कोई चंगेज़ खाँ, चन्द्रगुप्त, बाबर या सिकन्दर पैदा हो जाता है, तो वह दूर दूर तक राज्य विस्तार करने को कटिबद्ध हो जाता है। वह इसके लिये जरूरी सेना और सामान जुटा लेता है, कुछ आदमी अपनी आजीविका या धन प्राप्ति के लिए उसकी सेना में भर्ती होते हैं, तो कुछ अपना क्षात्र तेज या बाहु-बल दिखाने के लिए ही उसके सहायक हो जाते हैं। कहीं कहीं धार्मिक भावना का भी आसरा ले लिया जाता है, और पंडितों या पुरोहितों से विजय का मुहूर्त निकलवाया जाता है। इसके उपलक्ष्य में दान, धर्म, जप, यज्ञ आदि अनुष्ठान

होते है, जिनका स्वरूप, देशकाल के अनुसार अलग-अलग होता है। इस तैयारी के बाद राजा अपनी विजय-यात्रा के लिए निकल पड़ते हैं। कोई कोई प्रदेश तो उनकी सैनिक शक्ति का विचार करके चुपचाप उनकी अधीनता स्वीकार कर लेते हैं, और कहीं कहीं उनका डटकर मुकाबला होता है। कभी कभी आक्रमणकारियो को वड़े बड़े कष्ट सहने पड़ते हैं। पर जो लोग धुन के पक्के होते हैं; वे अपना साहस नहीं छोड़ते, बार-बार उद्योग करते हैं, अपने सैनिक संगठन को सुधारते हैं, शक्ति को बढ़ाते है और फिर अपना मनसूबा पूरा करते हैं। खून खच्चर से वे घबराते नहीं। दूसरो की तो बात ही क्या, स्वयं अपने प्राणों का भी उन्हे मोह नही होता। ऐसे होते हैं, नहीं-नहीं यों कहना चाहिए कि ऐसे होते थे, पुराने जमाने के साम्राज्य-निर्माता। 'होते थे' कहने मे हमारा खास मतलब है। हम पाठको का ध्यान इस ओर दिलाना चाहते हैं कि यहाँ हम आजकल के उन साम्राज्यो की बात नहीं कह रहे है, जिनका उद्देश्य केवल अपने अधीन देशो से धन खैंचना होता है, या जो अपना राज्य इस लिए बढ़ाते हैं कि उन्हे अधीन देशों से अपने कल कारखानो के लिये कच्चा माल और अपने तैयार सामान के लिए सुरक्षित बाजार मिलें। साम्राज्यो में यह पूँजीवाद की भावना तो इस जमाने मे आयी है, और आजकल की महाजनी सभ्यता की विशेषता है। आजकल के ये पूँजीवादी साम्राज्य मानव समाज के विकास मे बहुत बडी रुकावटें साबित हो रहे हैं। इनके बारे में अगले खंड में और ज्यादह लिखा जायगा।

यहाँ तो हमे ऐसे (प्राचीन) साम्राज्यो का विचार करना है, जो अपना विस्तार इसलिये करते हैं कि सामाजिक संगठन का दायरा बड़ा हो जाने पर दूर दूर के आदमियों मे मेल

मिलाप बढ़ता है, उनकी ज़रूरतें पूरी होने मे सुविधा होती है, विद्या और ज्ञान का लेन देन बड़े पैमाने पर होने लगता है, संकीर्णता हटने लगती है और आदमी अपने रहने सहने, व्यापार करने और सोचने विचारने के लिए छोटे छोटे तङ्ग घेरो मे बन्द न रहकर एक ज्यादह बड़ी दुनिया का उपयोग करने लगते है। पुराने ढङ्ग के साम्राज्यो का यह समझा बूझा लक्ष्य था, और जिनका इस तरह का लक्ष्य न था, उनका भी आम तौर पर नतीजा यही होता था।

प्राचीन साम्राज्य प्राय: जीते हुए राज्य के भीतरी वन्दोबस्त और इन्तजाम मे दखल नहीं देते थे। जहाँ तक होता था वहाँ के राजपरिवार के ही किसी सुयोग्य आदमी को वहाँ का शासक बना दिया जाता था। इस तरह साम्राज्य के अन्दर अधीन या मातहत राजाओ को बहुत कुछ राजनैतिक आज़ादी होती थी। एक दरजे तक सब अपने राज्य मे अपना क़ायदा क़ानून और अपनी शासन-नीति बरतते थे। ये सब राजा सम्राट् की प्रभुता और बड़प्पन मानते थे, और खास खास मौको पर उसे कुछ भेंट या नज़राना देते थे। परन्तु सम्राट् उन छोटे राज्यो की आमदनी हड़प करने या उसका उपयोग अपने किसी अलग देश के लिए करने का इच्छुक न होता था; वह वहाँ अपने खानदान वालो या अपनी क़ौम वालो को ऊँचे ऊँचे सरकारी पद देने का भी इरादा न करता था।

राम ने लका को विजय किया तो वहाँ की राजगद्दी रावण के भाई विभीषण को दी। कृष्ण ने कस को मार कर वहां उस (कंस) के पिता उग्रसेन को सिंहासन पर बैठाया। इसी तरह जरासंध के मारे जाने पर उस का पुत्र सहदेव, और चेदी (जबलपुर) के राजा शिशुपाल के मारे जाने पर उसका

पुत्र राज्य का अधिकारी बना। उसके बाद मौर्य साम्राज्य या गुप्त साम्राज्य में हम देखते हैं कि सम्राटों को साम्राज्य के सब हिस्सों के आदमियो की भलाई की समान रूप से चिन्ता है; यह नहीं कि सम्राट् के खास देश को मालामाल करने के लिए साम्राज्य के दूसरे देशो के लोगों को मरना-खपना और दरिद्रता का जीवन बिताना पड़ा हो। इसके बाद मुग़ल सम्राटो का समय आता है। मुग़ल सम्राटो ने भारतवर्ष के धन को भारतवर्ष में ही और भारतवासियों के लिए ही खर्च किया, ये .खुद भारतवासी बन गये और यह बात बिल्कुल कल्पना के बाहर हो गयी कि इन सम्राटों द्वारा भारतवर्ष का रुपया अफ़ग़ानिस्तान, ईरान या मध्य एशिया में भेजा जाय। मुग़ल सम्राटों की तो यह कोशिश रही कि बाहरी साधन भी भारतवर्ष ही को उन्नत और मालामाल करने में काम में लाये जायँ।

भारत का मुग़ल साम्राज्य एक ऐसा साम्राज्य है, जो प्राचीन शैली का होते हुए भी कई अंशों में आधुनिक पाठको के बहुत नज़दीक का है। इसलिए इसके सम्बन्ध में कुछ और विचार करना उपयोगी होगा। इससे प्राचीन साम्राज्यो के काम और असर के बारे मे व्यापक रूप से अनुमान करने में सुविधा होगी। इस साम्राज्य के सम्बन्ध मे सर यदुनाथ सरकार ने खास अध्ययन किया है, उन्होंने अपने एक विद्वत्तापूर्ण लेख * मे बताया है कि मुसलिम शासन से भारतवर्ष को नीचे लिखे दस लाभ हुए है—

(१) बाहर की दुनिया के साथ सम्बन्ध कायम होना,

* इसका हिन्दी अनुवाद 'विशाल भारत', अगस्त १९३१ में प्रकाशित हुआ था; शीर्षक था—'भारत मे मुसलमान'।

भारतीय नौ शक्ति (जल सेना) का संगठन और समुद्र पार विदेशो में हिन्दुस्तान की तिजारत।

(२) एक छत्र राज्य के परिणाम-स्वरूप भारतव्यापी शान्ति, खासकर विन्ध्याचल के उत्तर के सारे हिस्से मे।

(३) सारे देश मे एक ही तरह की शासन प्रणाली, और एक ही शासक के अधिकार के कारण जनता के व्यवहार, वाणिज्य व्यवसाय, रहन सहन और एक दरजे तक उनके विचारो मे भी एकता की स्थापना।

(४) हिन्दू और मुसलमानो मे समान रूप से ऊँची और नीची सब श्रेणियो के बीच सामाजिक आचार व्यवहार, भाव, पोशाक, आभूषण आदि मे एक ही प्रणाली का अनुसरण।

(५) मुग़ल चित्रकला का जन्म, गृहनिर्माण कला का अद्भुत विकास और कितनी ही नई-नई दस्तकारियों का जन्म और उनकी तरक्की।

(६) सर्वसाधारण के व्यवहार के लिए एक उपयोगी प्रचलित भाषा उर्दू का जन्म, जिसे फार्सी मे हिन्दवी यानी भारतीय भाषा कहा जाता है।

(७) संस्कृत का व्यवहार पहले ही लुप्त प्राय. हो चुका था, मुसलमान-शासन से मिलने वाली शान्ति और ऐश्वर्य के फल स्वरूप हिन्दी, बंगला, मराठी आदि नई-नई भाषाओ मे साहित्य-रचना का प्रारंभ।

(८) हिन्दू समाज मे केवल एक ईश्वर की पूजा पर जोर देने वाले सम्प्रदायो का जन्म; वैदान्तिक सूफ़ी धर्म का प्रचार।

(९) इतिहास-रचना।

(१०) युद्ध-विद्या मे और सभ्यता के समस्त विभागो में मे सर्वांगीण उन्नति।

इनमें से हमें खास तौर से दो बातों की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना है—(१) इस साम्राज्य ने भारतवर्ष का बाहरी संसार के साथ फिर से परिचय कराया और (२) इसने भारतवर्ष में जातीय यानी राष्ट्रीय एकता की जड़ें मजबूत कीं। इनमें से पहली बात के सम्बन्ध मे विद्वान लेखक ने बताया है कि बौद्ध काल के अन्त तक भारत के साथ दक्खिन और पूरब एशिया के कई देशों का गहरा सम्बन्ध था। पर हूणो को हराने के बाद आठवीं सदी मे हिन्दू धर्म अपने घर को सभालने में ही लग गया था। मुसलमानों के शासनकाल मे बहुत से भारतीय मुसलमान यहाँ से बाहर गये, और विदेशी मुसलमान और दूसरे धर्म वाले यहाँ आये। पश्चिमोत्तर मे बोखारा, समरकन्द, बलख, खुरासान, खारिजम और फारिस जैसे देशो से; पूरब और दक्खिन में सिंहल, सुमात्रा, जावा, श्याम, चीन से; और दक्खिन-पच्छिम में जंजीबार तक से तिजारती माल निर्विघ्न और बेरोक-टोक आने जाने लगा।

राष्ट्रीय एकता के बारे मे श्री० यदुनाथ ने लिखा है कि दो सौ वर्ष तक मुगल सम्राटों के शक्तिशाली शासन के कारण समस्त उत्तर भारत ने और दक्खिन भारत के भी एक हिस्से ने, एक सरकारी भाषा, एक शासनप्रणाली, एक से सिक्के और बोलचाल की एक भाषा प्राप्त की। राजकर्मचारी, सैनिक, व्यापारी और यात्री एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में बराबर जाते आते थे, और कहीं भी अपने आपको परदेश में आया हुआ हुआ नही समझते थे। सब लोग विशाल मुगल साम्राज्य को एक देश और एक जन्मभूमि मानने लग गये थे। इससे भारतीयता या भारत-राष्ट्रीयता की कल्पना सम्भव हो गयी।

पुराने जमाने के साम्राज्यों की एक और मिसाल सिकन्दर के साम्राज्य की भी दी जा सकती है। सिकन्दर ने अपने जीते हुए देशो से सोना चाँदी लेकर यूनान को नही भरा। उसका यह उद्देश्य भी नहीं था। वह भिन्न-भिन्न जातियो का मिश्रण चाहता था। उसकी विजयो से मानव समाज के संगठन की वृद्धि हुई। यूरोप और एशिया के अनेक देशो के, और, अफरीका से मिश्र आदि के निवासी एक दूसरे के सम्पर्क में आये। सिकन्दर स्वयं लाखो आदमियो को पूरबी यूरोप से एशिया लाया और लाखों ही को एशिया से यूरप ले जाकर बसाया। इनमें बहुत से विद्वान और कारीगर भी थे। इससे यूरप मे एशिया के ज्ञान और संस्कृति का प्रचार हुआ, और एशियाई देशो ने भी यूनान की विद्या और कला को बहुत दरजे तक अपनाया।

प्राचीन साम्राज्यो की इस उपकारक भावना की एक बहुत अच्छी मिसाल खलीफा उमर के जीवन मे मिलती है।* खलीफा उमर की अधीनता मे सन् ६४० ई० मे अरब सेनापति उमर ने मिश्र को जीता। उस समय विजेता उमर को किसी ने यह सलाह दी कि वह मिश्र की भूमि विजयी अरबो में तकसीम करदे। खलीफा से पूछा गया। वहाँ से जवाब आया—"प्रजा की जमीन उन्हीं के कब्जे में रहने दी जाय। वे ही उसकी सेवा करें और उससे फलें फूलें।" इस विषय में जिस नीति का पालन खलीफा उमर ने इराक, शाम और फिलिस्तीन में किया था, उसी का मिश्र में किया। उसने देश की एक एकड़ जमीन पर भी किसी अरब को कब्जा करने न दिया। यहाँ तक कि जब सेनापति उम्र ने अपना एक मकान बनाने के लिए खलीफा

---

* देखिए, फरवरी १९४४ की 'विश्ववाणी'; पंडित सुन्दरलाल, जी का लेख, शीर्षक—'खलीफा उमर; कारनामें और चरित्र'।

से कुछ जमीन की इजाजत चाही तो खलीफा ने यह कह कर इनकार कर दिया—'तुम्हारे पास रहने के लिए मदीने मे एक मकान है, वही तुम्हारे लिए काफी होना चाहिए।' खलीफा उमर की सादगी और आत्मत्याग भी कैसा गजब का था! एक बार उसके शासन काल मे अरब में दुष्काल पडा। पेश्तर इसके कि शाम या इराक से काफी नाज आ सके, हजारो आदमी भूख से तड़पने लगे। इस समय, सर विलयम म्यूर ने लिखा है—"उमर ने अपने अभ्यस्त आत्मत्याग के साथ हर ऐसी चीज को खाने से इनकार कर दिया जो आस-पास के दूसरे लोगो को न मिल सकती थी। उसने प्रतिज्ञा की कि 'जिस वक्त तक लोगों के पास काफी खाना न हो जाय, मैं मांस, मक्खन या दूध तक को हाथ न लगाऊँगा।' दूध और मक्खन के बजाय जैतून का तेल और मोटी रोटी खाते उमर का ताकतवर शरीर कमजोर हो गया और चेहरा उतर गया। नौ महीने तक यानी जब तक बारिश नहीं हुई, और कहत का खात्मा नहीं हुआ, उमर की यही खुराक रही।"

अब जमाना बदल गया है, ये बातें अनोखी मालूम होती हैं। आजकल के सम्राटो का ही नहीं, उनके अधीन गवर्नरों आदि छोटे बड़े शासकों और फौज और पुलिस के अधिकारियों तक का रवैया कुछ और है; न वैसे सम्राट हैं, और न वैसे साम्राज्य। प्राचीन साम्राज्य अधिक-से-अधिक मानव जाति को एक सूत्र मे बांधने के प्रयत्न थे; आजकल का साम्राज्यवाद मानव जाति के वीच में रंग और राष्ट्र की दीवारें खड़ी करके जातियो को तुच्छ स्वार्थ-साधन में लगा रहा है; मनुष्य के सामाजिक विकास में भयकर बाधा है। इसका विचार आगे किया जायगा।

आठवाँ अध्याय

संघ-राज्य

हमने पिछले अध्याय मे कहा है कि राष्ट्र-राज्य से आगे मनुष्य-समाज के विकास की मंजिल साम्राज्य है। साम्राज्य से वहाँ हमारा मतलब पुराने ज़माने के ऐसे साम्राज्यो से ही है, जिनकी ग़रज़ दूसरे देशो को लगातार लूटना या उन्हे चूसना नहीं होती थी। यह लूट और शोषण तो पीछे की क्रियाएँ हैं, जिन्हे हम विकास की मंजिल न कह कर मार्ग की बाधा ही कह सकते है। उसके बारे मे आगे विचार किया जायगा।

यह ज़रूरी नही है कि राष्ट्र-राज्य के बाद अगला सामाजिक संगठन साम्राज्य के ही रूप में हो। वह संघ-राज्य भी हो सकता है। आम तौर से, जब कुछ राज्य मिलकर किसी प्रबल राज्य से अपना बचाव करने यानी आत्म रक्षा के लिए, या आर्थिक या राजनैतिक उन्नति के लिए अपनी सेना, टकसाल, व्यापार आदि विभागो का प्रबन्ध सामूहिक रूप से करने के लिए एक संगठन कर लेते हैं तो कहा जाता है कि उन्हो ने अपना 'संघ' (फेडरेशन) बना लिया है। इस तरह के संघ को खास-खास बातो के अधिकार सर्वोपरि होते है। वह अपने काम के लिए सब राज्यो की जनता से ज़रूरी सामान जुटाने का अधिकारी होता है। विधान में इस बात का साफ-साफ उल्लेख होता है कि किन-किन विषयों मे संघ-सरकार का, और किन मे अलग-अलग राज्यों का अधिकार होगा, और बाकी बातों के

अधिकार किसे होंगे। संघ में सम्मिलित राज्यों के नागरिक संघ के भी नागरिक होते हैं। इस तरह संघ-राज्य में हर नागरिक को दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है, उसे दोनो के क्षेत्रो मे मताधिकार होता है। सघ की सरकार और हर राज्य की अलग सरकार दोनो ही सब नागरिको द्वारा बनती है, और उनके प्रति जवाबदेह होती हैं। दोनों तरह की सरकारें नागरिको से सीधा सम्बन्ध रखती है।

जिस तरह राष्ट्र-राज्य नगर-राज्य से आगे की मंजिल है, उसी तरह संघ-राज्य राष्ट्र-राज्य से आगे की प्रगति ज़ाहिर करता है। इस विषय में ज़रूरी बातें जानने के लिए यहाँ मिसाल के तौर पर यह बताया जाता है कि 'अमरीका के सयुक्त राज्य' नाम के सघ का निर्माण किस तरह हुआ। पाठक जानते ही हैं कि अमरीका अपनी आर्थिक, मानसिक और वैज्ञानिक उन्नति के कारण संसार भर मे अपना खास स्थान रखता है।

अमरीका के इस भाग मे यूरोप वालों की बस्तियाँ सतरहवीं सदी के शुरू से ही आबाद होने लगी थीं। तब से यहाँ के मूल निवासी या असली बाशिन्दे 'रेड इंडियन' देश के भीतरी हिस्सो में भगाये जाने लगे और समुद्र के किनारे-किनारे यूरोप वालो के उपनिवेश कायम होना शुरू हो गया। इन यूरपियनों में ज्यादहतर अंगरेज़ थे; उनके अलावा फ्रांस, हालैन्ड और स्पेन आदि के भी आदमी थे। ये लोग प्राय: सब एक ही जाति के थे, एक ही भाषा बोलते थे, इनके राजनैतिक और आर्थिक हित भी एक समान थे। फिर भी अमरीका मे इनके राज्य अलग-अलग थे। हर राज्य का ब्रिटिश सम्राट् से लगभग वैसा ही सम्बन्ध था, जैसा उसके पड़ोसी राज्य का। परन्तु हर एक

की सरकार, व्यवस्थापक सभा, न्यायालय, शासक और कर्मचारी अलग-अलग थे।

सन् १६४३ ई० मे इनमे से चार उपनिवेशो ने मिल जाने की कोशिश की। वे चाहते थे कि फ्रांसीसी और डच (हालैन्ड के) उपनिवेशो की जनता से और वहां के मूल निवासियो से अपनी रक्षा करने के लिए अधिक शक्तिशाली बन जायँ। इस लिये उन चार ने एक तरह का 'सघ' बना कर अपना संगठन किया और उसके लिए आवश्यक नियम बना लिये। हर राज्य के दो दो सदस्य ले कर उन सबका एक कमीशन बनाया गया, जिसे दूसरे राज्यो से संधि और युद्ध सम्बन्धी विचार करने का अधिकार था। कुछ समय बाद यह कमीशन बेकार साबित हुआ, और उन चार उपनिवेशो की एकता की कोशिश असफल रही।

अमरीका के ये सब उपनिवेश उन दिनो बहुत दरजे तक इंगलैन्ड के अधीन थे। धीरे-धीरे उपनिवेशो मे राजनैतिक जागृति बढ़ रही थी। उनमे स्वाधीनता के भावो का उदय हो रहा था। उन्हे यह अखरने लगा कि इंगलैन्ड उनकी इच्छा के विरुद्ध उन पर तरह-तरह के कर (टैक्स) और कानूनों का बोझ लादता रहे। वे इगलैण्ड से सम्बन्ध तोड़ने की बात सोचने लगे। परन्तु इसमें सबसे बड़ी बाधा यह थी कि उन्हें एक दूसरे पर विश्वास न था। वे समय समय पर कुछ बातो के लिए आपस मे समझौता करते और कुछ समय के लिए मिल जाते थे। पर यह संगठन कभी ठिकाऊ नही होता था। हर छोटे राज्य को यह डर था कि सबका सगठन हो जाने पर और सघ-सरकार के बन जाने पर बहुत सी सत्ता इन छोटे राज्यो से छिन कर संघ-सरकार को मिल जायगी; फिर उनकी स्वाधीनता न

रहेगी।

इन उपनिवेशो के सङ्गठन का दूसरा मौक़ा सन् १७५४ में आया, जबकि इंगलैण्ड और फ्राँस में युद्ध छिड़ने वाला था। यद्यपि उपनिवेशो को इगलैण्ड के व्यवहार से असंतोष था, फिर भी वे यह नही चाहते थे, कि उनके पड़ोस मे ही फ्राँस की शक्ति प्रबल हो जाय, और उससे कष्ट उठाना पड़े। इधर इंगलैण्ड भी चाहता था कि उपनिवेशो की शक्ति अधिक हो जिससे फ्रांस वहाँ ज़ोर न पकड़ने पावे। इसलिये उसने सन् १७५४ मे सब उपनिवेशो की एक कांग्रेस का अधिवेशन कराया। उपनिवेशों के प्रतिनिधियो ने उनके मिलने की योजना पर विचार किया और इगलैण्ड को फ्राँस के विरुद्ध सात साल के युद्ध (१७५६-६३) मे जन धन से खूब मदद की। इस युद्ध में इंगलैण्ड की जीत रही।

उपनिवेशो के मिलने का कोई खास प्रयत्न सन् १७६५ ई० से पहले न हुआ। सन् १७६५ मे उन्होने ब्रिटिश पार्लिमेंट के कर लगाने का विरोध करने का फैसला किया। बात यह थी कि सात साल के युद्ध के अन्त में इगलैण्ड पर बहुत कर्जा हो गया था, उसे हलका करने के लिए और भविष्य में स्थाई सेना अधिक रखने के लिए उसने अमरीकन उपनिवेशो पर तरह-तरह के टैक्स (कर) लगाने शुरू किये। इन टैक्सों से उपनिवेशो का सब कारोबार और व्यापार चौपट होता था। उनका कहना था कि जब ब्रिटिश पार्लिमेंट में हमारे प्रतिनिधि नहीं हैं तो उसे हम पर टैक्स क्यो लगाना चाहिए। इस पर धीरे धीरे कई टैक्स हटा दिये गये। लेकिन चाय का टैक्स बना रहा। उपनिवेशो ने इस टैक्स का क्रियात्मक विरोध किया। जब जहाज में भरी चाय अमरीका के बोस्टन बन्दरगाह पर पहुँची तो उन्होंने उसे

जबरदस्ती समुद्र मे उलट दिया। आखिर, सन् १७७५ में उनका इंगलैण्ड से युद्ध छिड़ गया। यही अमरीका की स्वाधीनता का युद्ध था। ४ जुलाई १७७६ को उपनिवेशो ने, जिनकी सख्या उस समय १३ थी, अपनी आज़ादी का ऐलान कर दिया। युद्ध होता रहा। उपनिवेशों को काफी हानि उठानी पड़ी, तो भी इगलैण्ड उन्हे दबा न सका। आखिरकार १७८३ मे संधि हुई। उपनिवेश स्वाधीन हो गये।

इस युद्ध ने उपनिवेशो के एकीकरण मे भारी सहायता दी। जबकि इस युद्ध का विचार ही हो रहा था, सन् १७७४ मे इन उपनिवेशो की अन्तर-औपनिवेशिक सभाएँ (कॉंग्रेस) आरम्भ हुई। इन सभाओ मे सब उपनिवेशो के प्रतिनिधि होते थे, और हर उपनिवेश को समान मताधिकार रहता था। सन् १७७६ मे तेरह उपनिवेशों में से केवल नौ के प्रतिनिधियो ने ब्रिटिश पार्लिमेंट द्वारा कर लगाये जाने का विरोध किया। अगले वर्ष सन् १७७७ में संघ (कन्फेडरेशन) के मुख्य नियम तय किये गये। परन्तु सन् १७८१ तक उनके अनुसार कोई कानून नहीं बनने पाया। कॉंग्रेस को अलग-अलग उपनिवेशो पर कोई वास्तविक अधिकार न था; वह केवल एक सलाहकार सस्था थी, और अधिकार-प्राप्त सरकार की हैसियत से काम करने मे असमर्थ रही। जब तक इंगलैण्ड से युद्ध होता रहा, तब तक अलग-अलग राज्यो ने अपने आपसी भेद भावो को छोड़ दिया। बाद मे वे अपने संगठन यानी कॉंग्रेस की उपेक्षा करने लगे। होते होते सन् १७८७ मे वर्तमान विधान की रचना हुई, और अमरीका की सघ-सरकार निश्चित रूप से कायम हुई। संघ में शासन, व्यवस्था और न्याय के काम अलग अलग महकमो को सौंपे गए। व्यवस्था के लिए

काँग्रेस की दो सभाओं का संगठन हुआ; सिनेट और प्रतिनिधि-सभा। यह सिद्धान्त मान लिया गया कि सिनेट में तो अलग-अलग राज्यों के प्रतिनिधि रहे, और प्रतिनिधि-सभा में आबादी के हिसाब से सारी जनता के। शासन-अधिकार राष्ट्रपति (प्रेसीडेन्ट) को दिया गया, जिसकी स्थिति संघ में उसी तरह की थी, जैसी गवर्नरो की अपने-अपने राज्य मे। न्यायालयो को व्यवस्था और शासन से अलग रखा गया।

आरम्भ मे इस विधान को केवल एक सुविधा की चीज़ समझा गया। इसे राष्ट्रीय एकता कराने वाला बन्धन नही माना गया। राज्यों ने अपना पुराना रवैया जारी रखा। धीरे-धीरे उन्हे संघ-विधान की उपयोगिता मालूम हुई। उनका एक दूसरे के प्रति सन्देह और अविश्वास दूर हुआ। रेल और सड़कों की उन्नति होने से उनकी जनताओ का मिलना जुलना बढ़ा और वे आपस में मेल और उदारता का व्यवहार करने लगे। अब तक सब उपनिवेश केवल पूरब की तरफ समुद्र-तट पर थे। अब आदमी धीरे-धीरे पच्छिम की तरफ भी बढ़ने लगे। इस तरह उपनिवेशो की सख्या बढ़ने लगी, और वे संघ में शामिल होते गये। अब अलग अलग राज्य कुल मिलाकर ४८ हैं।

अमरीका की राष्ट्रीय एकता के पूरा होने में एक बाधा अभी बनी हुई थी। दक्खिन के राज्यो मे दासता की प्रथा थी, इस से उनका उत्तरी राज्यो से सामाजिक मेल नहीं हो रहा था। दास प्रथा ने इतना फ़रक पैदा कर दिया था कि दक्खिन वाले अपनी सरकार उत्तर वालो से अलग क़ायम करने के इच्छुक हो गये। परिणाम स्वरूप सन् १८६१ में एक गृहयुद्ध (सिविल वार) हुआ। इसमें आखीर मे जाकर दक्खिन के उपनिवेशों की हार हुई। सन् १८६५ में कानून द्वारा अमरीका के संयुक्त राज्यों से

दास-प्रथा उठा दी गई। इससे समानता बढ़ी। और उत्तर तथा दक्खिन के राज्यो का आपस में पूरा मेल हो गया।

अब संयुक्त राज्य अमरीका एक राष्ट्र है, उसकी सरकार संघात्मक है। अलग अलग राज्य उसके अंग हैं। उन्हें अपने अपने क्षेत्र मे ऐसे अधिकार है, जो उनके तथा संघ के विधान द्वारा उन्हे मिले है। संघ-सरकार उन सव से ऊपर है, और उसका विधान सामूहिक दृष्टि से उन सव राज्यो के विधान से उच्चतर है। संघ सरकार के हाथो मे ऐसे विषय और कार्य हैं, जिनका सम्बन्ध सव राज्यो से है, जैसे सेना, डाक, तार, रेडियो, टकसाल, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, वैदेशिक नीति आदि। अलग अलग राज्यो को वे विषय सौंपे गये है, जिन का उस राज्य से ही सम्बन्ध है—जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, पुलिस, निर्माण-कार्य, विवाह या तलाक आदि। इस तरह सघ और अलग अलग राज्यो के कार्यक्षेत्र और अधिकार विधान द्वारा निर्धारित हैं। वे एक दूसरे की सीमाओ मे हस्तक्षेप नही कर सकते। यदि संघ का किसी राज्य से किसी विषय मे विवाद या मतभेद हो तो उसका फैसला संयुक्त राज्य अमरीका की सब से बड़ी अदालत, सुप्रीम कोर्ट करती है। यदि कोई राज्य उसके फ़ैसले को नहीं मानता तो वह बाकी सब ४७ राज्यो का विरोधी गिना जाता है, इसलिए कोई राज्य इस का साहस नही करता।

अमरीका के संयुक्त राज्य की तरह रूस और स्विटजरलैण्ड आदि देशो मे भी संघ-राज्य कायम है। सबका इतिहास अलग अलग होने पर भी मूल बात एक ही है—कुछ राज्यों का एकीकरण। किसी संघ-राज्य की व्योरेवार बातो से हमें मतलब नहीं। यहाँ केवल यह विचार करना है कि इससे मनुष्य कहाँ तक एकता की ओर प्रगति करता हुआ मालूम होता है।

पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य नगर-राज्य से आगे बढ़ कर राष्ट्र-राज्य पर आया। यहाँ आने पर भी उसे अपनी रक्षा और उन्नति के लिए, और दूसरों के अन्याय से बचने के लिए अपनी शक्ति बढ़ाने की जरूरत मालूम हुई। इसलिए उसने कई कई राज्यो को मिलाकर संघ-राज्य कायम करने की योजना की, और कुछ बाधाओ, हिचकिचाहट और विफलताओ के बाद कहीं कहीं इसमे उसने सफलता भी पाई। इस तरह संघ-राज्य निश्चय ही राष्ट्र-राज्य से आगे की मंजिल है। इसमे अपने अगों के गुण दोष मौजूद रहते हैं। यदि इसके अधिकांश अंगों या प्रबल अगो में कोई गुण होता है, तो उनके प्रभाव से उस गुण का विस्तार संघ के दूसरे राज्यों मे भी हो सकता है। जैसे कि अमरीका के उत्तरी राज्यो मे दास-प्रथा के विरोध का भाव था, उन्होने दक्खिन राज्यो को दास-प्रथा का त्याग करने के लिए मजबूर कर दिखाया। इस तरह इस अंश मे मानवता का मान हुआ; और, विचारशील सज्जनो की दृष्टि मे संयुक्त राज्य अमरीका का गौरव बढ़ा।

परन्तु इसके साथ दूसरी बातें भी विचार करने की हैं। अमरीका मे अभी तक वहाँ के काले रंग के हब्शी लोगो के साथ जैसा रोमांचकारी दुर्व्यवहार होता है, वह किसी भी सभ्य और उन्नत कहे जानेवाले राज्य के लिए कलंक की बात है। अमरीका मे वर्णभेद यानी काले गोरे का फरक घातक रूप मे मौजूद है। फिर वहाँ लोगो मे पूंजीवाद और साम्राज्यवाद की अनिष्टकारी आकांक्षा भी भरी हुई है। निदान, संघ-राज्य के लिए न तो यही जरूरी है कि वह इन दुर्गुणों से मुक्त रहे, और न यही आवश्यक है कि उसमे इन दुर्गुणो का समावेश रहे। यह तो संघ के अलग अलग राज्यो के दलाबल पर निर्भर है कि वे अपने संगठित रूप

को कहाँ तक मानवता की दृष्टि से आगे बढ़ाते हैं। आवश्यकता है कि हर राज्य अपना आदर्श ऊँचा रखे और भरसक परिश्रम करके तथा कष्ट उठाकर अपने साथी राज्यों की शुद्धि और उत्थान के लिए कटिबद्ध रहे, और विश्व-राज्य के लिए अनुकूल क्षेत्र तैयार करने मे अपनी सारी शक्ति और सेवाएँ अर्पण कर दे। इस प्रसंग मे विशेष विचार आगे किया जायगा।

नवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

—o—

पूर्व युग के मनुष्यों ने छोटे छोटे दलों मे समाज की रचना की थी, उन्हीं दलों के लिये राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक नियमों की रचना की थी। किन्तु अब धीरे धीरे वे सारे संसार को संगठित करके ऐसे नियमों को बनाने के प्रयत्न में हैं, जो इस अखिल विश्व की समाज को एक वृहत् संगठन बनाये रखने में सफल हो सकें।

—*श्यामबिहारी दुबे*

जिस तरह एक आदमी को दूसरे आदमी से मेलजोल करने की जरूरत होती है, उसी तरह एक गाँव या नगर को दूसरे गाँव या नगर से, और एक राज्य को दूसरे राज्य से सम्बन्ध कायम करने की जरूरत होती है। इस अध्याय में हम विविध राज्यो के एक दूसरे से सहयोग के धीरे-धीरे बढ़ने पर विचार करेंगे। पहले हम यह जान लें कि कि किस तरह दूर-दूर के मनुष्यो में मेल बढ़ा और उन्हें एक दूसरे से आर्थिक या सामाजिक सम्बन्ध जोड़ना पड़ा।

शुरू ज़माने में आदमी का रहनसहन बहुत सीधा सादा और उसका जीवन बड़ा एकांगी था। जहाँ वह रहता था, वहाँ और उसके पाँच दस मील इधर उधर तक में उसकी सारी ज़रूरतें पूरी हो जाती थीं। उसकी दुनिया बहुत छोटी थी। उसका विचार-क्षेत्र परिमित था, उसका सुख दुख, उसकी दोस्ती दुश्मनी, उसकी सहानुभूति, क्रोध, ईर्षा आदि सभी का क्षेत्र बहुत सीमित था। उसे अपने से ज्यादह दूर रहने वालों से मिलने का प्रसंग बहुत कम आता था, उसके पास जाने के उन्नत साधनों के अभाव मे उसका संसार आम तौर पर कुछ गांवों या एक दो नगरो तक ही परिमित रहता था। आदमी अपनी ज़रूरत और सुविधा के अनुसार ही अपनी संस्थाएँ बनाता है और उनके स्वरूप में हेरफेर करता है। इसलिए उस समय के एकस्थानीय या अलहदगी के जीवन मे छोटे छोटे नगर-राज्यो से ही काम चल जाता था।

धीरे-धीरे परिस्थिति बदली। आदमी की ज़रूरतें बढ़ीं; उन्हे पूरा करने के लिए उसे दूर दूर तक दौड़ धूप करनी पड़ी। आने जाने के साधनो की ईजाद और उन्नति हुई। विज्ञान ने आदमी की अधिकाधिक मदद की। इस तरह अठारहवीं सदी से लोगों के आपसी सम्बन्ध में खास तौर से वृद्धि होने लगी। दूरी का सवाल हल होता गया। सैकड़ों और हज़ारो मील के फासले, जिनको पहले तय करना करीब-करीब नामुमकिन माना जाता था, अब आसान हो गये; न केवल इने गिने खास आदमियों के लिए, बल्कि हज़ारो लाखो आदमियो के लिए। महीनो और वर्षों की यात्राएँ अब दिनो और हफ्तो की रह गयीं। नतीजा यह हुआ कि स्वावलम्बी ग्राम या नगर-संस्थाओ का अन्त हो चला।

आदमी का निर्वाह अपने गाँव, शहर या निवासस्थान

की वनी चीजो से बहुत कम होने लगा। अब हमे न केवल दूसरे नगरो की, वल्कि अपने देश से वाहर की भी चीजो की जरूरत होती है। हमारा जीवन निर्वाह दूसरे देशो के सहयोग पर आश्रित है। यह बात किसी भी मामूली गृहस्थ का सामान देखने से जाहिर हो जाती है। संसार के किसी देश पर कुछ सकट आये तो उसका असर हमारी आयात निर्यात पर पड़ता है, और उसकी सूचना हमारे नगरो मे ही नहीं, गाँवों मे भी पहुँच जाती है।

भौतिक जगत की वात छोड़कर अब हम जनता का विचार करें। पुराने जमाने मे हर गाँव या नगर में अधिकतर वहाँ के ही निवासी पीढ़ी दर पीढ़ी रहते चले आते थे। उनका अपने पास के स्थानो के निवासियो से कुछ परिचय भले ही हो जाता था, वे दूर देशो के आदमियो के सम्पर्क मे नहीं आते थे। अब वह बात नही रही। दूर दूर के देशों की जनता के बीच में उन्हे अलग करने वाली जो दीवारें खड़ी थीं, उन्हे विज्ञान ने बहुत कुछ गिरा दिया है, और अब और भी अधिक तेजी से गिरा रहा है। हर देश के थोड़े वहुत आदमी दूसरे देशो मे रहते हैं, और वहां कितने ही विदेशियो का वहुत कुछ स्थाई निवास हो जाता है। भारतवर्ष की ही बात लीजिये। साधारण वर्षों मे यहाँ के वीस पच्चीस लाख आदमी खासकर मलाया, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, अमरीका आदि में रहते है, यो तो संसार के सभी प्रमुख भागो मे कुछ न कुछ हिन्दुस्तानी मिल जायँगे। इनमें से कुछ को तो विदेशो मे रहते पीढ़ियाँ बीत गईं। ये स्वभावत: उन देशो की ही उन्नति और सुख समृद्धि चाहते हैं, और अपनी शक्ति भर उसमे योग देते हैं।

इसी तरह यहाँ भारत में रहने वाले विदेशियो की बात लें। इंगलैण्ड यहाँ से पाँच छ: हजार मील दूर है, वहाँ के

निवासी अंगरेज़ तो यहाँ के अनेक स्थानों मे रहते ही हैं, उनमें से जो इंगलैण्ड की हुकूमत के कारण यहाँ रहते हैं, उनकी बात छोड़ दें,तो कितने ही वैसे भी रहते हैं। फिर वड़े वड़े शहरो—खासकर वम्वई, कलकत्ते और मदरास आदि मे चीन, जापान, इटली, जर्मनी, अमरीका, आस्ट्रलिया और अफ्रीका तक के निवासी रहते पाये जाते है। कोई व्यापार धंधा करता है; कोई कल कारखानो मे काम करता है, कोई सरकारी या गैरसरकारी नौकरी मे है। इनमे से कितने ही आदमियो की कई पीढ़ियाँ यहाँ ही हो चुकी हैं। इनके लिए भारतवर्ष अपने देश सरीखा हो गया है। ये और इनके अपने देशो मे रहने वाले भाई-बन्धु आदि भी यह चाहते हैं कि भारतवर्ष मे सुख-शान्ति रहे, उपद्रव न हो, अकाल, बाढ़ आदि का संकट न आये। यह कहा जा सकता है कि उनकी इस शुभकामना का वहुत कुछ कारण उनका स्वार्थ है; यहाँ की सुख-समृद्धि मे ही उन्हे अपना हित दिखाई देता है। परन्तु इसी बात की ओर तो हम पाठको का ध्यान दिलाना चाहते है। एक देश के हित में, भिन्न-भिन्न और दूर दूर के देशों के आदमी अपना हित समझें, यह अवश्य ही शुभ भविष्य की सूचना है। आज दिन ऐसे लोग कम है तो भविष्य मे ये अधिक होते जायँगे। निदान, अब कोई भू भाग, कोई देश वाकी संसार से अलग नहीं रह सकता। वैज्ञानिक ईजादो ने दूर दूर के आदमियो का आपसी सम्वन्ध वहुत वढ़ा दिया है। एक देश मे होने वाली घटना का असर उसी देश तक सीमित नही रहता। अव तो अमरीका मे सोने की माँग वढ़ने पर भारतवासी अपने जेवर वेचने लगते है। इगलैण्ड मे गेहूँ की खपत ज्यादह होने पर हमारी मंडियो मे उसका भाव चढ़ जाता है। ऐसी वातें हम हर रोज देखते हैं।

दूर दूर के आदमियों का ऐसा सम्बन्ध बढ़ने के साथ, किसी तरह की अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था कायम करने की आवश्यकता बढ़ती गयी, और वह कायम की गई। पिछले सवा सौ वर्ष मे इसमे बराबर तरक्की हुई है। सन् १८१५ से पहले कोई ऐसी संस्था न थी, जिसमे अलग-अलग देशों की सरकारें अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर विचार करने के लिए भाग ले सकती। धीरे-धीरे परिस्थिति बदली और ऐसी संस्थाओं की स्थापना करनी पड़ी। 'करनी पड़ी' इसलिए कहा जाता है कि ऐसी हर संस्था की स्थापना के लिए यह जरूरी था कि जो राज्य उस से सम्बन्ध रखे, वह अपनी थोड़ी बहुत स्वाधीनता का त्याग करे—अपनी कुछ प्रभुता, और अपने कुछ कल्पित 'राष्ट्रीय हितो' का अन्तर्राष्ट्रीय हितो के लिए त्याग करे। इसके लिए उसे यह निश्चय हो जाना अत्यन्त आवश्यक था कि उसके अपने क्षेत्र का असली हित-साधन उसी हालत मे होगा, जब वह पहले पूरी दुनिया के हित की तरफ ध्यान दे। व्यक्तियो की भांति, सस्थाओ और राज्यो की समझ में यह बातें जल्दी नहीं आती कि हमारा हित दूसरो के हित के साथ इस तरह मिला हुआ है कि सब का हित साधन करने से हमारा हित खुदबखुद सिद्ध हो जाता है, और यदि हम मे से हरेक केवल अपने स्वार्थ का विचार करता रहे तो किसी का भी असली और स्थायी हित साधन नहीं होता।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध कायम करने की जरूरत पहले पहल व्यापारिक और आर्थिक दृष्टि से हुई। उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में 'डाक-संघ' (पोस्टल यूनियन) कायम हुआ। इस संघ से जो-जो सुविधाएँ हुई, उनका अनुमान इस से पहले की परिस्थिति का विचार करने से अच्छी तरह हो सकता है।

पहले हर राज्य डाक का अलग-अलग महसूल ठहराता था, और उस राज्य की सीमा से बाहर जाने वाले खत-पत्रों का महसूल पत्र पाने वालों (विदेशियों) को देना पड़ता था। इस से बड़ी असुविधा और गड़बड़ होती थी। डाक महसूल की दर अलग-अलग रास्तों के अनुसार अलग-अलग थी—जैसे जर्मनी से आस्ट्रिया पत्र भेजने की तीन दर थीं, अमरीका से आस्ट्रेलिया पत्र भेजने में हर आधे औंस वज़न का महसूल किसी रास्ते से पाँच सेंट तो किसी रास्ते से १०२ सेंट तक था। आखिरकार यह असह्य मालूम होने लगा, और बहुत से राष्ट्रों ने मिल कर अन्तर्राष्ट्रीय डाक की व्यवस्था की।

इसी तरह धीरे-धीरे तार, बे तार के तार, और सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि के लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रबन्ध किया गया, जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय हित यानी सब देशों की भलाई के सामने परस्पर विरोधी राष्ट्रीय हितों को दबना पड़ा। सन् १९१३ मे इस तरह की ३३ अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ कायम हो चुकी थीं।

जब कि अलग-अलग देशों की सरकारें इस तरह की अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ बना रही थीं, उन देशो के कुछ नागरिक अपने हितो को मिलाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन कर रहे थे। सब से पहली अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस शायद सन् १८४० की, लन्दन मे होने वाली दासता-विरोधी सभा थी। यह सभा अलग अलग राज्यो के प्रतिनिधियो की नहीं थी, बल्कि उन राष्ट्रो के व्यक्तियो की थी। सन् १८४०-४९ मे ९ अन्तर्राष्ट्रीय सभाएँ हुईं। अस्सी वर्ष बाद सन् १९२०-२९ मे इनकी तादाद लगभग उन्नीस सौ तक पहुँच गयी।

अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ

इस तरह के अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का कुछ अनुमान, अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ के काम से हो सकता है। मशीनो और कल कारखानो का प्रचार बढ़ने से उन मे काम करने वाले मजदूरो की सुरक्षा का प्रश्न उन्नीसवीं सदी के मध्य मे पैदा हो गया था। सन् १९०० मे पेरिस मे मजदूरो की 'कानूनी हिफाज़त के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सभा' कायम हुई। इसके दो अधिवेशन सन् १९०६ और सन् १९१३ मे वर्न (स्विटज़रलैण्ड) मे हुए। पिछले महायुद्ध (१९१४-१८) के समय इसका काम अस्त व्यस्त हो गया। पर रूस के बोलशेविक आन्दोलन ने मजदूरो के सवाल को महत्व दे दिया। सन् १९१९ मे वर्न नगर मे अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ परिषद् हुई। उसमे यह तय हुआ कि पूँजीपतियो और मजदूरो में सहयोग कायम किया जाय।* वारसाई के सुलहनामे मे मज़दूर संघ का विधान दिया गया और बताया गया कि मजदूरो की हालत बहुत खराब और दर्दनाक है और उसमें जल्द सुधार होना ज़रूरी है। सुलहनामे मे विविध राष्ट्रों के पथ-प्रदर्शन के लिए नीचे लिखे सिद्धान्त दर्ज किये गये—(१) मजदूरी को बाजारी क्रय विक्रय (खरीद-फरोख्त) की चीज न माना जाय, यानी मजदूर ज्यादह मिलने से फायदा उठाकर मजदूरी कम न दी जाय। (२) मजदूरो और पूँजीपतियों दोनो को वैध आन्दोलन के लिए संगठन करने या संस्थाएँ बनाने का

---

* श्री० एफ़० जी० विल्सन ने लिखा था कि इस संगठन का उद्देश्य शायद यह है कि कुछ थोड़े से ऐसे छोटे मोटे सुधार कर दिये जायें, जिनसे पूँजीपतियों के खिलाफ सामाजिक क्रान्ति का खतरा जाता रहे।

अधिकार रहे। (३) मजदूरी की दर देश काल और निर्खों के अनुसार काफी रखी जाय। (४) जिन देशो में मजदूरों के लिए आठ घंटे का दिन और ४८ घंटे का सप्ताह नहीं माना जाता, उनमे इसे मनाने की कोशिश की जाय। (५) हर सप्ताह में मजदूरो को एक दिन की छुट्टी मजदूरी (वेतन) समेत दी जाय; वह दिन जहाँ तक हो सके, रविवार हो। (६) छोटे बालको से मजदूरी का काम कराना बन्द किया जाय; बड़े लड़कों से ऐसा ही काम लिया जाय जिसके उनकी शिक्षा और शारीरिक उन्नति में बाधा न हो। (७) पुरुषो और स्त्रियों को बराबर काम के लिए बराबर मजदूरी दी जाय। (८) मजदूरों के काम और मजदूरी आदि का जो ढंग कानून से तय हो. वह आर्थिक दृष्टि से न्यायसंगत हो। (९) हर राष्ट्र अपने यहाँ ऐसा प्रबंध करदे कि ऊपर लिखे सिद्धान्त ठीक-ठीक तौर से अमल में आते हैं या नहीं, इसकी जाँच हुआ करे, और उस जांच मे स्त्रियाँ भी भाग लिया करें।

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ में राष्ट्र-संघ के सदस्य-राष्ट्र तो थे ही, दूसरे राष्ट्र भी उसमे शामिल हो सकते थे। इस संघ के क्षेत्र के विस्तार का कुछ अनुमान इस बात से हो सकता है कि इसमें ५६ राष्ट्रो के चार-चार प्रतिनिधि शामिल थे—दो तो हर राष्ट्र की सरकार के, एक वहां के पूँजीपतियों का, और एक मजदूरो का। पूँजीपतियों और मजदूरो के प्रतिनिधियो को उनकी अपनी संस्थाओ की राय से, वहाँ की सरकार नियुक्त करती थी।

इस संघ की दो संस्थाएँ थीं—अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर परिषद और अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय। परिषद केवल प्रस्ताव पास करती और सिफारिश करती थी। वह किसी विषय का कानून नहीं बना सकती थी। जिस राज्य की व्यवस्थापक सभा, उचित

समझती, वही उस विषय का कानून बनाती थी। परिषद् में अंगरेजी और फ्रांसीसी ये दो भाषाएँ वरती जाती थीं। अधिवेशन जेनेवा में होता था। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय भी जेनेवा मे ही था। यह कार्यालय परिषद् के प्रस्तावो पर अमल करता था और परिषद् की सिफारिशो को अलग अलग राज्यो की सरकारो से मंजूर कराता था। यह संघ मजदूरों और पूँजीपतियो की अन्तर्राष्ट्रीय या राष्ट्रीय-सामाजिक समस्याओ पर भी विचार करता था। सघ के कार्यकारी मडल के स्थायी सदस्य ऐसे देशो के होते थे, जिनका औद्योगिक महत्व माना जाता था, जैसे बेलजियम, केनेडा, फ्राँस, जर्मनी, इंगलैण्ड, जापान, इटली और भारतवर्ष। इस विशाल संस्था का इतना सा परिचय भी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की प्रवृत्ति का अच्छा सूचक है।

राष्ट्र-सघ का अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग कार्य

अब हम इसी तरह की एक और संस्था के सम्बन्ध मे लिखते हैं, जिसका क्षेत्र इससे सी अधिक फैला हुआ था। यह है राष्ट्र-संघ या 'लीग-आफ-नेशन्स'। इसकी स्थापना जेनेवा में पहले योरपीय महायुद्ध के बाद सन् १६१६ मे हुई। इसका मुख्य उद्देश्य शान्ति कायम करना या युद्ध निवारण था, पर उसकी चर्चा अगले अध्याय मे की जायगी, यहाँ हम उसके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग कार्य पर ही विचार करेंगे। पहले सक्षेप मे इसका सगठन जान लेना चाहिये।

इस संस्था के सदस्य वे राष्ट्र होते थे, जो यह प्रतिज्ञा करते थे कि हम वाहरी हमलो से एक दूसरे की रक्षा करेंगे और आपस में, या दूसरे किसी भी राष्ट्र से, युद्ध नही करेंगे,

जब तक कि अपने झगड़ों को पंचायत के सामने फैसले या जाँच के लिए न रख लें, और तीन महीने का समय फैसले के लिए न गुजार दें ; जो राष्ट्र अपनी प्रतिज्ञा को तोड़ेगा वह और सब सदस्य-राष्ट्रों का विरोधी समझा जायगा, और उन सब का यह कर्तव्य होगा कि प्रतिज्ञा भंग करने वाले सदस्य-राष्ट्र से आर्थिक और राजनैतिक सम्बन्ध तोड़ दें।

राष्ट्र-सघ की नीचे लिखी तीन समितियाँ थीं—(१) असेम्बली (२) कौंसिल और (३) सेक्रेटेरियट। इन से मिली हुई कुछ विशेष कार्य करने वाली और सलाह देने वाली समितियाँ भी थीं, जिनका आगे उल्लेख किया जायगा। असेम्बली के सदस्य वे सब राज्य थे, जो राष्ट्र-संघ के सदस्य थे। हर सदस्य-राज्य को तीन-तीन प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था, परन्तु उसका मत्त एक ही होता था। असेम्बली के अधिवेशन जेनेवा में होते थे; हर साल प्रायः एक अधिवेशन होता था। कौंसिल के कुछ सदस्य स्थायी, और कुछ अस्थायी होते थे। इंगलैण्ड, फ्रांस और इटली आदि स्थायी सदस्य थे, जिनका कभी चुनाव नहीं होता था। इनका प्रभाव भी बहुत अधिक था। कौंसिल के अधिवेशन प्रति वर्ष कम से कम चार होते थे। वह साल भर तक अपना काम कमीशनों और समितियों द्वारा करती थी।

सेक्रेटेरियट कार्यालय के नीचे लिखे १२ विभाग थे—(१) राजनैतिक विभाग, (२) आर्थिक विभाग, (३) रफ्तनी विभाग, (४) प्रवन्ध कमीशन और अल्पसंख्यक विभाग, (५) आदेशयुक्त शासन विभाग, (६) निशस्त्रीकरण विभाग, (७) स्वास्थ्य विभाग, (८) सामाजिक विभाग (९) बौद्धिक सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय (ब्यूरो) विभाग, (१०) कानून विभाग, (११) सूचना विभाग, (१२) राजस्व विभाग।

इनके अलावा कार्यालय सार-संगह, अनुवाद, प्रकाशन आदि का भी काम करता था।

राष्ट्र-संघ की कई सहायक सस्थाएँ थी। इनमे से कुछ स्थायी थीं, जो सघ के सब तरह के काम किया करती थीं; और कुछ अस्थायी थीं, जो आवश्यकता होने पर बना ली जाती थीं। ये सहायक संस्थाएँ दो तरह की थीं— (१) खास कामो के लिए विशेषज्ञो की समितियां, (२) परामर्श समितियाँ। विशेषज्ञो की समितियाँ तीन थीं—(क) अर्थ और राजस्व समिति (ख) रफ्तनी समिति. और (ग) स्वास्थ्य समिति। अर्थ और राजस्व समिति ने कई ऐसे देशो के आर्थिक पुनर्गठन की योजनाएँ बनायीं, जिनकी आथिक साख और मुद्रा यानी टकसाल नीति को पिछले योरपीय महायुद्ध के कारण धक्का लगा था। इसकी योजनाओ के अनुसार ही अन्तर्राष्ट्रीय ऋण का प्रबन्ध किया। मिसाल के तौर पर राष्ट्र-संघ की सहायता से सन् १९२२ मे आस्ट्रिया दिवालिया होने से बच गया, उसके बजट का संतुलन हो गया, वहां के सिक्को का मूल्य ठहर गया, बैङ्को की बचत बीस गुना हो गयी, लोगो के रहन-सहन का खर्च कम हो गया और बेकारी घटकर काबू मे आ गयी। सन १९२४ मे दूसरे देशो की तरह आस्ट्रिया मे भी आर्थिक संकट आया, परन्तु राष्ट्र-संघ की सहायता से वह उसका सामना कर सका। चौदह वर्ष राष्ट्र-संघ द्वारा सूत्र संचालित होने पर सन् १९३६ मे आस्ट्रिया ने स्वयं अपना कार्य सभाला और राजस्व का उत्तरदायित्व ग्रहण किया।*

रफ्तनी समिति के सुपुर्द यह काम था कि भिन्न भिन्न देशो के बीच होने वाली रफ्तनी स्वतंत्रता पूर्वक हो सके, और यदि

---

* A Lasting Peace नाम की पुस्तक के आधार पर।

कोई वाधा हो तो उसके विषय में समिति राष्ट्र-संघ की कौंसिल को परामर्श दे। इस संस्था ने इस विषय की पुरानी संस्थाओ को भी रहने दिया, और उनके कार्य को अधिक व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया।

स्वास्थ्य समिति के काम की मिसाल यह है कि इसने एक मलेरिया कमीशन नियुक्त किया था, जो संसार के विविध देशो में जाकर इस रोग की जांच करे, और इस रोग के नष्ट होने के उपाय सुझावे। इस कमीशन के सदस्यों में विविध राष्ट्रों के विशेषज्ञ थे और उन्होने पैलेस्टाइन, स्पेन, सयुक्त राज्य अमरीका, यूगोस्लेविया, इटली, बलगेरिया, यूनान, रूस और भारत आदि देशो मे जाकर वहाँ मलेरिया फैलने की अवस्था, लोगो के रहन सहन, मलेरिया फैलाने वाले मच्छरो की आदतें आदि बातो और इस रोग को न फैलने देने के उपायो पर विचार किया। उनकी इस विषय की रिपोर्ट अनेक जानने योग्य बातो से भरी थी, वह विविध राज्यो के स्वास्थ्य विभागो के अधिकारियो के पास भेजी गयी। इस तरह संसार मे फैले हुए इस रोग की रोक और इलाज के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मेल जोल बढ़ाने का कार्य किया गया। स्वास्थ्य समिति एक साप्ताहिक रिपोर्ट भी प्रकाशित करती थी; उसमे प्लेग, चेचक आदि के उन रोगियो का ब्योरा रहता था, जो बन्दरगाहो मे हो, जहाँ से रोग संसार के विविध देशो मे फैल सकते हैं। समिति का एक दफ्तर सिंगापुर मे था, जो हर रोज यहां से होकर एशियाई बन्दरगाहो में आने वाले यात्रियो की बीमारियो के बारे मे बेतार के तार द्वारा समाचार भेजता था।

राष्ट्र-संघ के विशेषज्ञो के काम के उदाहरण-स्वरूप यह कहना है कि उनकी सन् १९३० की कमेटी की रिपोर्ट से चीन की

सरकार ने सार्वजनिक स्वास्थ्य, रेल सड़क आदि, अर्थ और राजस्व, शिक्षा, और बाढ़ से रक्षा आदि विषयो में लाभ उठाकर अपने देश का बहुत सुधार किया।

राष्ट्र-संघ को परामर्श देने वाली मुख्य मुख्य संस्थाएँ ये थीं— १—निशस्त्रीकरण कमीशन, २—जल-थल-वायु सेना कमीशन, ३—आदेश (मेंडेट) कमीशन। ४—बालको और लड़कों के स्वास्थ्य और रक्षा सम्बन्धी कमीशन। ५—अफीम और दूसरे विषैले पदार्थों के अनियमित क्रय विक्रय सम्बन्धी कमीशन, ६—सहकारिता कमीशन। ये समितियां अपने अपने विषय की ऐसी सामग्री तैयार करती थीं, जो राजनैतिक संस्थाओ के सामने रखी जा सके।

राष्ट्र-संघ के विधान में कहा गया था कि स्त्रियो और बच्चों की, और अफीम और विषैली चीज़ों की खरीद बिक्री के बारे में राष्ट्रो के बीच जो इकरार हुए हैं, वे कहाँ तक काम में आते हैं, उसकी जांच की जाय। राष्ट्र-संघ ने इस जाँच के अलावा गंदे या अश्लील साहित्य को एक देश से दूसरे देश मे जाने से रोकने, जहाँ दास-प्रथा थी उसे बन्द करने, युद्ध के निराश्रित सिपाहियों को सहायता पहुँचाने, और युद्ध के असमर्थ कैदियो को उनके घर पहुँचाने का भी उद्योग किया। अफीम और दूसरी नशीली चीज़ो की गैर-कानूनी बिक्री को रोकने के लिए संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय इकरारनामा तैयार किया और उस पर विविध राष्ट्रो की सम्मति और दस्तखत हासिल करने की कोशिश की।* इसी

* राष्ट्र-संघ न तय किया था कि किसी देश से अफीम की निर्यात उतनी ही हो, जितनी औषधियों के लिये ज़रूरी हो। पहले भारत सरकार बहुत सी अफीम चीन भेजती थी। अफीम सम्बन्धी समझौते पर दस्तख़त करने वालों में भारत-सरकार के भी होने से, यह अनैतिक-व्यापार बन्द हो गया।

तरह संघ ने स्त्रियो और बच्चो की खरीद बेच को रोकने का उद्योग किया। सघ ने दो कमेटियाँ बनाईं, जिनमें से एक अफीम के यातायात के सम्बन्ध मे और दूसरी बच्चो और लड़को की रक्षा और स्वास्थ्य के विषय मे काम करती थी। संघ का सामाजिक विभाग इन दोनो कमेटियो के दफ्तर का काम करता था।

बौद्धिक सहकारिता कमेटी सन् १९२२ मे क़ायम हुई थी। यह, बौद्धिक सहकारिता सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो पर विचार करती और संसार मे बौद्धिक सम्बन्धो की वृद्धि करने का कार्य करती थी। यह स्पष्ट ही है कि विविध राष्ट्रो के विद्वानो के पारस्परिक सम्पर्क से वैज्ञानिक उन्नति और शान्ति के लिए अनुकूल वातावरण होने मे सहायता मिलती है।

राष्ट्र-संघ के काम मे दूर दूर के, अलग अलग समाजो के, स्त्री-पुरुष शामिल थे। इनमे राजनीतिज्ञ, मजदूर और वैज्ञानिक सभी तरह के लोग थे। इनकी संस्कृति, रहन सहन आदि अलग अलग तरह के थे। पर सब के मन मे एक सीमा तक यह विचार रहता था कि हमे एक दूसरे का दृष्टिकोण जानने और समझने की कोशिश करनी चाहिए। ऐसी भावना का हितकर प्रभाव केवल राष्ट्र-संघ के प्रधान कार्यालय तक ही परिमित नहीं रहा, बल्कि दूर दूर के देशो पर भी पड़ा।

ब्राजील के एक विद्वान एम० आर० फ़र्नेंडिस के सन् १९२५ के नीचे लिखे कथन से, राष्ट्र-संघ के महत्व और प्रभाव पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। "अन्याय का निषेध करने, षडयन्त्रो को रोकने, और लोगो की न्यायमूलक मॉगो के अनुकूल लोक-मत बनाने के लिए कोई पुस्तक, समाचारपत्र या किसी राजनीतिज्ञ का पत्रव्यवहार उतना काम का नही है, जितना

राष्ट्र-संघ की असेम्बली का मंच है। इस मंच पर खड़े होकर जो आदमी व्याख्यान देता है, वह ५५ देशो के प्रतिनिधियो को को लक्ष्य करके बोलता है।......दो सौ से अधिक अख़बारों के प्रतिनिधि सङ्घ की असेम्बली मे मौजूद थे। उन्होने जेनेवा के समाचार और टिप्पनियो का, और अपने मन पर पड़ी हुई छाप का, प्रकाशन सभ्य जगत मे किया था। बहुत सी शान्ति-संस्थाओं के, खासकर सयुक्त राज्य अमरीका के संवाददाता या प्रतिनिधि वहाँ उपस्थित हुए थे। गुणो और परिमाण के विचार से, किसी विषय का जितना प्रचार असेम्बली के द्वारा होता है, उतना किसी दूसरी सस्था के द्वारा नही हो सकता। और, यह प्रचार लोकतंत्रवादी सरकारो पर लोकमत का प्रभाव डालने के लिए बहुत ही सफल होता है।"

ऊपर के विवेचन से ज़ाहिर है कि खासकर पिछले सौ वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध उत्तरोत्तर बढ़ता रहा है। यह सम्बन्ध चाहता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सरकार का संगठन हो, विविध राज्यो के एक दूसरे से संघर्ष का अन्त हो, और संसार मे शान्ति बनी रहे। इस दिशा में हमने कहाँ तक प्रगति की है, इस का विचार अगले अध्याय में किया जायगा।

—:o:—

दसवां अध्याय

शान्ति के प्रयत्न

शान्ति की विजय युद्ध की विजयों की अपेक्षा अधिक स्थायी और दृढ़ होती है। —एन० एम० कुलकर्णी

प्रिंस पीटर क्रोपोटकिन ने कहा है एक ही युद्ध से, युद्ध के समय और उसके बाद इतनी हानि हो सकती है, जितना सैकड़ों वर्ष के लगातार आपसी मेल मिलाप से लाभ हो। इससे जाहिर है कि युद्ध को बन्द करने और शान्ति बनाये रखने की कितनी जरूरत है। इस अध्याय में हम ऐसे प्रयत्नो के बारे में लिखेंगे, जिनका मुख्य उद्देश्य आपस के लड़ाई झगड़ो को मिटाना रहा है।

बहुत ही पुराने जमाने की बात छोड़ कर यह तो कहा ही जा सकता है कि अब से ढाई हजार साल पहले यूनान के नगर-राज्यो ने अपना एक संघ बनाया था, जिसका उद्देश्य उनके आपसी युद्धो को रोकना, और यदि युद्ध हो ही जाय तो युद्ध में भी एक निश्चित आचरण को अमल में लाना था। इन यूनानी राज्यो ने एक संधि-पत्र में प्रतिज्ञा की थी कि हम एक दूसरे के नगरो को नष्ट नहीं करेंगे, एक दूसरे के मंदिरो की सम्पत्ति को नुकसान नहीं पहुँचावेंगे; युद्ध हो या शान्ति, हम किसी के पीने के पानी की व्यवस्था में बाधा नही डालेंगे, और, जो राज्य इन शर्तों को तोड़ेगा, उसे दूसरे राज्य दंड देंगे। यह बात बहुत शिक्षाप्रद है कि जब यूनानियो ने अपनी इस प्रतिज्ञा की अवहेलना की, तभी से उनका राजनैतिक और सांस्कृतिक पतन शुरू हो गया।

इसके दो सौ वर्ष बाद बौद्ध सम्राट अशोक एक संस्था के रूप में अनेक राज्यों के सामने आता है, वह दूसरे देशों को जबरदस्ती विजय करने की प्रथा बन्द करता है और स्वयं अपनी मिसाल और अपनी राजकीय आज्ञाओं द्वारा प्रेम, शांति और सहिष्णुता के लिए अपील करता है। उसके एक शिला-लेख का कुछ अंश यह है—"हमारे पुत्र पौत्रगण नया देश जीतने की कभी इच्छा न करेंगे। अगर उनमे कभी देश विजय की प्रवृत्ति पैदा हो तो वे उसे रोक कर शान्ति और नम्रता में ही आनन्द अनुभव करें और धर्म-विजय को ही सच्ची विजय समझें, क्योकि इससे इह-काल और पर-काल (इस लोक और पर-लोक) दोनो में सुख होगा।"

इसके बाद जिसे यूरोप वाले 'मध्य युग' कहते है, उसमे वहाँ के ईसाई देश धार्मिक बन्धुत्व मानते थे, यानी यह कि एक धर्म के मानने वाले सब भाई-भाई हैं; और पोप जो कि ईसाई धर्म का सबसे बड़ा आचार्य था, उन सब के झगड़े निपटाया करता था। उसकी मध्यस्थता से कई ऐसे झगड़े शान्त किये गये, जिनसे यूरोप की शान्ति भंग होने की आशंका थी मध्य युग के बाद पुनरुत्थान ('रिनेसाँ')-काल मे, यूरोप में धार्मिक भाईचारे का स्थान राष्ट्रीय भावना ने ले लिया। फिर भी वहाँ के विचारशील आदमी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के बारे मे विचार करते और लिखते रहे; इनमे डेन्टे, इरे-स्मस, ग्रोटस, रूसो, केन्ट और बेन्थम आदि के नाम प्रसिद्ध है।

यूरोप के विविध राज्यो का संगठन करने का कुछ विशेष प्रयत्न सन् १८१५ में हुआ। उस समय रूस के ज़ार अलेग्ज़ेन्डर पहले के नेतृत्व मे रूस, प्रशिया और अस्ट्रिया के शासको ने 'पवित्र-सङ्घ' ('होली एलायंस') की योजना की, जिसमें उन्होने यह प्रतिज्ञा

की कि हम सव ईसाई-धर्म-सिद्धान्तो के अनुसार राज्य करेंगे, और, आपस मे लड़ाई झगड़ा न करेंगे। यह योजना भी बहुत समय तक न चली। वैज्ञानिक साधनों के बढ़ने के साथ साथ वलवान राष्ट्रों की शक्ति और बढ़ गयी, वे निर्बल राष्ट्रो को अपने अधीन करने लगे। सघर्ष बढ़ चला। उन्नीसवी सदी मे पश्चिमी यूरोप मे वहुत समय तक घातक युद्ध हुए। युद्ध की आशका हर समय वनी रहने लगी।

यहाँ यह वता देना जरूरी है कि पिछली सदी के युद्ध अधिकतर 'शक्ति-संतुलन' क़ायम रखने के बहाने लड़े गये। यूरोप की राजनीति का एक मुख्य सिद्धान्त 'शक्ति-संतुलन' रहा। एक दूसरे के प्रति अविश्वास होने के कारण राज्य गुप्त संधियाँ और गुटबन्दी करते रहे। हर पक्ष ने यह कोशिश की कि उसकी शक्ति विरोधी पक्ष से किसी तरह कम न रहे, यदि उससे अधिक नहीं, तो बराबर अवश्य हो। इसे ही 'शक्ति-संतुलन' नीति कहा गया है। प्रसिद्ध लेखक नार्मन एञ्जल ने एक लेख में कहा था—'हमारे (अँगरेजो के) हित प्रत्यक्ष रूप से यूरोप में नहीं है, वे समुद्र पार के देशो मे हैं। उन हितों को हम उसी समय तक सुरक्षित रख सकते है, जव तक यूरोप के किसी एक राज्य की शक्ति दूसरे राज्य की शक्ति से बढ़ने न पावे। परन्तु यदि यूरोप का कोई राज्य—नेपोलियन के अधीन फ्रांस या क़ैसर विलयम के अधीन जर्मनी—यूरोप के अन्दर की प्रतिद्विन्दता से इतना मुक्त हो जाय कि वह निर्विघ्न अपनी सारी शक्ति हमारे विरुद्ध लगा सके तो संतुलन सिद्धान्त के अनुसार हमारे संसार भर में फैले हुए समुद्र पार के उपनिवेशों की रक्षा खतरे में पड़ जायगी।'

शक्ति-संतुलन सिद्धान्त का यह आधार कैसा कमजोर है,

यह सहज ही समझ में आ सकता है। स्वार्थ, आशंका, भय, और अविश्वास उसकी जड़ मे है। ऐसे कमज़ोर आधार पर शान्ति बनाये रखने की आशा दुराशा मात्र है।

आखिरकार, युद्धो की वृद्धि और विनाशकता ने जनता की नीद हराम कर दी। विचारवान आदमी युद्धो को समाप्त करने, और यदि ये समाप्त न हों तो कम से कम इन्हे घटाने या नियन्त्रित करने के उपाय सोचने लगे। महाकवि टेनिसन ने लोगो के सामने उस उज्ज्वल भविष्य का चित्र पेश किया, 'जब लड़ाई का बाजा बजना बन्द हो जायगा, युद्ध-पताकाएँ लपेट दी जायँगी, और मनुष्य मात्र की पार्लिमेंट और संसार भर का सङ्घ कायम होगा।'

विश्व-शन्ति और आपसी समझौतो के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय सभा सम्मेलनो की धूम मच गयी। उनकी तादाद बराबर बढ़ती गई। उनमे खास महत्व की वे अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्सें है, जो सन् १८६६ और १६०७ मे हालैण्ड के हेग नगर मे हुई। उन दोनों को 'मानव जाति की पार्लिमेंट' कहा गया है। उनकी योजना के अनुसार एक अन्तर्राष्ट्रीय पंचायती न्यायालय कायम किया गया, जिस मे सब राज्य अपने विवादग्रस्त मामले पेश कर सकते थे। शुरू मे इस न्यायालय ने राज्यो के बहुत से मामले तय किये और इस का फैसला उन राज्यो ने माना। पर इस न्यायालय की उन्नति बहुत सन्तोषप्रद न रही।

पहले यूरोपीय महायुद्ध के बाद राष्ट्र-सङ्घ के द्वारा सन् १६२२ मे हेग नगर मे ही एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय कायम हुआ। इसे 'स्थायी' इसलिये कहा जाता है, क्योंकि यह हमेशा काम करने के लिए था। इससे पहले का न्यायालय हर बार जरूरत पड़ने पर नये जज चुनकर बना लिया जाता था। स्थायी

न्यायालय के दो काम थे—दो या अधिक राज्यों के बीच का जो झगड़ा सामने आवे, उसका फैसला करना, और राष्ट्र-सङ्घ समय समय पर जो विषय उसके सुपुर्द करे, उस पर सलाह देते रहना। इसका फैसला मानना उन्हीं राज्यों का फर्ज होता था, जिनमें झगड़ा होता था; दूसरे राज्यों या दूसरे विषयों पर इसका कोई बन्धन न था, हाँ इसके फैसले आखरी होते थे, उनकी कहीं अपील न थी।

राष्ट्र-संघ का काम

अब हम १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की सब से बड़ी कोशिश का कुछ विस्तार से जिक्र करते हैं, जिससे मालूम हो जाय कि इस काम में कहाँ तक तरक्की हुई, और क्या कमी रही। यह कोशिश राष्ट्र-संघ नाम की संस्था द्वारा की गयी, जो सन् १९१९ में कायम हुई। इस का संगठन पहले बताया जा चुका है। इसने तय किया कि हर राष्ट्र की परिस्थिति और भौगोलिक अवस्था की जाँच करके उसके शस्त्रास्त्र अधिक से अधिक घटाने की योजना तैयार की जाय। ऐसी योजनाओ पर, हर दसवें वर्ष फिर विचार किया जाय और उनका संशोधन किया जाय। इस निशस्त्रीकरण के साथ-साथ बीच-बचाव और सब की रक्षा के प्रश्न का भी सम्बन्ध था। बीच-बचाव का अर्थ है, शान्ति के साथ आपसी कलह मिटाना, जिससे भविष्य मे युद्ध के साधनो की जरूरत ही न रहे। हर राष्ट्र की रक्षा दूसरे राष्ट्रो के शान्तिमय विचारो पर निर्भर होती है, इसलिए राष्ट्र-संघ की यह कोशिश थी कि सब राष्ट्र एक साथ तय की हुई योजना के अनुसार अपने-अपने शस्त्रास्त्र अधिक से अधिक घटा कर रखें।

राष्ट्र-संघ की एक परामर्श-समिति इस काम के लिए थी कि जल सेना, स्थल सेना और वायु सेना के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करके कौंसिल को रिपोर्ट और सलाह दिया करे।

शुरू में राष्ट्र-संघ का अलग-अलग राज्यो पर अच्छा असर पड़ा। उसने उनके कई आपसी झगड़े तय किये, जिनमें पन्द्रह वीस काफी गहरे थे। एक मिसाल यहाँ दी जाती है। अक्तूबर १९२५ में बलगेरिया राज्य की सीमा पर एक यूनानी संतरी को गोली मार दी गयी। तीन दिन मे यूनान की सेना ने बलगेरिया पर चढ़ाई करदी। इस मौके पर राष्ट्र-संघ ने तुरन्त दखल देकर आक्रमण रोक दिया। साथ ही राष्ट्र-संघ की कौंसिल ने सर एच० रम्बोल्ड की अध्यक्षता में एक निरपक्ष कमीशन इस लिए भेजा कि मौका देखकर झगड़े का मूल कारण मालूम करे, इस बात की जाँच करे कि दोष किस का है, और ऐसी घटना फिर कभी न होने पावे, इस के लिए उपाय सुझावे। यह काम विना हिचक के किया गया। जब फिर कौंसिल की मीटिंग दिसम्बर मे हुई, तो यूनान ने हर्जाने के तौर पर पैंतालीस हजार पौंड देना मजूर किया और दोनो राज्यों की सरकारों ने भविष्य मे ऐसी घटनाओ को रोकने के सम्बन्ध मे राष्ट्र-संघ की योजना मान ली।

इस तरह संघ को शुरू में खासी सफलता मिली। पर पीछे यह बात न रही। सन १९२९ मे संसार में आर्थिक संकट हुआ, तो सब राष्ट्र अपनी-अपनी घरू समस्याओं में लग गये, अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ो को सुलझाने की ओर ध्यान नहीं दिया गया, खासकर जब कि झगड़े यूरोप से बाहर के थे। सितम्बर १९३१ की एक बात लें। जापानी सेना ने चीन के मंचूरिया प्रान्त के मकदन नगर पर हमला करके उस पर कब्जा कर लिया। इस

पर संघ की कौंसिल की बैठक मे चीन के प्रतिनिधि ने जाँच कमीशन नियुक्त किये जाने का आग्रह किया। जापानी प्रतिनिधि इसके खिलाफ था; अमरीका ने भी कमीशन मे भाग लेना पसन्द नही किया। इस लिए राष्ट्र-संघ ने इस मामले में पड़ने से इनकार कर दिया। जापान का हमला बढता गया। आखिर जैसे तैसे कमीशन मुकर्रर हुआ, और उसने अपनी रिपोर्ट दी। समझौते की कोशिश की गई। जापान की सरकार ने कमीशन की तजवीजें मन्जूर न की, और अन्त मे मार्च १९३३ को जापान ने राष्ट्र-संघ से त्यागपत्र देकर अपना सम्बन्ध तोड लिया।

राष्ट्र-सघ इस मामले मे बुरी तरह असफल रहा। इस का कारण उसके स्थायी सदस्यो की कूटनीति और अपने अपने स्वार्थों की चिन्ता थी। अगर वे दृढ़ता के साथ शान्ति का प्रयत्न करते तो अकेला जापान उनके विरोध करने का तो क्या, उन्हे अप्रसन्न करने का भी साहस न कर सकता। 'यदि तोकियो (जापान) से राष्ट्र-सघ के बाकी सब सदस्य अपने-अपने राजदूतों और मन्त्रियो को बुला लेते तो जापानी सरकार तुरन्त ही अपने युद्धवादियो को दबा देती। यदि जापानी युद्धवादियो को यह मालूम हो जाता कि युद्ध के लिए उनको दूसरे देशो से अस्त्र-शस्त्र और पेट्रोल आदि न मिलेंगे तो वे कभी भी रणभूमि मे कदम न रखते। अगर जापान का माल दूसरे देशो मे न लिया जाता तो जापान का 'येन' सिक्का इतनी जल्दी गिर जाता कि आर्थिक कारणो से ही जापान को शीघ्र युद्ध बन्द कर देना पड़ता। इसमे भी कुछ शक नही कि अगर ग्रेट ब्रिटेन ने ही इन साधनो मे से किसी का उपयोग किया होता तो सारा संसार उसका साथ देता।'

राष्ट्र-संघ की शिथिलता से और उसके मेम्बरो की अनुदारता और तुच्छ स्वार्थपरता से जापान को अन्तर्राष्ट्रीय हित के विरुद्ध काम करने की हिम्मत हुई. इससे चीन को तो नुकसान पहुँचा ही, राष्ट्र-संघ के आदर्शों और उद्देश्यो को भी गहरा धक्का पहुँचा। निशस्त्रीकरण परिषद् का काम पहले भी ईमानदारी से नहीं हो रहा था, अब तो वह परिषद् निर्जीव ही हो गई। उसमे हिस्सा लेने वाले राज्यों ने अपने शस्त्रास्त्र या हथियार कम करने की नीति छोड़ दी। जापान की मिसाल से इटली का भी हौसला बढ़ा, उसने अबीसीनिया यानी इथियोपिया को धर दबाया। राष्ट्र-सङ्घ के ढीलेपन और निकम्मेपन ने ही जर्मनी मे हिटलर की शक्ति बढ़ाई। यूरोप मे अनेक उलटफेर हुए, जिनका आखरी नतीजा इस समय का महायुद्ध है, जो १९३९ में शुरू हुआ। इस तरह राष्ट्र-सङ्घ की विफलता की जिम्मेवारी उन राष्ट्रों पर है, जिन्होने अपनी कायरता या खुदगरजी के कारण अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से काम न लिया, और विश्व-शान्ति के लिए अपनी ताक़त और अपने असर का उपयोग न किया।

कुछ लोगों की राय है कि राष्ट्र-सङ्घ के पास अन्तर्राष्ट्रीय सेना ज़रूर होनी चाहिए थी। यह सेना फ्रांस की विदेशी सेना के ढंग पर होती। * अगर राष्ट्र-संघ के पास काफी सेना होती

* फ्रास की विदेशी सेना मे ससार के प्राय सभी जातियों या राष्ट्रों के लोग शामिल थे, उसके अफसरो में एस्किमो, इटेलियन, अंग्रेज, ज़ुलू, ईरानी और चीनी भी थे। अलग-अलग जातियों या राष्ट्रों के लोगों के मेल से उनके जीवन पर कोई बुरा असर नहीं पड़ता था; उसके सैनिकों में झगड़े बहुत कम होते थे। वह सब तरह के अस्त्र शस्त्रों से लैस थी, उसे बिल्कुल आधुनिक ढंग की युद्ध-शिक्षा दी जाती थी, और धीरे-धीरे फ्रांसीसी भाषा सिखायी जाती थी।

तो सङ्घ अलग अलग राज्यों के आपस मे लड़ने का मौका न आने देता और संसार में शान्ति बनाये रखने मे सफल होता। लेकिन ये लोग भूल जाते हैं कि राष्ट्र-संघ में कुछ इने गिने बहुत बलवान राष्ट्रो का बोलबाला था। अगर राष्ट्र-संघ की मातहती मे बहुत सेना रहती तो वह उन राष्ट्रो के ही इशारे पर तो काम करती।

कुछ राजनीतिज्ञो का कहना है कि राष्ट्र-सघ की विफलता का कारण उसके विधान यानी नियमो की खराबी थी। परन्तु असली बात यह है कि संघ के सदस्यो में सचाई, हिम्मत, दूसरो की भलाई का ख्याल, और अपने उद्देश्य के लिये कष्ट सहने और और त्याग करने की भावना होती तो उनकी संस्था, विधान में दोष होते हुए भी सफलता के साथ काम करती रहती। जब सदस्यो में इन गुणो का अभाव या इनकी कमी होती है तो संस्था का काम कभी ठीक-ठीक नहीं चल सकता और वे विधान की बारीकियो में उलझ जाते हैं, और अपनी विफलता का दोष विधान पर मढ़ा करते हैं। राष्ट्र-संघ का विधान बड़े-बड़े राष्ट्रों ने बनाया था, यदि उनमे अपने उद्देश्य के लिए लगन होती, यदि वे सबके भले की भावना से प्रेरित रहे होते, यदि वे विश्व-शांति के प्रश्न को उतना ही महत्व देते जितना अपने-अपने राष्ट्रों की रक्षा को, और उसके लिए काफी जोखम उठाने तैयार रहते तो राष्ट्र-संघ को यह दुर्दिन देखने का मौका न आता; राष्ट्र-संघ जिन्दा रहता और जरूरत के मुताबिक वह अपने विधान में भी परिवर्तन कर लेता। जीवित संस्थाएँ अपने विधान में देश और काल के अनुसार सुधार किया ही करती है।

जो हो, संघ की विफलता का दोष उसके विधान पर मढ़ना उचित नही है। संघ का संगठन ही ठीक नहीं था। कहने को तो

उसका दरवाजा संसार भर के राज्यों के लिए खुला हुआ था, पर असल में उसकी बागडोर कुछ बड़े-बड़े राज्यो के हाथ में थी, जिन्होने अनेक भू-भागो को अपने अधीन कर रखा था, और जो पहले महायुद्ध के बाद की संधि से अपना साम्राज्य और प्रभुता खूब अधिक बढ़ा चुके थे। ये राज्य अपने अधीन प्रदेशो को आजाद करने के लिए तैयार न थे। इनमें त्याग की वह भावना ही न थी जो विश्व-शान्ति की चिन्ता करने वालों मे होनी बहुत जरूरी होती है। वे कहीं सभ्यता फैलाने के नाम से, कहीं दूसरो को शासन-कार्य की शिक्षा देने के बहाने से, कही निर्बलो या अल्पसख्यको की रक्षा करने की आड़ मे, असगठित या पिछड़े हुए देशो को अपने अधीन रखकर उनकी पैदावार या सस्ती मजदूरी से लाभ उठाते थे। उनमे से कुछ को ये अपना अधीन देश न कहकर राष्ट्र-संघ के आदेशानुसार शासित ('मेंडेटेड')* या रक्षित प्रदेश आदि नामो से पुकारते थे। पर इससे उनकी हालत मे खास फरक नहीं पड़ता।

अब राष्ट्र-संघ की निशस्त्रीकरण यानी सेना आदि घटाने की नीति का विचार करें। बड़े-बड़े राज्यो ने सिद्धान्त रूप मे तो निशस्त्रीकरण को पसन्द कर लिया, पर जब अमल करने की बात आयी तो उन्हों ने अपने-अपने यहाँ के शस्त्रास्त्र घटाये नही। इसके खिलाफ, न केवल राष्ट्र-संघ के सदस्य-राज्य ही, बल्कि वे

---

* पहले महायुद्ध के बाद जो रंगदार जातियों के देश विजेताओं को मिले, उन्हें आजादी के अयोग्य समझा गया, और तजरुबेकार और उन्नत राष्ट्रों की शागिर्दी मे रखा गया। ये राष्ट्र उन देशों का शासन राष्ट्र-संघ के आदेशानुसार करते थे, फिर भी उनका दमन और शोषण बहुत कुछ अपने अधीन देशों की तरह ही करते थे।

राज्य भी जिनका संघ के संगठन में खासा हिस्सा था, आत्म-रक्षा या तिजारत आदि के बहाने, या गुप्त रूप से, अपनी अपनी फौज और हथियार बढ़ाने का चिन्ता करते रहे। निशस्त्रीकरण-सम्मेलनो का कोई नतीजा नहीं निकला। हर साम्राज्यवादी राष्ट्र ने अधिक से अधिक सैनिक शक्ति रखना जरूरी और अनिवार्य समझा। उन्हो ने यह कहना शुरू कर दिया कि "जब तक रक्षा का पूरा इन्तजाम न हो, निशस्त्रीकरण नहीं हो सकता।"

अगर सोचा जाय तो शान्ति कायम करने के लिए असली समस्या निशस्त्रीकरण नहीं है। यह तो रोग का बाहरी उपचार मात्र है, जिसका फल अधूरा और क्षणिक ही हो सकता है। शस्त्रास्त्र तो एक उद्देश्य को पूरा करने के साधन हैं, वह उद्देश्य है स्वार्थसाधन, पूँजीवाद और साम्राज्य-पिपासा। जब तक राष्ट्रों में स्वार्थ-त्याग, और सब के भले को देखने की भावना न हो, तब तक शस्त्रास्त्रो के कम करने से या ज्यादह घातक शस्त्रो की जगह कम घातक शस्त्र रखने मात्र से शान्ति कायम करने का काम नहीं हो सकता। सब से बड़ी जरूरत है, जनता मे शान्ति और प्रेम के भावो के प्रचार की, अन्तर्राष्ट्रीय भाई-चारे के सम्बन्ध मे लोकमत जागृत करने की। श्री० चियांग काई शेक ने ठीक कहा है कि 'अगर आदमी अपनी बुद्धि और अपने चरित्र-बल को युद्ध को रोकने मे नही लगा सकता तो तीर कमान से युद्ध करने और हवाई जहाज या बन्दूक से लड़ाई लड़ने मे कोई खास फरक नहीं है।' जब तक आदमी अपनी युद्ध-मनोवृत्ति पर अंकुश न रखें, तब तक वे चाहे जिस हथियार से काम चला सकते हैं, और यदि कोई भी हथियार न मिले तो घूँसे, मुक्के, दांत और नख आदि से ही अपनी हिन्सक भावना का सबूत दे सकते हैं, जैसा कि

प्राचीन काल मे किया करते थे। अब आदमी के अधिक बुद्धिमान और वैज्ञानिक हो जाने से उसने जन-संहार के तरीकों में भी उन्नति कर ली है। बुद्धि और विज्ञान का यह दुरुपयोग ही है। ज़रूरत है कि आदमी इनके सदुपयोग की तरफ ध्यान दे, और इन्हे मानव समाज की सेवा और सहायता मे लगावे, स्वार्थ साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का अन्त किया जाय, और हर देश को पूरी आर्थिक और राजनैतिक आजादी दी जावे।

सारांश यह कि राष्ट्र-संघ के द्वारा शान्ति कायम करने के सम्बन्ध में मानव जाति का जैसा हित होना चाहिए था, न हुआ। राष्ट्र-संघ की कमजोरियो ने दूसरे महायुद्ध का मौका पैदा कर दिया, जिसमे इस संस्था का ही अन्त हो गया। इस पर भी राष्ट्र-संघ सोचनें के लिए अच्छी सामग्री छोड़ गया। अब जो संस्थाएँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसके उद्देश्य को पूरा करने की जिम्मेवारी लें, वे उसके जीवन और कार्यो से अच्छी शिक्षा ले सकती हैं। एक खास शिक्षा यह है कि कोई भी संस्था अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध-रोग का इलाज नहीं कर सकती, जब तक सब राष्ट्र आपस में बराबरी और भाईचारे का परिचय न दें; और जनताओ में ऊंच-नीच गोरे काले, यूरोपीय, एशियाई, अफ्रीकी, अमरीकी आदि का भेद भाव दूर होकर प्रेम और सहानुभूति की भावना न जागे। सबराष्ट्रों को स्वार्थ और संकीर्णता छोड़ने मे देर लगेगी, पर यह बात नामुमकिन नहीं है, और हमे उस दिशा में आगे बढ़ते रहना चाहिये।

—:०:—

ग्यारहवाँ अध्याय

नयी व्यवस्था

यह बात पत्थर की लकीर है कि दुनिया के किसी हिस्से में भी तब तक शान्ति नही रहेगी, जब तक दुनिया के सभी हिस्सों में शान्ति की नींव मजबूत नही होती। —*विंडेल विल्की*

शान्ति की बारबार कोशिशें होने पर भी अभी तक शान्ति कायम नहीं हुई। राजनीतिज्ञ और दूसरे विचारक जगह जगह यह सोच रहे हैं कि भविष्य के लिए कैसी व्यवस्था करनी चाहिए। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सब तरह की समस्याएँ हमारे सामने हैं, जिनके हल करने की जरूरत है। योजनाएँ बनाने वाले बहुत हैं, और नित्य नई योजनाएँ सामने आती रहती हैं। उन सब पर विचार करने की यहाँ गुँजायश नहीं है। कुछ खास खास बातो पर विचार करना हमारे लिए काफी होगा।

मोटे तौर पर दो तरह की योजनाएँ बनती है—(१) किसी एक खास राष्ट्र के लिए, और (२) सारी दुनिया के लिए। इनमे से पहली तरह की योजना की मिसाल श्री० विलयम विवरेज की योजना है, जो इंगलैण्ड के लिए बनायी गई है। इसमें तीन मुख्य बातें हैं—(१) बच्चों के लिए अलाउंस, (२) सारी जनता के स्वास्थ्य की व्यवस्था, और (३) सब के लिए रोजगार का स्थायी इन्तजाम। इन तीन बातो मे सब से प्रमुख तीसरी है। बात यह है कि इंगलैण्ड और दूसरे लड़ने वाले देशो में तरह तरह के नये उद्योग धन्धे शुरू हुए हैं, नये कारखाने खुले

हैं, नये सरकारी दफ्तर कायम हुए हैं। इन कामो से पहले की वेकारी वहुत कुछ दूर हो गयी है। अगर युद्ध के वाद शान्ति के समय मे भी लोगो का रोज़गार इसी तरह कायम रखा जा सके तो वेकारी का, और उससे पैदा होने वाला दूसरा संकट टाला जा सकता है। रोजगार वनाये रखने का उपाय यही है कि युद्ध के वाद भी ये सव कारखाने चलते रहे और दूसरे नये उद्योग धन्धो का काम शुरू किया जाय। उस समय कारखानों से सामान वहुत कुछ दूसरी तरह का बनवाना होगा।

इस योजना को अमल मे लाने के लिए धन की वहुत ज़रूरत होगी। यह रकम सामाजिक बीमे के रूप मे सारे राष्ट्र से जमा की जायगी। हर आदमी को अपनी बेकारी और जीवन रक्षा के लिए बीमा कराना होगा। यह तो जाहिर ही है कि इस योजना से किसी बेकार को जो रकम मिलेगी वह उसकी सब ज़रूरतों को पूरा नहीं कर सकती, वह उसे जिन्दा भले ही रख सके। इसलिए इस वात की ज़रूरत है कि सरकार साफ साफ ऐलान कर दे कि जहां तक हो सकेगा वह हर आदमी को कोई न कोई रोज़गार दिलाने की पूरी कोशिश करेगी, चाहे हर आदमी के हर समय रोज़गार में लगे रहने की गारन्टी न भी कर सके। इस योजना का लक्ष्य यह है कि राष्ट्र की सारी आमदनी को सन्तोषजनक ढङ्ग से बांटा जा सके, इस वात का ध्यान रखा जाय कि जीवन-निर्वाह के लिए जिन चीज़ो की ज़रूरत है, वे सब समय सब परिवारो को मिलती रहे, ऐश आराम की चीज़ो का विचार पीछे किया जाय। इस योजना का लाभ तभी है जब कि उत्पादक उद्योगों के द्वारा सारे राष्ट्र की कुल सम्पत्ति को बढ़ाया जाय, और सरकार तथा व्यवसाइयों का आपस मे गहरा सहयोग हो।

इस तरह की योजनाएँ अमरीका आदि दूसरे औद्योगिक और पूंजीवादी देशो मे भी बनी है। इनके बनाने वालों को अपने-अपने देश के भविष्य की चिन्ता है। ये चाहते हैं कि अपनी-अपनी वर्तमान समृद्धि बनाये रखें, अपने यहाँ की जनता के रहन सहन का धरातल जहाँ तक हो सके ऊंचा रखें और युद्ध के बाद जितना भी माल इनके यहाँ बने वह दूसरो देशो मे बिकता रहे। इस तरह इन योजनाओ मे दूसरे देशो के फायदे नुकसान का कोई विचार नही किया गया; ये राष्ट्रीय है, अन्तराष्ट्रीय नहीं। ❋

अब दूसरी तरह की योजनाओ के बारे मे विचार करें।

जुलाई १६४१ मे अमरीका के प्रेसीडेंट रूजवेल्ट और इङ्गलैण्ड के प्रधान मत्री चर्चिल ने एक ऐलान किया था, जो 'एटलांटिक चार्टर' के नाम से मशहूर है। इस चारटर मे महायुद्ध का उद्देश्य संसार की स्थायी शान्ति के लिए दुनिया भर मे लोकतंत्र शासन प्रणाली को फिर से कायम करना और रक्षा करना बतलाया गया था और कहा गया था—'हम हर देश के लोगो के इस अधिकार को मानते है कि वे ही अपने यहाँ की सरकार के स्वरूप का फैसला करें, और हम चाहते हैं कि जिन कौमो से उनका यह अधिकार और उनकी आजादी जबरदस्ती छीन ली गयी है, उन्हे ये वापिस मिलने का इन्तजाम

❋ भारतवर्ष मे भी योजनाएँ बनी है, जिनका उद्देश्य जनता की आमदनी बढ़ाना और रहन सहन के दर्जे को ऊँचा करना बताया गया है; लेकिन इस देश के पराधीन रहने और यहाँ राष्ट्रीय सरकार कायम न होने तक ऐसी योजनाएँ कुछ महत्व नही रखतीं।

हो जाय।' ये शब्द कितने आकर्षक हैं! पर ये कितने कूटनीति से भरे हुए है! इनमें सब देशो को नहीं, केवल उन्हीं देशों को आज़ाद करने की बात कही गयी, है, जिन पर (दूसरे) महायुद्ध जर्मनी और जापान आदि ने अधिकार कर लिया है। इन देशों के दो हिस्से किये जा सकते हैं—पूर्वी और पच्छमी। पच्छमी देशो के निवासी गोरे लोग हैं, उन्हे तो आजाद कर ही दिया जायगा। सवाल है, पूर्वी देशों का—बर्मा, श्याम, इंडोचीन आदि का, और फिलीपाइन जैसे बहुत से टापुओं का। इन्हें फिर से लेने की बात तो कही जाती है, पर आजाद करने की नहीं। कौन जाने, ये प्रदेश कुछ समय के लिए शत्रु द्वारा ही आज़ाद किये जायँ!

'अटलांटिक चारटर' की दूसरी बात लीजिए। इस चारटर में यह नहीं बताया गया कि जिन देशो की आजादी इस महायुद्ध से पहले ही इङ्गलैंड ने छीन ली थी, और जो इस समय इङ्गलैंड ही के अधीन हैं, उनका भविष्य मे क्या होगा। जब इस विषय की आलोचना की जाने लगी तो इंगलैण्ड के डिप्टी प्रधान मंत्री मेजर एटली ने यह कह कर लोगो को चुप किया कि "पार्लिमेंट के मजदूर दल के सदस्यो का सदा यह कहना रहा है कि जिस तरह की आज़ादी हम चाहते है, उसी तरह की आजादी का अधिकार सबको होना चाहिए; और चारटर की शर्तों को सब कौमो के लोगो के लिए—जिनमे एशिया और अफ्रीका के निवासी भी शामिल हैं—समान रूप से अमल मे लाया जायगा।"

मेजर एटली के ये शब्द हवा मे गूंज ही रहे थे कि श्री० चर्चिल ने पार्लिमेंट के सामने युद्ध की हालत बताते हुए साफ कह दिया कि इंगलैण्ड और अमरीका की सरकारो ने मिल

कर जो ऐलान किया है, वह भारत, वर्मा, और ब्रिटिश साम्राज्य के दूसरे देशो के लिए किसी भी रूप मे लागू न होगा।

इस तरह श्री० चर्चिल ने, जहाँ तक भारत और बर्मा आदि का सम्बन्ध था, अटलांटिक चारटर की अन्त्येष्टि कर डाली। ज़ाहिर है कि आज कल के साम्राज्य-प्रेमी देश अपने साम्राज्य के अधीन देशो को आज़ाद होने का उस समय तक अवसर न देंगे, जब तक कि परिस्थितियाँ उन्हे मजबूर न करदें। यह भावी सुव्यवस्था के मार्ग में सब से बड़ी रुकावट है।

प्रेसीडेंट रूजवेल्ट ने इस (दूसरे) महायुद्ध के बाद की विश्व-व्यवस्था का आधार चार तरह की आज़ादी मानी है—अभाव से आज़ादी (खाने-पीने की चीज़ो और रहने की आज़ादी) डर से आज़ादी, बोलने की आज़ादी और धार्मिक आज़ादी। इस मे सीधे शब्दो मे राजनैतिक और आर्थिक आज़ादी की बात नही कही गयी। राजनीतिज्ञ लोग कूटनीति की और गोलमोल भाषा का उपयोग करते है, जिसके अर्थ का वे जब चाहे अनर्थ कर सकें। इसीलिए चार आज़ादियो के नये और मोहक शब्दो का जाल फैलाया गया है।

सन् १९४३ के अन्त मे तेहरान मे अमरीका, इंगलैण्ड, और रूस के सूत्रधारो का एक सम्मेलन हुआ था। उसके बाद प्रेसीडेंट रूजवेल्ट, मि० चर्चिल, और मो० स्टेलिन की तरफ से ऐलान किया गया कि युद्ध के बाद ऐसी शान्ति कायम करने की बात सोची गयी है, जो संसार के सभी देशों को पसन्द आवेगी, इससे सब देशो के आदमी आज़ाद ज़िन्दगी बसर कर सकेंगे। यह ऐलान एटलांटिक चारटर से मिलता हुआ है, इसे मो० स्टेलिन ने भी समर्थन किया है। लेकिन एटलांटिक चारटर के अन्दर भारतवर्ष जैसे पूर्वी देशों को शामिल करने से

मि० चर्चिल ने इनकार कर दिया था, क्या तेहरान के ऐलान का भी यही मतलब लिया जायगा ? ज़ाहिर है कि यूरोपियन कौमों का संसार से मतलब अक्सर केवल यूरोप से ही होता है।

संसार मे अव्यवस्था और अशान्ति का खास कारण यह है कि क़ौमो क़ौमो मे राजनैतिक और आर्थिक विषमता है, और हर ताकतवर क़ौम अधिक से अधिक जमीन पर अधिकार जमाना चाहती है। यदि बड़े और ताकतवर राष्ट्र भी अपने देश के बाहर किसी ज़मीन को अपने अधीन करना छोड़ दें, और जो देश इस समय उनके अधीन हैं, उन सब को आज़ाद कर दें, और, सब लोग अपने अपने देश मे अपनी इच्छानुसार आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था करने लगें तो अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति का अन्त हो जाय। आर्थिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि हर देश के निवासी भोजन वस्त्र की आवश्यक सामग्री हासिल कर सकें। सब के रहने के लिए स्वास्थ्यप्रद घर हों, किसी को बीमारी के समय ठीक ठीक दवा और इलाज की कमी न रहे, सब बालक और बड़े यथा योग्य शिक्षा पा सकें। राष्ट्र के लिए अपना अपना या अपने समूह का स्वार्थ सिद्ध करने की भावना विनाशकारी है। सब का हित करने मे ही सब का भला है।

विश्व-व्यवस्था के लिए ज़रूरी है कि आदमियो के और राज्य के आपसी व्यवहार में सहयोग और सद्भावना हो। परिवारो में, गांव और नगरो में, क़ौमो मे और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सब जगह शान्ति और प्रेम हो। इसके वास्ते विचार करने और अमल में लाने की कुछ बातें नीचे लिखी जाती हैं—

१—हम हर घड़ी यह अनुभव करें कि हम सब भाई भाई हैं; इसलिए वर्ण, रंग, जाति, धर्म आदि का भेदभाव मानना अनुचित है।

२—किसी आदमी को अपना दास या सेवक मानना अनुचित है; इसी तरह एक जाति या देश को किसी भी बहाने से अपने अधीन करना पाप या गुनाह है—अक्षम्य है।

३—हर आदमी और हर जाति को आज़ादी का हक़ है—आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक सभी तरह की।

४—हर आदमी और हर जाति का कर्तव्य है कि वह दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करे, जैसे वह चाहती है कि दूसरे उसके साथ करें।

दूसरा खंड

रास्ते की बाधाएँ

बारहवाँ अध्याय

यात्रा का अनुभव

पिछले खंड मे इस बात पर विचार किया गया है कि अब तक कितनी यात्रा तय हो चुकी है, किन किन मज़िलो मे से होकर हम कहाँ तक पहुँचे हैं। हमने देखा कि मनुष्य मे सामाजिक भावना का धीरे धीरे विकास हुआ। उसने परिवार बनाया। परिवारो का कबीला या जाति बनी। एक अधिक कबीलो या जातियो के आदमी टिक कर किसी गाँव या नगर मे बसे। नगर-राज्यो का निर्माण हुआ। नगर-राज्यो से बढ़ कर, या कई-कई नगर-राज्यो का मिल कर एक राष्ट्र-राज्य हुआ। राष्ट्र-राज्य ने दूसरे राज्यो के साथ मिल कर सघ-राज्यो का निर्माण किया। इस तरह समय समय पर कई तरह के सगटन हुए। इस समय दुनिया मे मे बहुत से राष्ट्र-राज्य और संघ-राज्य, और कुछ इन राज्यो के अधीन, पराधीन देश हैं। कहीं कहीं पुराने ढंग के संगठन—कबीले या नगर-राज्य के भी नमूने मौजूद हैं। अलग अलग राज्यों मे एक दूसरे से सम्बन्ध बढ़ता रहा है; अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ रहा है। फिर भी संसार मे शान्ति नहीं है। नयी नयी

तजवीजें सोची जा रही हैं, लेकिन कलह और लड़ाई जगड़ा वना ही रहता है। जाहिर है कि आजकल की व्यवस्था संतोष-जनक नहीं है। मनुष्य की यात्रा अभी पूरी नहीं हुई; उसे और आगे वढ़ना, और बेहतर संगठन करना हैं।

अच्छा होगा कि अब जरा यह विचार कर लिया जाय कि इस समय तक की यात्रा मे क्या क्या अनुभव हुए। हमारे रास्ते मे कौन कौन सी बाधाएँ या रुकावटें आयीं। अगर हम इन वाधाओ को जानलें तो आगे यात्रा करने में अधिक सावधान रह सकते हैं। इससे हमारा काम कुछ आसान हो जायगा, और हमें जहाँ पहुँचना है, वहाँ जल्दी पहुँच जायँगे; क्योकि आदमी में यह योग्यता है कि वह अपनी पिछली भूलों से लाभ उठा सकता है, और आगे का कार्यक्रम पूरा करने के लिए ज्यादह तैयार हो सकता है।

हर यात्रा मे बाधाएँ दो तरह की हुआ करती हैं—(१) आदमी की अपनी पैदा की हुई, और (२) प्रकृति की या दूसरो की पैदा की हुई। एक आदमी कहीं जा रहा है। रास्ते मे उसे कोई सुन्दर दृश्य या वस्तु दिखायी दी, या मनोहर संगीत सुनाई दिया, वह उसे देखने या सुनने मे लग गया। कुछ देर बाद उसे अपनी यात्रा का ध्यान आया, तब वह आगे बढ़ा। कुछ दूर चलने पर फिर कोई ऐसी ही बात हो गयी। इस तरह यात्रा में अनावश्यक देर लग सकती है। या कल्पना करो, आदमी कुछ दूर खासी तेजी से चलता है, भूख, प्यास और थकान सहकर भी बढ़ा चला जाता है, पर एक खास हद तक जाने के बाद उसके मन में अहकार आ जाता है कि मैंने यात्रा का बहुत सा भाग बहुत जल्दी तय कर लिया। मैंने बड़ा साहस और पुरुषार्थ किया है, अब मैं इतनी। मेहनत क्यों करूँ। यह

सोच कर वह आराम करने लगता है, और उसका आराम पीछे आलस्य में बदल जाता है। इसी तरह किसी डर या लोभ के कारण भी आदमी का ध्यान अपनी यात्रा से हट कर दूसरी तरफ लग सकता है। ये सब ऐसी रुकावटो की मिसालें हैं; जो आदमी खुद पैदा करता है, और जिनके लिए वह खुद ही जिम्मेवार होता है।

दूसरी तरह की वाधाएँ ऐसी होती है कि रास्ते मे कोई नदी पड़ती हो और उसमे वाढ़ आ जाय, या जंगली जानवर का सामना करना पड़ जाय। ये वाधाएँ अचानक आ सकती हैं, और इनके लिए, यात्रा करने वाले को दोष नही दिया जा सकता।

ये दोनो तरह की वाधाएँ हर मंजिल पर अलग अलग आयी है, और कुछ पुराने समय से चली आ रही हैं; कारण, यद्यपि आदमी ने वड़े वड़े संगठन वना लिये हैं, उसके पुराने संगठन भी थोड़े वहुत मौजूद हैं। इन वाधाओ के वारे मे व्यौरे-वार विचार अगले अध्यायो मे किया जायगा। यहाँ एक खास व्यापक दोष की तरफ ध्यान दिलाना है। वह यह कि आदमी अकसर अपनी नजर दूर तक नही फैलाता, वह संकीर्ण विचार से काम लेता है। वह अपनी दुनिया वहुत छोटी मान लेता है, एक छोटे से दायरे के आदमियो को ही अपना समझता है, उनसे ही प्यार करता है, उनके लिए सब तरह के कष्ट सहता और त्याग करता है। इस दायरे से वाहर के आदमियो को वह पराया या गैर मान लेता है; उन्हे प्रेम करना, उनसे सहानुभूति और सहयोग का भाव रखना तो दूर, उन्हे वह अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन समझ लेता है। इसलिए उन्हे कष्ट देने या नुकसान पहुँचाने मे वह संकोच नही करता। मिसाल के लिए मामूली

आदमी अपने सुख के लिए अपने परिवार के लोगों को दुख पहुँचाता है और उनसे सख्त काम लेता है। इतिहास मे ऐसा अनेक स्थानो पर हुआ है, जब पिता ने पुत्र को, या पुरुप ने स्त्री को केवल मारा पीटा ही नहीं, उन्हे दूसरो के हाथ वेच कर अपने लिए धन हासिल किया। मनुष्य आगे वढ़ता है, अपने परिवार को तो अपना समझता है, पर दूसरे लोगों को कष्ट या धोखा देना उसे वुरा नहीं लगता। इसी तरह कुछ और प्रगति करके मनुष्य अपने कवीले, जाति, गॉव या नगर के आदमियो को एक हद तक अपना मानता है। वह धीरे धीरे राजभक्त या देश-प्रेमी, या राष्ट्र-सेवक कहलाने मे गर्व करता है। पर ये सव भी उसकी अपूर्णता के ही प्रमाण हैं।

आजकल के जमाने का आदमी अपने आप को वहुत उन्नत और विकसित मानता है। वह समझता है कि मैंने असभ्य अवस्था को पीछे छोड़ दिया है, पर अब भी ठंडे दिल से सोचने पर हमे अपनी कमी का अनुभव होता है। हम आगे वढ़ना चाहते हैं, पर कई वाधाएँ हमारे सामने हैं। प्रकृति ने संसार के अलग अलग हिस्सो के आदमियों को अलग अलग वोली वोलने वाला और जुदा जुदा रंग का वनाया; वस, मनुष्य उन सब की भीतर की एकता को भूल गया, वह उनमे अपने और पराये का भेद देखने लगा। इसके अलावा उसने कई और वाधाएँ अपने आप ही खड़ी करलीं। कहीं साम्प्रदायिकता की दीवार है, कहीं राष्ट्रीयता की; और, अव इस जमाने की नयी वाधा साम्राज्यवाद है। ये वाधाएँ ऐसी नहीं है जिनको दूर करना मनुष्य की शक्ति से वाहर हो। पर जव वह इन्हें दूर करना चाहे तव न। इस समय तो दशा यह है आदमी में इन वाधाओं को दूर करने का पूरा

इरादा ही नहीं मालूम होता। वह तो जान बूझ कर इनकी रक्षा करने मे लगा है। हमे अपने पुराने संगठन से वहुत मोह हो गया है। हम यह नहीं सोचते कि उनकी उपयोगिता अब है या नही, किस संस्था में कुछ सुधार करने की जरूरत है, और किसे बिल्कुल वदल देने की। हम उदार या व्यापक दृष्टिकोण रखने के लिए तैयार नही होते। हम भूल जाते हैं कि हमे आगे वढ़ना है; नये विशाल संगठन के विना हमारा काम नही चलेगा।

आदमी को कहाँ पहुॅचना है, और वहॉ पहुॅचने के लिए उसे क्या करना है, इन वातो का विचार करने से पहले हमें रास्ते की रुकावटो को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, जिससे उनको हटाया जा सके। हमे यह विचार करना है कि मानव समाज के आजकल के संगठनो मे किस तरह की नीति या व्यवहार रहे, जिससे छोटा वड़ा हर संगठन मनुष्य के सर्वोच्च और व्यापक संगठन यानी मनुष्य मात्र के हित का ध्यान रखे; हर समूह अपने से वड़े समूह से मेल रखे, अपने आपको उसके अधीन, उसका एक अंग समझे; हमारे पारिवारिक हित का राष्ट्रीय हित से, और राष्ट्रीय हित का मानव हित से, किसी भी हालत मे विरोध न हो। जो संगठन अपने से वड़े संगठन का विरोधी हो, उसका अन्त कर दिया जाय; किसी भी संगठन के बने रहने की जरूरी शर्त यह हो कि वह पूर्ण मानव समाज की दृष्टिसे भी उपयोगी और आवश्यक हो।

———

तेरहवाँ अध्याय

पारिवारिक मोह

केवल अपने ही बालक का विचार न करें। जब तक आप के पड़ोसी, आप के गाँव, आप के देश, और समस्त जनता के बालकों की स्थिति नहीं सुधरेगी, तब तक आप चाहे जितना परिश्रम करें, आपके बालक को सच्चा सुख, सच्ची सम्पत्ति और सच्चा जीवन नहीं मिलेगा। —गिजूभाई

पहले कहा जा चुका है कि आदमी के सामाजिक संगठन की सब से पहली कुदरती और आवश्यक सीढ़ी परिवार है। परिवार में बालकों का पालन पोषण होता है और उन्हें अगली पीढ़ी का भार उठाने के योग्य बनाया जाता है। यदि माता पिता अपनी संतान के साथ जैसा चाहिए स्नेह भाव न रखें, और उनके लिए तरह तरह का कष्ट न उठावें तो बालकों की परवरिश होना कठिन है। इसी तरह पति पत्नी का, भाई बहिन का, भाई भाई का, या बहिन बहिन का, एक दूसरे से प्रेम दोनों के लिए हितकर और ज़रूरी होता है। सब अपने निजी सुख का त्याग करके भी एक दूसरे को आराम पहुँचाने और उसका भला करने में हिस्सा लेते हैं। इस तरह सामाजिक जीवन में परिवार-प्रथा का उपयोग ज़ाहिर है। लेकिन हर चीज़ और हर बात की मर्यादा होती है। एक सीमा तक ही, कोई चीज़ उपयोगी होती है; उसके आगे, वह उपयोगी होने की जगह हानिकारक होने लगती है। तब यह कहा जाता है कि इसका दुरुपयोग हो रहा है। समझदार आदमी को चाहिए कि अति का सर्वत्र त्याग करे;

किसी बात के भी दुरुपयोग का मौका न आने दे।

परिवार-प्रथा के बारे में विचार करने पर मालूम होता है कि बहुत से पुरुषो और स्त्रियो का अपनी संतान से इतना ज्यादह प्यार होता है कि वे उसके लिए विशाल मानव हित की अवहेलना करने लगते हैं। वे भूल जाते है कि समाज मे दूसरे भी लाखो बच्चे हैं, और उन के साथ भी प्रेम और न्याय का व्यवहार होना चाहिए। इस तरह के माता पिता परिवार-प्रथा के दुरुपयोग के दोषी हैं। वे अपने छोटे छोटे परिवारो मे इतने रम जाते हैं कि उन्हें बड़े मानव समाज का ध्यान नहीं रहता, जैसे आँख के सामने एक पाई रख लेने से सूरज नज़र नहीं आता। अपने परिवार के साथ बहुत अधिक अनुराग होने से स्वार्थ, लोभ, और अनुदारता बढ़ती है। इसी से बड़े बड़े कल कारखानों के मालिक लाखों मज़दूरों का पेट काट कर करोड़ो रुपये कमाते है, और उसे अपने छोटे से परिवार के लिए शौकीनी और विलासिता मे उड़ाते रहते हैं, और जो धन बचता है, उसे मरते समय अपने बाल बच्चो के नाम वसीयत कर जाते हैं। हिन्दुस्तान मे जिन अमीरो के सन्तान नही होती, वे अकसर अपने खानदान के किसी बालक को गोद ले लेते हैं, जिससे उनका वंश चले। ये गोद आये हुए बालक मुफ्त का धन पाकर प्राय. बिगड़ जाते हैं, और आरामतलबी या भोग विलास का जीवन बिताते हैं। बहुत सी औरतो के जब सन्तान नहीं होती तो वे जादू टोने का आश्रय लेती हैं, और दूसरो के बच्चो का अनिष्ट सोचने मे भी कुछ संकोच नही करती। 'सौतेली माँ' ये शब्द ही निर्दयता के सूचक हो गये हैं। इस तरह संतान की कामना या परिवार की भावना ही पुरुषों और स्त्रियो के घोर पतन का कारण बन जाती है।

परिवार के मोह से आदमी अपने पड़ोसियों को लूटते और देश या राज्य को बरबाद करते है। इससे ईमानदारीका सार्वजनिक जीवन असम्भव हो जाता है। हर राजनीतिज्ञ, राष्ट्र को हानि पहुँचाकर भी, अपने परिवार को लाभ पहुँचाने की कोशिश करता है। चीन, ईरान और हिन्दुस्तान जैसे देशों मे सार्वजनिक भावना के बहुत कम होने का एक खास कारण यही नैतिक दोष है। क्या आश्चर्य है कि मशहूर समाजवादी नेता रोबर्ट ओवन ने घरो को स्वार्थ और छल का अड्डा बताया है। यही बात बड़े पैमाने पर लीजिए। रोम के सम्राट् मारकस औरिलियस ने अपने निकम्मे लड़के कोमोडस को अपना उत्तराधिकारी बनने मे मदद दी। औलिवर क्रामवेल की, अपने खानदान का राजनैतिक महत्व बढ़ाने की कोशिश ने इंगलैण्ड में लोकतंत्रवाद के पक्ष को नष्ट कर दिया।

इस जमाने मे विवाह और पारिवारिक जीवन ने बहुत से प्रगतिशील आन्दोलनों को उत्साही प्रचारको और धुन के पक्के कार्यकर्ताओ से वंचित कर दिया है। विवाह से पहले बहुत से पुरुष और स्त्रियाँ तरह तरह के आन्दोलनो और आदर्शों के साथ खूब जोश से काम करते हैं, लेकिन जब उनके प्रेम और सेवा के लिए उनका परिवार हो जाता है तो उनके उच्चतर कर्तव्यों की अवहेलना होने लगती है। फिर, उन्हे सभा सोसायटियो में जाना भी कठिन मालूम होने लगता है। विवाह ने ऐसे कितने ही देश-सेवको का खात्मा कर डाला। हरबर्ट स्पेन्सर ने कहा था कि अगर मेरा विवाह हो जाता तो मै 'सिथेटिक फिलासफी' (समन्वयात्मक दर्शन) पर निबन्ध न लिख सकता। बहुत से वीर स्त्री पुरुष कैद से और आर्थिक हानि से ज्यादहतर इसलिए डरते हैं कि उन्हे अपने बाल बच्चो की बहुत फिक्र

रहती है। परिवार आदमी को ऐसे मौकों पर कायर बना देता है।

इसी दृष्टि से समय समय पर परिवार-प्रथा का घोर विरोध हुआ है। यूनान का दार्शनिक अफलातून (प्लेटो) रक्षक वर्ग या सैनिक वर्ग के लिए परिवार-प्रथा को उठा देना चाहता था। अनेक बौद्ध और ईसाई साधु इसीलिये आजीवन अविवाहित या कुआँरे रहने लगे, जिससे वे परिवार में लिप्त न हो। ऐसी बातें थोड़े से लोगो में ही परिमित रहीं। आम तौर से परिवार-प्रथा बराबर चलती रही है। बात यह है कि पुरुष और स्त्री में मिलकर एक दूसरे के साथ रहने की इच्छा स्वाभाविक है। बालिग होने पर यह प्रवृत्ति एक बार सब मे जागती है। अरस्तु (एरिस्टोटल) के शब्दो में 'प्रेम एक समय में एक ही वस्तु के साथ होता है।' प्रेम केवल विषय वासना की पूर्ति ही नही चाहता, वह गहरा व्यक्तिगत स्नेह भी चाहता है। हर आदमी और हर औरत की यह इच्छा होती है कि कोई व्यक्ति ऐसा हो, जिसे मै खूब चाहूँ, और जो मुझे सब से अधिक चाहे। पति-पत्नि सम्बन्ध की जड़ मे यही भावना है। संतान होजाने पर पुरुष और स्त्री दोनों, संतान को प्यार करते हैं, और उसे प्यार करने में दोनो का एक दूसरे के प्रति अनुराग मालूम होता है।

यह पारिवारिक प्रेम जब मर्यादा से बाहर हो जाता है, जब यह मोह का रूप धारण कर लेता है तो मनुष्य अपने दूसरे कर्तव्यो की अवहेलना करने लगता है। इसलिए अब हम पारिवारिक मोह को रोकने के उपायो पर विचार करते हैं।❋

(क) कुछ लोगो की राय है कि पुरुषो और स्त्रियो दोनों को प्यार करने और पालने के लिए दूसरो के बच्चे दिये जायें, उनके

❋ Hints for Self-Culture के आधार पर।

अपने बच्चे न दिये जायँ। क्योंकि पुरुष और स्त्री दोनों का यह स्वभाव होता है कि वे किसी न किसी बच्चे से निजी और स्नेहपूर्ण सम्बन्ध रखना चाहते हैं, इसलिए वे उस दूसरे के बच्चे से भी अवश्य प्यार करेंगे, परन्तु उनके प्रेम का सामाजिक-करण हो जायगा, वे उस बच्चे की खातिर न तो दूसरे बच्चों को कष्ट पहुँचाने की कोशिश करेंगे, और न समाज या देश के साथ छल-कपट करेंगे। पुरुष और स्त्री दूसरे के बालक मे अपनेपन की भावना इतनी ज्यादह नहीं रख सकते। और इस तरह यह तजवीज़ इस भावना को रोक रखने के लिए अवश्य उपयोगी है। लेकिन यह बनावटी और अस्वाभाविक है; यह इसका बड़ा दोष है, जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती।

(ख) यह कहा जाता है कि बच्चो का पालन पोषण निजी तौर पर न हो,वल्कि सरकारी या राष्ट्रीय शिशु-शालाओं में, सीखे हुए कर्मचारियो की देख रेख में हो। किसी बालिग आदमी का किसी बच्चे से व्यक्तिगत सम्बन्ध न हो और न कोई बालक किसी व्यक्ति विशेष को पिता या माता के रूप में माने। इस तजवीज मे तर्क या गणित की सी सादगी का गुण है, लेकिन यह सचाई भुला दी गयी है कि मनुष्य का जीवन तर्क या गणित से कहीं ज्यादह पेचीदा है। अगर पुरुषो, स्त्रियों और बच्चो मे एक दूसरे से अपनापन या व्यक्तिगत प्रेम न रहे, और सब मशीन के पुर्जों की तरह रहे तो सम्भव है कि वे किसी साधु संन्यासी की तरह परिवार के मोह से बचे रहे, लेकिन वे मनुष्य जाति के अच्छे नमूने नहीं हो सकते। हम चाहते है कि पुरुष और स्त्रियाँ पूरी तरह विकसित हो, और उनमें दिल और दिमाग दोनों के सब असली गुण मौजूद हों। जो बालिग आदमी किसी बालक को 'अपना' नहीं कह सकता, वह आम तौर

पर उदास, रूखा, और अपनी निजी चिन्ताओ मे ही लीन रहेगा। और, जिस वालक को पालने वाले ऐसे आदमी (माता-पिता आदि) नही होते, जिनका उसके साथ खास अपनेपन का अनुराग हो, वह कभी ऐसा स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट और प्रसन्न नही होगा, जैसा उसे होना चाहिए। अनाथालयो मे रहने वाले और घरो मे पलने वाले वालको मे साफ फरक होता है। इसलिये वालिगो के सुख, और वच्चो की ठीक ठीक वृद्धि दोनो दृष्टि से यह प्रणाली हानिकर है, इसे त्याग देना चाहिए।

(ग) अच्छा उपाय यह है कि मा वाप अपने अपने वच्चों का पालन पोषण तो करें लेकिन पारिवारिक मोह का नियंत्रण करना, उसे कावू मे रखना सीखें; उनका प्यार मर्यादा मे रहे, वह मोह की सीमा तक न पहुँच जाय। हमे उन महान पुरुषो और स्त्रियो का विचार करना चाहिए जिन्होने अपनी सन्तान के मोह के लिए देश या समाज की भलाई का त्याग नहीं किया। गौतम वुद्धने अपना अपना परिवार इसलिए छोड़ दिया ताकि वह आध्यात्मिक खोज मे लग सके। वाद में उन्होने अपनी स्त्री और पुत्रको भी समझा वुझा कर इस वात के वास्ते तैयार कर लिया कि वे निर्धन रह कर मानव समाज की सेवा मे अर्पण हो जायँ। सुकरात ने अपनी स्त्री और वच्चो के लिए सम्पत्ति नही चाही। उसने निर्धनता मे जीवन विताया और जरूरत पड़ने पर निर्धनता मे ही मृत्यु का आलिंगन किया।

यूरोप में अनेक धर्मनिष्ट ईसाइयो ने अपने धर्म पर अटल रहने के लिए अपने पारिवारिक मोह का सर्वथा परित्याग कर दिखाया। भारतवर्ष आदि देशों का इतिहास भी ऐसी मिसालों से भरा पड़ा है। स्थानाभाव से यहां यही उल्लेख किया जाता है कि समाजवाद के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स ने और उसकी

पत्नी जेनी ने अपनी जन्म भूमि से दूर लन्दन मे बड़े संकटों का जीवन व्यतीत किया। उनके बच्चो को कई बार रोटी तक न मिली और भूखा रहना पड़ा। तो भी वीर दम्पति ने मानव समाज की भलाई के लिए पारिवारिक हितो को हँसते हँसते न्यौछावर कर दिया। उनके बच्चे भी बड़े होकर अपने मा बाप की तरह समाजवाद के प्रचार मे लग गये। कैसा अनुकरणीय उदाहरण है! सारा परिवार एक ऐसे उच्च आदर्श से प्रेरित था, जिसने उसे मोह से सर्वथा मुक्त कर दिया था।*

बस, पारिवारिक मोह के दोषो से सावधान रहो। अपने साथियों और हितचिन्तको की अवहेलना न करो, जो तुम्हे, परिवार बनाने से पहले, बहुत प्यारे थे। सामाजिक जीवन से केवल इसलिए अलग मत हो कि अब तुम अपने बाल बच्चो के साथ ज्यादह वक्त गुजारना चाहते हो। लोगो की भलाई के आन्दोलनो में धन और समय लगाने मे कमी न करो। अगर कुटुम्ब से तुम्हारा प्रेम तुम्हे स्वार्थी और लोभी बनाता है तो वह अभिशाप हे, वरदान नही। सच्चा प्रेम मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास करता है, ह्रास नहीं। उससे पुरुष और स्त्री दोनों को यह प्रेरणा मिलनी चाहिए कि वे अपने शरीर और मन को देश और समाज की उन्नति मे लगावें। अगर तुम प्रेम के स्वामी रहते हो तो वह आदर्श की तरफ तुम्हारी चढ़ाई को आसान कर देता है, लेकिन अगर तुम प्रेम के दास बन जाते हो तो वह तुम्हे पतन के गड्ढे में जा गिराता है।

सारांश यह कि परिवार-प्रथा के रहते हुए भी पारिवारिक मोह हटाया जा सकता है। यदि मनुष्य इसी भावना से

---

* कार्ल मार्क्स, सुकरात और गौतम बुद्ध आदि महापुरुषों के बारे में विशेष इस ग्रन्थमाला की 'श्रद्धाजलि' पुस्तक में लिखा गया है।

परिवार में रहें तो उसे अपने बाल बच्चों का पालन पोषण करने से कोई हानि नहीं हो सकती। बच्चो को हमे अपनी निजी मिलकीयत नहीं समझना चाहिए। हमे यह मानना चाहिए कि वे मानव समाज के बच्चे हैं, जो देखभाल के लिए हमारे सुपुर्द किये गये है। हमें उनको इस बात का अभ्यास कराना चाहिए कि वे हमसे माता या पिता के रूप मे बेजा मोह न करें; उनका प्रधान कर्तव्य मानव समाज के प्रति है, हमारे प्रति नहीं। हमे उनके लिए बहुत अधिक धन कमाने या जोड़ कर रखने की कोशिश नहीं करनी चाहिए, और न उनके लिए स्कूल, कालिज, व्यापार या राजनीति में अनुचित रियायतें हासिल करने की कोशिश करनी चाहिए। हमे उनको उनकी योग्यता से अधिक ऊंचे या विशेष आमदनी वाले पदो पर नियुक्त करके या कराके समाजद्रोह या देशद्रोह का दोषी नहीं बनना चाहिए। उनके मस्तिष्क को क्षुद्र पारिवारिक विषयो में कैद नहीं करना चाहिए। हमे उनका ध्यान म्युनिसिपल, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बातो की ओर दिलाना चाहिए। हमे चाहिए कि हम उनमे लड़कपन में ही नागरिकता की भावना का विकास करें, जिससे बड़े होने पर वे अपने सामाजिक कर्तव्यो का ठीक ठीक पालन कर सकें। यदि हम ऐसा करें तो मानव जाति का हित साधन होगा, और हमारे बच्चो का भी भला होगा। यह काम कुछ कठिन अवश्य है, परन्तु असाध्य नही है। महान पुरुषो और महान स्त्रियो ने ऐसा कर दिखाया है। वे समाज के बड़े हित के सामने परिवार के हित को गौण समझते हैं। हमे भी इसका अभ्यास करना चाहिए।

चौदहवाँ अध्याय

वर्ण-भेद और जाति-भेद

प्रकृति ने मनुष्यों को अलग अलग रंग देकर चक्कर में डाल दिया है। हम धोखे में आ जाते हैं। रंग के इस पर्दे को अलग करके हमें अपने भाई मनुष्य के मन और हृदय तक पहुँचना चाहिए। इस तरह देखने पर न कोई आर्य मालूम होगा न अनार्य, न यहूदी, न मंगोल, न हबशी। सब आदमी हैं, सब स्त्रिया हैं; सब की एक जाति है—मानव जाति।

—हरदयाल

दक्खिन अमरीका में ऐसे लोग मौजूद हैं जो 'निग्रो' लोगों के साथ बराबरी का व्यवहार करने के बजाय हिटलर को युद्ध में विजयी देखना ज्यादह पसन्द करेंगे। कुछ ऐसे अमरीकन भी हैं, जो एशिया के लोगों को बराबरी का दर्जा देने के बजाय ख़ुद युद्ध में हार जाना ज़्यादह अच्छा समझेंगे। ऐसे अंगरेज भी हैं, जो हिन्दुस्तानियों को आज़ादी देने की निस्बत हिटलर की विजय ज्यादह क़बूल करेंगे।

—श्रीमती पर्ल बक

संसार में तरह तरह के रंग रूप और शक्ल सूरत के आदमी पाये जाते हैं। कोई गोरा है, कोई गेहुँआ, कोई काला, कोई पीला, कोई ताम्बे के रंग का। किसी का चेहरा चौड़ा है, किसी का लम्बा। तरह तरह के रंगों और चेहरो को देख कर हम मनुष्य जाति की बुनियादी भीतरी एकता को भूल जाते हैं। मुड़ी हुई नाक और सुनहरी बालो वाला लम्बा गोरा काकेशियन छोटे क़द चपटे चेहरे और पीले रंग वाले जापानी से, या मोटे

होठ और काले रंग वाले हवशी से अलग मालूम होता है। आकृति, क़द, माथा, नाक, बाल, मुँह आदि के अनुसार आदमी अलग अलग जातियो के माने जाते हैं।

इन बाहरी भेदों मे वर्ण या रंग का भेद आदमियो के मेल मिलाप मे बहुत बड़ी बाधा खड़ी करता है। दुनिया की अधिकांश जनता इस रोग से बीमार है। सभ्यता का दम भरने वाली गौरांग जातियों ने तो काले और दूसरे रंग के लोगो का ऐसा ऐसा संहार किया है, कि उसका हाल पढ़कर दिल को गहरी चोट लगती है, और विचारशील आदमी को उस पर हमेशा लज्जा होगी। इसके सम्बन्ध मे आगे चल कर विचार किया जायगा। पहले हम हिन्दुस्तान की बात लेते हैं।

हिन्दुस्तान के हिन्दुओ में जो सामाजिक व्यवस्था प्रचलित है, वह वर्णाश्रम के नाम से प्रसिद्ध है। चार वर्ण या जाति यहाँ की मुख्य विशेषता रही है। कहा जाता है कि शुरू मे यहां यह जातिभेद श्रम-विभाग की दृष्टि से बना था। श्रम-विभाग का मतलब लोगों को उनके गुण कर्म के अनुसार अलग अलग पेशो मे लगा देना होता है। यह काम कुछ आसान नहीं है, खासकर एक बड़े और मिले जुले समाज मे। आज एक आदमी की रुचि और योग्यता एक तरह का काम करने की है, कल संगति और शिक्षण आदि के प्रभाव से वह उस काम से अरुचि ज़ाहिर करके किसी दूसरे काम की तरफ़ झुक सकता है। सम्भव है इसी कठिनाई को अनुभव करके, और यह विचार करके कि मनुष्य में अपने पैत्रिक कार्य को ठीक-ठीक करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है, लोगो मे गुण कर्म के साथ साथ जन्म (वंश आदि) का भी ख्याल रखने की परिपाटी शुरू हुई हो। धीरे धीरे इस ख्याल को इतना महत्व दिया जाने लगा कि इसके

आगे गुण कर्म की वात पीछे पड़ गई। कुछ जातियों के आदमी केवल जन्म या वंश के आधार पर उच्च समझे जाने की माँग करने लगे और अव उन्हे ऐसा कोई सुधार मान्य नहीं होता, जिस के फलस्वरूप उन का उच्चासन डाँवाडोल होने की सम्भावना हो, और दूसरे आदमी उनके प्रतिद्वन्द्वी बन सकें। समाज मे उच्च पद, मान, प्रतिष्ठा उनके लिए हमेशा के वास्ते सुरक्षित हो गई है। इसके लिए उन्हे कुछ करने धरने की ज़रूरत नही रही। इसके खिलाफ़, दूसरी अनेक जातियाँ ऐसी भी हो गई कि उनके आदमी लाख सिर पटका करें, उनका स्थान समाज में हमेशा नीचा ही रहेगा। वे किसी तरह ऊपर चढ़ने की कल्पना नही कर सकते। उन्हे अपनी मौजूदा दशा मे ही संतोष करना होगा, सामाजिक सुधार के कार्य में आगे वढ़ने का रास्ता उनके लिए बिलकुल बन्द है; उनको जन्म से यह वात सिखायी जाने लगी, और धर्म-ग्रन्थों द्वारा भी उन्हें यही शिक्षा दी जाने लगी कि तुम जहाँ हो, वहाँ ही रहो, तुम्हारा कल्याण इसी में है, और तुम्हारे भाग्य में यही बदा है।

इस तरह भारतीय समाज मे श्रम-विभाग के असली आधार गुण कर्म की उपेक्षा हो गई, और जाति-भेद जन्म या वंश परम्परा के कठोर वन्धन में बंध गया। इसके साथ साथ यह अनिष्ट हुआ कि समाज ने श्रम-विभाग को कुछ अंश में तो अपनाया, पर श्रम की महत्ता को बिल्कुल भुला दिया। पुरोहिताई, पंडागिरी, महन्तगिरी, महाजनी, लेनदेन, ज़मींदारी, सर्राफ़ा, अध्यापकी आदि कुछ काम तो ऊंचे मान लिये गये, और दर्ज़ी, लुहार, नाई, धोवी, चमार मेहतर आदि के काम को नीच समझा गया। यह विचार नहीं रहा कि यदि समाज को इनके कामो की ज़रूरत है, और ये काम सामाजिक व्यवस्था के

लिए उपयोगी हैं, तो फिर इन्हे नीच क्यों माना जाय। प्राचीन काल में जब हर आदमी आम तौर पर अपने कपड़े खुद सी लेता था और धो लेता था तो जब ख़ास जरूरत होने पर उसके इन कामो को कोई दूसरा आदमी कर देता तो वह उसका अहसान मानता था। पर आजकल की परिपाटी मे जब कि एक आदमी को दर्जी या धोबी मान लिया गया है, और उसके लिये प्राय. दूसरा कोई, काम रहा नहीं है, तो हमे उसके प्रति कृतज्ञ होने की कोई ज़रूरत नहीं रह गई। हमे यकीन है कि वह आदमी झक मार कर यह काम करेगा, और जब कि हम बाज़ार दर से उसकी मजदूरी दे देते है तो हम उसके ऋण से सदा उऋण ही रहते हैं। यही बात मेहतर चमार आदि के लिये है।

इस जाति-भेद के समर्थन मे यह कहा जाता है कि इससे समाज का काम निर्विघ्न चल रहा है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह विचार भी तो करना चाहिए कि हमे इसके लिए कितना मूल्य चुकाना पड़ता है। एक तरफ तो उच्च जातियो के आदमी अपने गुण और योग्यता बढ़ाने के लिये कोई प्रेरणा नही पाते, उन्हे मुफ्त में ही ऊंचा बनने का विश्वास रहता है, उनमें अहङ्कार दम्भ आदि दुर्गुणों की वृद्धि होती हैं और बराबरी, हमदर्दी, भाईचारा, निष्पक्षता और स्वतन्त्र चिन्तन आदि सद्गुणो का उनमे अभाव हो जाता है, दूसरे इस परिपाटी में समाजका खासा हिस्सा सदा दलित और पीड़ित रहता है। वह अपने आपको नीच समझता है दूसरे भी उसे नीच समझते और कहते है। इन लोगो के भावो और विचारो का विकास हो ही कैसे सकता है? ये चरम भाग्यवादी, सन्तोषवादी, अनुत्साही और उन्नति-विमुख रहते हैं। जो समाज ऐसे दो ऊंच और नीच भागो में

बँटा हो, उसके उद्धार की आशा क्या हो सकती है ? ऐसी सामाजिक व्यवस्था असहनीय है, चाहे उसे किन्हीं शास्त्रों का समर्थन प्राप्त हो।

जात-पाँत की इस प्रथा ने एक तरफ़ तो कुछ आदमियो को दान-पुण्य की आमदनी पर गुलछर्रे उड़ाने वाला बना दिया है, दूसरी तरफ लाखो नहीं, करोड़ो आदमियो को जन्म जमान्तर के लिए बहुत नीचे दर्जे की मज़दूरी करने के लिए मजबूर कर रखा है। यह विषमता समाज का पतन करती है। यूनान और रोम मे गुलामो की बहुतायत थी, और वहाँ के कितने ही दार्शनिक यह मानते थे कि समाज मे गुलामो का होना ज़रूरी है। यह ग़लत विश्वास ही यूनान और रोम की सभ्यताओं का अन्त करने वाला साबित हुआ। खेद है कि हिन्दू समाज ने उससे शिक्षा न ली।

हिन्दुओ की 'वर्ण व्यवस्था' ने कई करोड़ आदमियो का सामाजिक पद बेहद गिरा रखा है, हमारे कितने ही भाई अस्पृश्य या अछूत माने जाते हैं। कुत्ते बिल्ली आदि पशुओ से भी गये बीते! देश की कितनी शक्ति बेकार जा रही है, भारतवर्ष के विदेशी शासक इस परिस्थिति से कितना लाभ उठाते हैं और यह देश दूसरे देशो मे कितना निन्दा और उपहास का पात्र बना हुआ है! यह प्रथा मनुष्य मे ऊँच नीच का भेद भाव पैदा करती है, उनके विकास में बाधा डालती है, मनुष्य को अपने भाई मनुष्य की दृष्टि मे अछूत या अस्पृश्य ठहराती है, और मानव समाज का विशाल संगठन नहीं होने देती।

पिछले वर्षो मे अनेक महापुरुषो ने भारतीय समाज को जात-पाँत के इस रोग से मुक्त करने का उद्योग किया है। इस विषय पर यहाँ विस्तारसे लिखने की ज़रूरत नही; इसका विवेचन

इस ग्रन्थमाला की 'भारतीय जागृति' पुस्तक में किया गया है। इस समय यहाँ और संस्थाओ के साथ जात-पाँत तोड़क मंडल भी इस दिशा मे बहुत प्रयत्न कर रहा है। धन्य हैं वे सज्जन जो अपना समय और शक्ति इस महान कार्य मे लगा रहे हैं, जिनका आदर्श है कि समाज से विषमता और कटुता दूर होकर सब मनुष्यो की एक जाति हो, गुण कर्मों के अनुसार हर आदमी को आगे बढ़ने का अवसर मिले, क्षुद्र रूढ़ियाँ या परम्पराएँ अब हमारी प्रगति को रोकने वाली न रहे। समाज की स्थिति मे ऐसा परिवर्तन या सुधार करना कुछ सरल काम नही है। इसके लिए व्याख्यान देना या लेख लिखना काफी नहीं है। सुधारको को स्वय उदाहरण बनने को आवश्यकता है।

अब हिन्दुस्तान की बात छोड़कर हम दूसरे देशो के वर्ण-भेद का विषय लेते हैं। आदमी अपने लोभवश अनेक कुकर्म कर जाता है, परन्तु वर्ण भेद या काले गोरे का सहारा मिल जाने पर लोग कहाँ तक नीचता पर उतर आ सकते है, इसका सबूत गौरांग जातियो के उस व्यवहार से मिलता है, जो उन्होने अपने उद्योग-धन्धों और व्यापार की उन्नति की धुन में रंगदार जातियो के प्रति किया है। कई रंगदार जातियो को उनके दुर्व्यवहार और अत्याचार के कारण न केवल अपने रीति रिवाज, रहन सहन, सभ्यता और संस्कृति से हाथ धोना पड़ा, और अपनी आज़ादी से ही वंचित होना पड़ा, बल्कि अपने प्राणो की बलि चढ़ा कर पृथ्वी से अपना नामोनिशान तक मिटा लेना पड़ा। यह सारा इतिहास अमानुषिक अत्याचारो की एक लम्बी कहानी है, जिसे सुनाने के लिये बड़े बड़े स्वतन्त्र ग्रन्थो की आवश्यकता है। पाठक मानव समाज के इस घातक रोग से होने वाली भयङ्कर हानि का कुछ अन्दाजा लगा सकें, और खुद अपने को इस रोग से

बचाते हुये दूसरों की भी इससे रक्षा करने के लिए प्रेरित हों, इस हेतु यहाँ इसका कुछ दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है।

दक्खिन अमरीका मे एजटेक, मय और इन्का सभ्यताएँ ईसवी सन् के पहले वहुत उन्नत रह चुकी हैं। कहा जाता है कि ये सभ्यताएँ भारत और चीन से चलकर प्रशान्त महासागर को पार करके वहाँ पहुँची थी। एजटेक सभ्यता ने मध्य अमरीका में आश्चर्यजनक उन्नति की थी। इसकी वास्तुकला के सुन्दर नमूने, पत्थर के वे कैलैन्डर है, जो वर्ष के भिन्न-भिन्न भाग प्रदर्शित करते थे। संगीत विद्या मे भी यह जाति कम उन्नत नहीं थी। लोहे, सोने, चाँदी आदि धातुओं के गहने और औज़ार बनाने में भी ये बहुत दक्ष थे। कपड़े आदि बुनने और ख़ासकर समूर (फर) को कपड़े के तौर पर काम मे लाने में भी वे बहुत कुशल थे। इस जाति को यूरोप के लालची लोगों के अनुसंधान के कारण लोप होना पड़ा। मय सभ्यता भी, कई यूरोपीय विद्वानो के मत से, मानव संस्कृति की सर्वोच्चता की प्रतीक थी। उसकी कला के नमूने अत्यन्त सुन्दर थे। राजनीति, अर्थनीति, और ज्योतिष में उसका ज्ञान किसी समय बहुत बढ़ा चढ़ा था। उसने पत्थर के बने मकानों के बड़े बड़े शहर बसाये थे, जो जो देखने योग्य थे। यह सब वर्णन ईसा की पाँचवी सदी का है।

इन्का सभ्यता की सर्वोत्तम शासन प्रणाली, आने जाने और व्यापार के सुगम साधन, सिंचाई के लिए नहरें, अच्छी-अच्छी सड़कें, कृषि की उत्तमोत्तम व्यवस्थाएँ, निर्माण कला और दस्तकारी बहुत बढ़ी चढ़ी थी। इसकी भाषा और समाज की सुरक्षा के क़ानून बहुत अच्छे थे। स्पेन की हुकूमत ने इस सभ्यता को मिटा दिया गया। स्पेन के सभ्य कहलाने वालों ने दक्खिन अमरीका में मीता-प्रथा प्रचलित की, जिसके अनुसार यहाँ के

लोगो को ज़बरदस्ती दूसरो के लिए काम करना पड़ता था। इसके फल-स्वरूप कई जातियाँ समूल नष्ट हो गईं। उन्हे इतनी नारकीय यातनाएँ दी जाती थीं कि इनमे से कई जातियो ने आपसी समझौते करके एक दूसरे को मार डाला, और छोटे छोटे बच्चो को मा-बाप ने अपने मरने के पहले अपने हाथ से मार दिया। कई जगह इन अभागो ने यह शपथ लेली कि वे अब सन्तान पैदा न करेंगे। इस तरह एक के बाद दूसरी जाति मरती गई और अपनी मातृभूमि को इन 'सभ्यों' के हवाले करती गईं। दक्खिन अमरीका मे इस समय कई छोटे बड़े स्वतन्त्र राष्ट्र है। ब्राज़ील, चाइल, पेरू, पनामा, पेरेगुए इत्यादि ऐसे देश है, जिनमे गोरी जातियो के कुछ हज़ार लोग ही सारे देशो पर अपना क़ब्ज़ा जमाये हुए हैं। यूरोपीय सभ्यता के प्रभाव में होने के कारण ये दूसरी जातियो को वहाँ बसने नहीं देते।

संयुक्त राज्य अमरीका स्वतन्त्रता का पुजारी मशहूर है; क्या वह वर्ण विद्वेष की इस बुरी भावना से बचा ? वहाँ की सरकार ने अमरीका के असली पुराने बाशिन्दो को नष्ट करने के लिए 'कैपिटेशन ग्रांट' नाम की प्रथा जारी की थी, जिसके अनुसार पुराने बाशिन्दो की खोपड़ी इकट्ठा करने वालो को अमरीका की सरकार की तरफ़ से इनाम मिलता था। इस प्रोत्साहन के कारण गौरांग पार्टियो द्वारा उन लोगों का खूब शिकार किया गया। वहाँ के ईसाई पादरियो ने इस 'धर्म कृत्य' (!) को परलोक प्राप्ति का एक साधन बतला कर आशीर्वाद दिया। नतीजा यह हुआ कि अधिकांश मार डाले गये, कुछ काम लायक़ बना लिये गये, और, कुछ दूसरे देशो मे ले जाकर बेच दिये गये।*

* श्री० कालूराम कानूनगो एम० ए० के 'वीणा' में प्रकाशित लेख से।

आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड में भी वहाँ के मूल निवासियों का भाग्य कुछ कम खराब नहीं रहा। जब से अंगरेज़ वहाँ पहुँचे, तभी से इन उपनिवेशो की नीति रंगीन जातियो के साथ सौतेले भाई की सी रही। 'देश केवल गोरे लोगों के लिए', या 'रंगदार आदमियों का प्रवेश निषेध' इनका आदर्श वाक्य रहा। आस्ट्रेलिया अपने क्षेत्रफल में भारतवर्ष से भी बड़ा है, और इसकी कुल आबादी क़रीब सत्तर लाख है। इसमें वहाँ के मूल निवासियो की संख्या अब केवल पछत्तर हज़ार रह गई है। ये लोग मैदानो को छोड़ कर घने जंगलों मे चले गये है। पिछली दो सदियो मे इन अभागो का पशुओं की तरह शिकार हुआ है।

दक्षिण अफ्रीका के मूल निवासी हबशी है। उनकी सुरक्षा की आड़ मे वहाँ की सरकार बाहर के रंगदार आदमियों के वहाँ आने पर रोक लगाती है। हबशियो के बहुसंख्यक होने पर भी उन्हे वहाँ के शासन मे कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। वे गुलामी के लिए ही रह गए हैं।

गौरांग जातियों के उपनिवेशो मे से कुछ में रंगदार मूल निवासियो पर क्या बीती, यह संक्षेप में ऊपर दिखाया गया है। और भी उपनिवेश है, टापू भी अनेक हैं। कहाँ कहाँ की चर्चा की जाय। सब जगह की यही दुख भरी कहानी है। उसके पढ़ने मे भी हृदय पर चोट लगती है। गोरे वर्ण का हो या पीले, गेहुँए, भूरे या काले रंग का हो, मनुष्य के पतन की कथा दुखदायी हुए बिना रहती। उसका उल्लेख करना अरुचिकर है। इसीलिये गई गुजरी बातो को छोड़ दिया जाता है। फिर भी यह तो बताना ही होगा कि अब भी सभ्यताभिमानियों का रवैया कुछ सुधरा नही है।

यूरोप और अमरीका के कई देशो के नाचघर, जलपान घर

होटल, सिनेमा और नाटक घरो मे और कई दूसरे तमाशो मे रंगदार आदमियो को इसलिए जगह नही दी जाती कि उनके मेनेजर जानते है कि वैसा करने से उनके गोरी जातियो के गाहक बुरा मानेंगे। काला आदमी चाहे जितना शिक्षित हो, वह चाहे उसी ईसाई सम्प्रदाय का हो, और उसी राज्य का नागरिक हो, बहुत से अमरीकन उसे 'अस्पृश्य' मानते है। गोरो का यह आग्रह रहता है कि काले आदमियो का हमारे स्कूल, गिरजा और क्लब आदि से बहिष्कार रहे, यहाँ तक कि उनके मरने पर उन्हे हमारे क़ब्रिस्तान मे जगह न दी जाय।

इस वर्ण-भेद के मर्मभेदी उदाहरण के लिये उत्तरी अमरीका में वहाँ के मूल निवासी 'रेड इंडियनो' या 'निग्रो' लोगों की दशा पर विचार करना होगा। वास्तव मे ये ही पहले उस भूमि के स्वामी थे। वहाँ यूरोपवालो की बस्तियाँ (उपनिवेश) बस जाने पर इन्हें यूरोपवालों की अधीनता या दासता में रहना पड़ा। इन्होने ज़हाँ तक बन पड़ा गोरो के रीति रिवाज और वेशभूषा को अपनाया। अनेक बाधाएँ होने पर भी इन्होने गोरे लोगो की भाषा सीखी और उसी में शिक्षा हासिल करने की चेष्टा की। संगीत में तो उन्होने बहुत ही उन्नति कर दिखाई। यह सब होते हुये भी वे गौरांग लोगोकी सहानुभूति और प्रेम के पात्र न बन सके। समता और स्वाधीनता का दम भरते हुये भी वहाँ की सरकार ने इनके साथ न्याय न किया। बहुत साधारण और अप्रामाणित अपराधो पर इन्हे कठोर से कठोर दण्ड दिये गये। वर्तमान महायुद्ध से पहले तक इन्हे क्रूर दंड दिये गये है। गोरो द्वारा इनका 'लिंचिंग' होना सभ्यता के लिए एक बहुत बड़ा कलंक है। छोटी छोटी बातो पर इन्हें आग से जला कर मृत्यु-दण्ड दिया जाता रहा है। यदि वहाँ की सरकार से कोई इस

विषय में कुछ कहता है, तो उसके पास उसका टकसाली जवाब मौजूद है—'यह हमारा घरू मामला है ; दूसरों को इसमें दख़ल देने का कोई अधिकार नहीं।'

दक्खिन अफ्रीका की रंग-भेद की नीति तो मशहूर है ही। एशिया वालो से अपने यहाँ के अँगूठे के निशान लगवाना, पोल टेक्स अर्थात् प्रति व्यक्ति कर, गिरमिटिया प्रथा, रंगीन लोगों की अलग बस्तियों आदि की बातें सब जानते हैं। इस समय भी वहाँ हिन्दुस्तानियों का रहना स्वीकार नहीं किया जाता। यूनियन पार्लिमेंट की तो बात ही क्या, इस समय वहाँ प्रवासी भारतीयों को प्रान्तीय कौंसिलों और नगर-कौंसिलों (म्युनिसिपेलटियों) तक में मेम्बरी का हक हासिल नहीं है और, उनको किसी लगनी बीमारी की तरह यूरोपियन बस्तियो से अलग रखा जाता है। हिन्दुस्तानियो को धीरे धीरे नागरिक अधिकार देने, और शुरू में केवल म्युनिसिपेलटियों में उनके प्रतिनिधि लिये जाने की बात भी यूनियन सरकार को मंजूर नहीं है।

इन पंक्तियो को लिखते समय एक समाचार हमारे सामने है, उसका शीर्षक है—'पहला हिन्दुस्तानी शिकार'। समाचार में कहा गया है कि दक्खिन अफ्रीका की यूनियन सरकार ने 'पेगिंग एक्ट' पास करके गोरे लोगो की बस्ती मे हिन्दुस्तानियों के न बस सकने का जो अपमानपूर्ण कानून बनाया था, उसके अनुसार गत २६ नवम्बर-१९४३ को श्री० पाथर नामक पहले हिन्दुस्तानी को पाँच पौंड (लगभग सत्तर रुपये) का जुर्माना या सात दिन की क़ैद की सजा दी गई, क्योंकि उसने मूर रोड नामक गोरे मोहल्ले के एक मकान में रहने का साहस किया था! यह बात ऐसे समय की है जब कि महायुद्ध के रूप में मौत हम सब के सिर पर नाच रही है, और संसार में शान्ति और समता

क़ायम करने के लिये नई नई योजनाएँ वन रही हैं।

लाला हरदयाल ने वर्ण-भेद दूर करने के लिए व्यंग्य पूर्वक एक रासायनिक उपाय वतलाया है—'वैज्ञानिको को एक ऐसे रोगन का आविष्कार करना चाहिए, जो दुनिया भर के पुरुषों और स्त्रियो के शरीर के रग के लिए अच्छा समझा जाय। रंग की गहराई कम ज्यादह हो तो हर्ज नहीं, मुख्य वात यह है कि रंग एक ही हो। एक अन्तर्राष्ट्रीय समिति कोई एक रंग पसन्द कर ले। गोरा, काला, मटियाला, भूरा, गेहुँआ, खाकी, पीला, वसन्ती आदि। हर नवजात शिशु इस निर्धारित रोगन से रंग दिया जाया करे, और, पीछे उसके जीवन-काल में समय समय पर इसकी पुनरावृत्ति होती रहे। रोगन का रंग वही रहे कोई दूसरा न हो इससे वर्ण-भेद की समस्या हमेशा के लिए हल हो जायगी।' लाला हरदयाल की इस चुटकी मे मानव जाति के लिए वड़ा दर्द छिपा हुआ है। क्या हम अव भी ऐसी मूर्खता की वातें सोचते रहेंगे कि गोरे रंगवाले आदमी सव से श्रेष्ठ होते हैं, भूरे रंगवाले उनसे कम श्रेष्ठ, और काले रंगवाले सव से नीचे दर्जे के।

हम अपने आपको वहुत वुद्धिमान और विचारवान कहते हैं। लेकिन जव हम रूप रंग आदि के फरक को देखते हैं तो हम भूल जाते है कि सब आदमियो मे एक सोचनेवाला मस्तिष्क और प्रेम करने वाला हृदय होता है। अमरीका मे गोरे वालक अपने साथ हब्शी वालको के काले रंग से अरुचि प्रकट नही करते, वे उनके साथ ख़ूव हिलमिल कर रहते और खेलते है। इस तरह वालक हमें वुद्धिमानी सिखाते हैं। पुरुष और स्त्री का प्रेम जाति या रंग से परे होता है। वह क़ानून के वन्धनो या सीमाओ को स्वीकार नही करता। मध्य अमरीका मे गोरे और

काले के मेल से भूरे रंग की सुन्दर सन्तानें हुई हैं। हमें भाई-चारे का खूब प्रचार करना चाहिए। इसके अतिरिक्त, हमे सस्कृति के उन अनेक तत्वों का विचार करने का अभ्यास करना चाहिए जो सब जातियों में समान रूप से मौजूद हैं। बालकों को घर पर तथा बाहर उदार शिक्षा मिलनी चाहिए। प्रेम और सहयोग के भावो की वृद्धि करने वाले साहित्य का प्रचार होना चाहिए। तभी हम उन विकारो से बच सकते हैं, जो शकल सूरत के भेद से हमारे मन में पैदा हो जाते हैं। वर्ण-भेद का रोग पुराना है, पर असाध्य नहीं है। मानव जाति के सुन्दर भविष्य में विश्वास रखते हुये उसकी धैर्य पूर्वक चिकित्सा की जानी चाहिए। सफलता निश्चित है।

—o—

पन्द्रहवाँ अध्याय

भाषा-भेद

—:o:—

'आपने मुझे भाषा सिखाई और मुझे फायदा यह हुआ कि मैं दूसरों को कोसना सीख गया।'

—*शेक्सपीयर*

'जापानियों ने अपने देश की भलाई को सामने रख कर अपनी छोटी बड़ी रियासतों, अपनी देहाती बोलियों और अपनी बहुत सी परम्परागत रूढियों, रस्म रिवाजों को त्याग कर एक भाषा और एक क़ौम का निर्माण कर दिखाया। और एक हम हैं, जो अपने देश मे बहुत सी भाषाओं के होते हुए भी सन्तुष्ट नहीं हैं, उनकी तादाद घटाने के बदले बढ़ाने पर तुले हुए है, बना बनाया काम बिगाडने और बसी-बसायी बस्ती उजाड़ने पर उतारू हैं।'

—*भवानीदयाल संन्यासी*

भाषा या ज़बान मनुष्यो को मिलाने का बहुत अच्छा ज़रिया है। एक ज़बान बोलने वाले आदमी एक दूसरे का दु ख सुख जान लेते हैं; धीरे धीरे उनमे एक दूसरे की सहायता और एक दूसरे से हमदर्दी के भाव बढ़ते जाते हैं, बातचीत से उनमे विचारो का तबादला होता है, और इससे विचारों मे एकता आती है। उनका एक दूसरे से सम्बन्ध ज्यादह गहरा होता जाता है। इसके साथ ही यह भी ध्यान मे रखना ज़रूरी है कि भाषा की अलहदगी से जनता की नाइत्तफ़ाकी ज़ाहिर होती है। मानव जाति अलग अलग टुकड़ो मे बट रही है और उनमे भेद भाव, एक दूसरे से नफरत और कलह बनी हुई है।

यह स्वाभाविक ही है कि उन अनजान अजनबी या अपरिचित लोगो से हम भाईचारा क़ायम न कर सकें, या न करना चाहे. जिनकी भाषा हम नही समझ सकते, और जिनके साथ हम बातचीत नहीं कर सकते। सहयोग या मेल मिलाप की ज़रूरी शर्त यह है कि आदमी एक दूसरे की बात समझें। शुरू की हालत में बोलियाँ या उपभाषाएँ अनगिनत होती हैं। इसलिये लोगो का एक दूसरे से सम्बन्ध छोटे छोटे दायरो मे महदूद या परिमित रहता है। धीरे-धीरे एक बोली विकसित होकर राष्ट्र-भाषा या क़ौमी ज़बान बन जाती है, और राष्ट्र-भाषा ही के अधार पर जनता का राष्ट्र-राज्य नाम से राजनैतिक संगठन हो जाता है। फिर भी एक राष्ट्र के सब हिस्सो मे एक ही भाषा नहीं बोली जाती, अलग-अलग हिस्सों मे बोलचाल की अलग अलग भाषाएँ बनी रहती हैं, जिनमें दूरी के हिसाब से फरक़ बढ़ता जाता है। जिन देशों में शिक्षा का प्रचार ठीक ठीक नहीं हुआ है, और आने जाने के ज़रियों आदि की कमी के कारण दूर दूर

के लोगो का एक दूसरे से मिलना कम होता है, वहाँ थोड़ी थोड़ी दूर पर ही इन उपभाषाओ या बोलियो में काफी फरक़ होता है, इसलिए क़ुदरती तौर पर वहाँ उपभाषाओ या बोलियों की तादाद उन्नत या ज़िन्दा राष्ट्रों की निस्बत कहीं ज्यादा होती है। हाँ, लोगो की सामाजिक, राजनैतिक और तिजारती ज़रूरतों के कारण उन उपभाषाओं मे से, जो राष्ट्र-भाषा की जगह लेने के क़ाबिल होती है, वही शिक्षा और साहित्य की भाषा बनायी जाने के योग्य समझी जाती है। राष्ट्र-भाषा मे उपभाषाओं के शब्द और मुहावरे (लोकोक्तियाँ) शामिल होते रहते हैं; यही नहीं, उसमें ज़रूरत और मेल मिलाप के साथ साथ विदेशी शब्दो और कभी कभी विदेशी वाक्य रचना की शैलियो को भी अपनाने का काम चलता रहता है। जितना जितना इस राष्ट्र-भाषा का प्रचार बढ़ता जाता है, उतना उतना ही राष्ट्र के सब लोगो का एक दूसरे से सम्बन्ध ज्यादह गहरा होता जाता है। राष्ट्र-भाषाओ का मनुष्य-जाति के विकास में एक ख़ास स्थान है।

पहले यह हालत रह चुकी है कि दस बीस मील के अन्दर के आदमी ही एक दूसरे से बातचीत कर सकते थे, वे ही आपस में सम्बन्ध रखते थे। उस दायरे से बाहर वालो से बातचीत करना उनके लिए सम्भव न था, इशारों की मदद से, जैसे तैसे वे बाहर के आदमियो को अपना मतलब बता पाते थे, और उनका मतलब समझने की कोशिश करते थे। इस तरह हर दस बीस मील के अन्दर के आदमियों की एक अलग दुनिया थी। पाठक अनुमान कर सकते हैं कि आज कल जिसे हम एक देश, या एक राष्ट्र, या एक क़ौम कहते हैं; वह पहले कितने सौ या कितने हज़ार टुकड़ों मे बंटा हुआ रहा होगा, और हमारी यह धरती तो और भी ज्यादह हिस्सो मे बंटी हुई होगी।

परन्तु जीवन गतिशील है, वह बदलता रहता है। वह एकसा अर्थात् एक ही हालत मे नही रहता, उसमे परिवर्तन होता रहता है। धीरे धीरे लोगो को यह मालूम होने लगा कि बिलकुल एकांगी जीवन व्यतीत करने मे बहुत कठिनाइयाँ है। सामाजिक या तिजारती और दूसरी जरूरतो से एक हिस्से के लोगों का दूसरे हिस्से के रहने वालो से मेल मिलाप बढ़ता गया। उन्होने एक मिली हुई भाषा की जरूरत और उसके फ़ायदो को अनुभव किया। कुछ लोगो ने इन मिली हुई भाषाओ के बनाने मे असली हिस्सा लिया, और कुछ ने अनजाने ही उसमे साथ दिया। हाँ, कुछ को यह काम नापसन्द भी हुआ, उन्होने इसका अपने अपने ढंग से विरोध किया। परन्तु परिवर्तन-चक्र चलता रहा, इनक़लाब का पहिया नहीं रुका, मिली जुली या विकसित भाषाओं का प्रादुर्भाव होकर रहा, और जो लोग इनसे कुछ बचना चाहते थे, उन्हे भी जल्दी या देर मे इनका उपयोग करना पड़ा। मिली जुली भाषाओ ने जुदा जुदा भू-भागो को मिलाया। यह क्रिया जारी रहने का ही यह नतीजा है कि हम दुनिया भर मे आजकल की राष्ट्र-भाषाओ और राष्ट्र-राज्यो तक पहुँचे हैं।

अपनी प्रगति की इस मंजिल पर खड़े होकर हम सोचते है कि हम कहाँ से कहाँ आगये। हमने बहुत यात्रा तय कर ली है, हमारे रास्ते मे समय-समय पर रुकावटें आई। फिर भी हम निरन्तर आगे ही बढ़ते रहे हैं। हम उस जगह को दूर छोड़ आये हैं, जहाँ से हम रवाना हुए थे। परन्तु जब हम यह सोचते हैं कि हमे कहाँ पहुँचना है, तो अभी भी दिल्ली दूर ही नज़र आती है। राष्ट्र-भाषाओं का कार्य अभी पूरा नहीं हुआ। फिर राष्ट्र भाषाओ ने हमें जो राष्ट्रीयता दी है, वह भी आजकल की दुनिया में कई दृष्टियों से एक बन्धन ही मालूम हो रही है। यह

एक दूसरा ही विषय है। जो हो, राष्ट्र-भाषा हमारी राष्ट्रीय जरूरतो को पूरा करने के काम आती है। इसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के सहारे हमारे अन्तर्राष्ट्रीय काम पूरे होते हैं; अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं कायम होती है। इसी क्रम या सिलसिले से यह उम्मीद की जाती है कि एक दिन विश्व-भाषा का विकास होकर वह विश्व-राज्य के कायम करने में सहायक होगी।

परन्तु अभी इस समय क्या हालत है। पुराने ज़माने की हज़ारो भाषाएँ लोप होकर दुनिया भर में साहित्यिक भाषाएँ कुल चार पाँच दर्जन ही है। फिर भी हर राष्ट्र और हर देश में कई कई उपभाषाएँ मौजूद है। और, एक उपभाषा बोलने वालों के लिए दूसरी उपभाषा समझना कठिन होता है। मिसाल के लिए ब्रिटिश द्वीप की बात लें, जो क्षेत्र फल मे पञ्जाब से भी कम है, और जहाँ आने जाने के साधनो की तरक्की काफी होने से लोगों का आपस में मिलना जुलना भारतवासियो के आपस के सम्बन्ध के मुकाबले में बहुत ज्यादह है। वहाँ इंगलैन्ड, वेल्ज़, स्काटलैन्ड और आयर्लैन्ड मे अँगरेज़ी के कई भेद या रूप मिलते हैं, जो एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि एक को बोलचाल के काम में लाने वाले दूसरे रूप को आसानी से नही समझ पाते। खुद इंगलैण्ड की ही अलग अलग काउंटियो (ज़िलो) मे बोली जाने वाली अगरेज़ी भाषा के उच्चारण मे, शब्दो मे और वाक्य-रचना मे काफी फरक है। परन्तु अगरेज़ी की इन उपभाषाओ मे से हरेक मे स्वतन्त्र साहित्य पैदा करने को वहाँ के विद्वान प्रोत्साहन नही देते। शिक्षा और साहित्य-रचना के लिए एक सामान्य अंगरेज़ी भाषा का इस्तेमाल करके ही सब अपना काम चलाते हैं। वे यह समझते हैं कि यदि हरेक उपभाषा को शिक्षा और साहित्य की भाषा माना जायगा, तो

जनता की मानसिक उन्नति, दिमागी तरक्की या प्रगति में रुकावट होगी, और आज दिन अंग्रेज़ी भाषा को साहित्य की दृष्टि से जो एक खास जगह मिली हुई है, वह भी न रहेगी। इसलिये उन्हे अपने अपने यहाँ की अलग अलग उपभाषाओ का मोह सीमित और रोक कर रखना पड़ता है। सार्वजनिक उत्थान या सबकी तरक्की और भलाई के लिए मनुष्यो या समूहों को अपनी अपनी बात या भावना कुछ अश तक छोड़ देने से ही मनोरथ सिद्ध होता है।

इस विषय पर प्रकाश डालने के लिये अब हम भारतवर्ष की हालत पर विचार करें। यहाँ हिन्दी (उर्दू या हिन्दुस्तानी) बंगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलगू, कन्नड़, और मलयलम भाषाएँ मुख्य हैं। इनमें शिक्षा और साहित्य का काम हो रहा है। इनमे से हरेक की बहुत सी उपभाषाएँ हैं, जो एक दूसरे से काफी अलग है। ऊपर की भाषाओ में से हिन्दी एक ऐसी भाषा है, जो बिहारी, राजस्थानी, पंजाबी आदि अपनी उपभाषाओ और बोलियों को मिलाकर भारतवर्ष के हर सात आदमियों में से तीन की भाषा है, जिसे वे रात दिन बोलते हैं। तीन चौथाई से ज्यादह भारतवासी अपना काम चलाने योग्य हिन्दुस्तानी समझ सकते हैं। कुछ साल पहले मदरास और आसाम आदि के आदमी हिन्दी नहीं समझ सकते थे, पर अब कोशिश करने से वहाँ भी समझने लग गये हैं। इस तरह यह भाषा हिन्दुस्तान की राष्ट्र-भाषा या कौमी जबान होने के ज्यादह काबिल हो गई है।

ऊपर कहा जा चुका है कि हिन्दी के कई भेद या इसकी छोटी छोटी बहुत सी उपभाषाएँ थोड़ी थोड़ी दूर पर मौजूद हैं। हमारा हित और भला इसमें है कि इन्हे अनावश्यक महत्व न

दिया जाय । सारी मनुष्य जाति की प्रगति और उसके भले का विचार करते हुए हमें भारतवर्ष में हिन्दी और ऊपर लिखी मुख्य मुख्य भाषाओ को ही शिक्षा और साहित्य की भाषाएँ मानना चाहिये । हाँ, इनकी जो उपभाषाएँ हैं, भाषा-विज्ञान या समाज-शास्त्र प्रेमी सज्जन उनका अध्ययन करते रहें। उनका जो कुछ साहित्य—गीत; गाथाएँ, कहावतें, मुहावरे, शब्द आदि मिल सकते है, उनका संग्रह करके उसे सुरक्षित रखने की व्यवस्था भी होनी चाहिए, जिससे उसका उपयोग होसके परन्तु इन उपभाषाओ को शिक्षा का माध्यम बनाने या उनमें अब उच्च कोटि का साहित्य रचने का आयोजन नहीं होना चाहिए। ऐसा करना विकास के सारे क्रम को उलट देना होगा ।

खेद है कि यह बात हमारे कुछ अच्छे अच्छे विद्वानों की भी समझ मे जल्दी नही आती । वे 'जनपदो की भाषा' और 'जनपदो के साहित्य' का नारा बुलन्द करते हैं । वे कहते हैं कि हिन्दी तो इन जनपदो की केवल राष्ट्र-भाषा है, मातृ-भाषा नहीं, और इसलिये हि दी से हमारा सम्बन्ध केवल राष्ट्र की ज़रूरतो के नाते से ही रहे, प्रारम्भिक शिक्षा आदि का काम जनपद की भाषा से लिया जाय । ऐसी बातो की ओर भावुक और भोली जनता बहुत जल्दी आकर्षित हो जाती है। कुछ नेतृत्व या ख्याति के इच्छुक लोगो को नया धन्धा मिल जाता है और वे इस कार्य मे सहयोग देने लगते है । परन्तु इससे देश की कितनी शक्ति बँट जाती है, और उस शक्ति का कितना अपव्यय होता है ! क्या यह उचित है ? हमे अभी कितनी साहित्यिक प्रगति करनी बाकी है, विश्व-साहित्य मे कितना और क्या हिस्सा लेना है, विश्व-भाषाओ मे अपनी भाषा को कैसा स्थान पाने के योग्य बनाना है, इन सब प्रश्नों पर हमे गम्भीरता के साथ विचार

करने की ज़रूरत है।

ऊपर हमने भारतवर्ष को सामने रख कर जो बात कही है, वह सभी देशो के सम्बन्ध में विचारणीय है। हमे समझ लेना चाहिए कि छोटे छोटे देशो मे भी समय समय पर अनेक भाषाओं का प्रादुर्भाव हुआ। अपने समय मे उन्होने जनता का खूब काम चलाया, उनकी उस समय की उपयोगिता को भुलाया नहीं जा सकता। पर कालचक्र चलता रहता है। वे सब भाषाएँ आज दिन तक जीवित नहीं रह सकीं और यदि उन्हे जीवित रखने की कोशिश की जाय, तो उसके लिए मानव विकास की रुकावट के रूप मे बहुत बड़ी क़ीमत चुकानी पड़ेगी। मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपनी पुरानी आदत, अभ्यास रस्म-रिवाज, रूढ़ि और परम्परा की याद बनाये रखना चाहता है: परन्तु यह बात एक खास हद तक ही उपयोगी होती है। कभी कभी ऐसा देखने मे आया है कि बालक एक कपड़ा पहने हुए है, वह मैला हो गया है, शायद फट भी गया है। मा चाहती है कि उस कपड़े को उतार कर बालक को नया वस्त्र पहना दिया जाय। परन्तु बालक अपना कपड़ा उतारना पसन्द नहीं करता, उसे इसमे कष्ट या झंझट मालूम होता है, वह अपना कपड़ा उतारे जाने का विरोध करता है। और, मा को बालक की इच्छा के विरुद्ध अपना काम करना पड़ता है। माता का स्नेह और बालक का हित दोनो इसी मे है। बालक उस समय अपने भले बुरे का विचार करने योग्य नही होता। इसलिए वह माता के काम मे अरुचि और अप्रसन्नता प्रकट करता है। हाँ, कुछ देर बाद नया कपड़ा पहन चुकने पर, बालक को भी यह अनुभव होने लगता है कि अच्छा हुआ, मा ने मुझे नया वस्त्र पहना दिया, अब इस कपड़े मे मैं पहले से अच्छा दिखाई देता हूँ। अगर बालक मे

कुछ सोचने की शक्ति हो, तो उसे अवश्य ही इस बात पर खेद हो कि उसने पुराना कपड़ा उतारने का इतना विरोध क्यो किया था।

भाषा सम्बन्धी नीति मे आजकल हम प्रायः बाल-मनोवृत्ति का परिचय दिया करते है। प्रकृति माता चाहती है कि हम अधिकाधिक विकसित भाषा का उपयोग करके अपने विकास और प्रगति मे सहायक हो, परन्तु हम अपनी कम विकसित उपभाषा या बोली से ही चिपटे रहना चाहते हैं। हमारा उसके प्रति मोह होता है। हम उसे शिक्षा और साहित्य की भाषा बना कर सृष्टि क्रम के विरुद्ध भी उसे अमर बनाने के उत्सुक रहते हैं। ससार मे मानव जाति के काम में आने वाले साधनो का निरतर विकास और रूपान्तर होता रहा है, और होता रहेगा। हम अपनी अनुदारता, सकीर्णता, तंग दिली या मोह वश इस गति को रोकने की कितनी ही कोशिश करें, हम उसमें पूरी तरह कामयाब नहीं हो सकते। घड़ी की सुइयो को आगे बढ़ने से रोक रखना हमारे वश की बात नहीं है। दुनिया मे अनेक उप-भाषाएँ या बोलियां लुप्त हो कर अपनी जगह किसी एक भाषा को देती रहती है, उन्हे कृत्रिम या बनावटी साधनो से बल प्रदान करना और जीवित रखना मानव विकास-क्रम के विरुद्ध है।

उपभाषाओ की बात छोड़ कर अब हम संसार की बड़ी बड़ी मुख्य मुख्य भाषाओ का विचार करें, तो प्राय. यह बात देखने मे आती है कि हर एक भाषा अपने पास की दूसरी भाषा से थोड़ी बहुत मिलती है। इन भाषाओ मे यह तय करना कठिन हो जाता है कि कहाँ एक समाप्त होती है और दूसरी शुरू होती है। जो ज़िले दो प्रान्तो के बीच में सरहद पर होते है,

उनकी भाषा प्राय: दोनो प्रान्तो की भाषाओ के मिले जुले रूप मे होती है। उनमे दोनो भाषाओ के शब्द, कहावतें और मुहावरे मिले होते है। इसके अलावा आनेजाने और मेल जोल के बढ़ने के साथ साथ दूसरी भाषाओ के शब्द और मुहावरे भी हर भाषा मे आते रहना लाज़मी है। इस तरह संसार की विविध भाषाओ मे लेन देन का व्यवहार जारी रहता है। कुछ हम दूसरो से लेते है, और कुछ दूसरे हम से लेते है। यह लेन देन की क्रिया अधिकतर हमारे विना जाने ही होती रहती हैं। कोई आदमी यह अभिमान नहीं कर सकता कि मैं विल्कुल स्वावलम्बी हूँ, मुझे किसी से कोईचीज़ लेने की ज़रूरत नहीं है। इसी तरह कोई भाषा भी विल्कुल पूरी होने का दावा नही कर सकती। यदि वह अपने चारो तरफ़ व्याकरण के नियमो आदि की ऐसी दीवार खड़ी करेगी कि उसमे किसी तरह का परिवर्तन न हो, और उसमे नये शब्दो और मुहावरो आदि को स्थान न मिल सके, तो वह भाषा ऐसे प्राणी की तरह होगी, जिसका ताज़ी हवा न मिलने के कारण दम घुटता है, और जिसकी अन्त मे मुर्दों में शामिल होने की सम्भावना होती है। जो पानी वहता नहीं रहता, वह सड़ जाता है; और, जो भाषा सुधार, सशोधन, वढ़ने या फैलने से वचती है, वह थोड़े ही समय मे मृत-भाषा वनने की तैयारी करती है।

खेद है कि अनेक सज्जन इस साधारण नियम की अवहेलना करते हैं। वे भाषा के विषय में कट्टर साम्प्रदायिकता का परिचय दिया करते हैं। उन्हे हर दम यह खटका लगा रहता है कि हमारी भाषा मे दूसरी भाषाओ के संसर्ग से कुछ दोष न आजाय। वे छाँट छाँट कर ऐसे ही शब्दो का प्रयोग करते हैं जिन्हे वे ठेठ उसी भाषा का समझते हैं। दूसरे शब्दो का वे पूरा पूरा

वहिष्कार करने के पक्ष मे होते है। इस तरह कुछ 'हिन्दी-भक्त ऐसी भाषा लिखते पढ़ते है, जिसमे संस्कृत के तो कठिन से कठिन शब्द आ जायँ पर उर्दू फारसी आदि दूसरी भाषाओ का शब्द ढूढ़े भी न मिले। इसी तरह उर्दू के कुछ प्रेमी अपनी भाषा मे अरबी फारसी के तो मुश्किल से मुश्किल शब्द काम मे ले आवेंगे, पर ऐसा कोई शब्द इस्तेमाल करना पसन्द न करेंगे जो मूल में संस्कृत का रहा हो। इन दोनों कट्टर गिरोहो की नीति का ही यह फल है कि हिन्दी और उर्दू जो पहले एक ही भाषा के दो नाम थे, अब एक दूसरे से ज्यादह से ज्यादह दूर होती जा रही है। हम हिन्दी वाले अपनी ताक़त इस बात में लगा रहे हैं कि हमारी भाषा किस तरह उर्दू से बिलकुल अलग दिखाई दे। हम क़दम क़दम पर कोष और व्याकरण की कसौटी से काम लेते हैं। हम भूल जाते हैं कि कोष और व्याकरण को भाषा का सहायक होना चाहिए न कि उसका जेलर। यदि वे समय-समय पर परिस्थिति और ज़रूरत के अनुसार बदलते नहीं है, तो वे भाषा के विकास और उसकी तरक्की और बढ़ौती को रोकने वाले बन जाते हैं।

हमारा यह मतलब नही कि आदमी ख्वाहमख़ाह भाषा मे नये नये दूसरी भाषाओ के शब्दो आदि का प्रयोग किया करे, चाहे वे सुनने और पढ़ने वालो की समझ में आवें या न आवें। कई कई भाषाओ को ज़बरदस्ती मिलाकर खिचड़ी भाषा का व्यवहार करना बेजा और हानिकर है। हमारा मतलब सिर्फ यह है कि जिस शब्द या शैली या मुहाविरे को जनता-जनार्दन ने अपना लिया है, उसकी शुद्धि अशुद्धि को परखना साहित्यकार के लिए ग़ैरज़रूरी और अनधिकार चेष्टा है। हमें उनसे परहेज करने की बिलकुल ज़रूरत नहीं है। जहाँ तक बन आवें, हमे

अपनी ज़बान को आमफहम यानी सरल और सुबोध रखने की कोशिश करनी चाहिए, जिससे वह ज्यादह से ज्यादह जनता के काम मे आ सकें, और देश मे आपसी मेल का ही कारण बने, फूट का नहीं। हर भाषा के शुभचिन्तको को चाहिए कि वे अपने व्यवहार से भाषा के बढ़ने या विकास को रोकने के दोषी न बनें। उनका फर्ज़ है कि अपनी ताकत को व्यर्थ के वाद-विवाद मे न लगा कर अच्छी रचनाओ द्वारा भाषा का भडार भरें, उन रचनाओ के लिए वे तन मन से ख़ूब मेहनत करें। उनकी साहित्य-सेवा का लक्ष्य सचमुच साहित्य की सेवा हो, यही उनकी जिन्दगी का व्रत और मकसद हो।

सच यह है कि अच्छे साहित्य को बनाने के लिए लेखक को ख़ुद अपना जीवन निर्माण करना होगा, अच्छे गुणोका अभ्यास करना और अच्छे विचारो को अमल में लाना होगा। ऊँचे चरित्र के विना पूरे प्रभावशाली या बाअसर साहित्य की रचना रचना नहीं होती। पर चरित्र-निर्माण एक अलग ही विषय है। इस पर विचार किसी दूसरे मौके पर किया जायगा।

यहाँ कहने की मुख्य बात यह है कि हमे इस भाषा-भेद को धीरे धीरे हटाते रहना चाहिए, जिससे ज्यादह से ज्यादह आदमियो मे बातचीत और विचार-विनिमय करने और एक दूसरे से मिलने जुलने का रास्ता साफ हो; एक सूबे के आदमी दूसरे सूबे वालो के, और एक देश के आदमी दूसरे देश वालो के, नजदीक आ सकें। इस भाषा-भेद के कारण जो बड़ी बड़ी दीवारें मनुष्य-समाज को अलग अलग टुकड़ो में बाँट रही है, उन्हे गिराने मे, और विश्व-भाषाके लिए रास्ता साफ करनेमे सहायक होना हर विचारशील प्रगतिवादी आदमी का परम कर्तव्य है।

—०—

सोलहवाँ अध्याय

साम्प्रदायिकता

सम्प्रदायवाद ने हर सम्प्रदाय की छोटी से छोटी रूढियों, रिवाजों, पूजा के तरीकों आदि को जो एक दूसरे के विरुद्ध हैं, अमर और एक मात्र सत्य या कल्याण का एक मात्र उपाय साबित करने और बनाये रखने की कोशिश की है। यदि इन आधारों को न हिलाया गया, उनमें बुद्धि और तर्क से छान बीन करके दूध का दूध और पानी का पानी अलग अलग न किया गया तो विविध सम्प्रदायों के वे आपसी झगडे और मतभेद जो इस समय संसार की उन्नति में कंटकों का काम दे रहे हैं, कभी दूर नहीं हो सकते।

—*रघुवीरशरण दिवाकर*

मानव समाज के संगठन के बढ़ने और ज्यादह व्यापक होने में एक बड़ी रुकावट साम्प्रदायिकता या धार्मिक भेद-भाव है। असल में 'धर्म' शब्द बहुत व्यापक है। इसका अर्थ कर्तव्य या फर्ज़ है। इसी तरह 'मज़हब' का अर्थ रास्ता है। धर्म के आधार पर बने हुए सब संगठनों का आपस मे मेल होना चाहिए, लेकिन व्यवहार में इसका उलटा है। आम तौर पर धर्म का मतलब अलग अलग मतमतान्तर या सम्प्रदाय लिया जाता है। ये मत मतान्तर समाज-सगठन मे किस तरह बाधक होते हैं, इसका विचार करने के लिए हम पहले यह सोचें कि मनुष्य में धर्म की भावना क्यों होती है, और उससे क्या लाभ होता है।

मनुष्य का ज्ञान बराबर बढ़ता रहा है, फिर भी दुनिया की

बहुत सी चीजें और घटनाएँ आदमी के लिए अभी तक रहस्यमय ही हैं। उनमें आदमी की अक्ल काम नहीं करती। आदमी चाहे या न चाहे, वह यह सोचने को मजबूर होता है कि उसकी पहुँच से परे कोई न कोई ऐसी अदृष्ट शक्ति है, जो दुनिया मे समय समय पर तरह तरह के परिवर्तन करती रहती है, जो सब जानदार और बेजान चीजो पर शासन करती है; अन्त मे सब जानदारों का जीना, मरना, सुख दुख, हानि लाभ आदि उसी के अधीन है। आदमी इस अदृष्ट शक्ति को जान नहीं पाता, पर वह इसके अस्तित्व से इनकार भी नही कर सकता। इस महान, सर्वोपरि और सर्व नियंता शक्ति के सामने उसका अहकार नष्ट हो जाता है, और वह श्रद्धा और विनय के साथ अपना सिर झुका देता है।

मनुष्यो ने उस शक्ति के अलग अलग नाम रखे है, कोई उसे परमात्मा कहता है, कोई खुदा, और कोई 'गाड'। अपनी बुद्धि के अनुसार कोई उसे निराकार मानता है; कोई साकार। साकार मानने वाले तरह तरह क देवी देवता, अवतार, पीर आदि की पूजा करते हैं। लोग विश्वास करते हैं कि ईश्वर या देवी देवताओ की आराधना से उनकी सुख शान्ति बढ़ेग, अनिष्ट का निवारण होगा; और इस जीवन के बाद, मरने पर परलोक मे भी उनका कल्याण होगा। यही भावनाएँ तरह तरह के धर्मो को जन्म देती है। ससार के अलग अलग हिस्सो मे समय समय पर अनेक धर्म हुए है। उनमे से कुछ का रूपान्तर होगया है, और कुछ लोप हो गये। फिर भी इस समय कई धर्म और उनकी शाखाएँ मौजूद है। यदि हम जापान से शुरू करके पच्छिम को चलें तो हमे नीचे लिखे मुख्य मुख्य धर्म मिलते है—(१) शिन्तो धर्म जिसका जन्म

जापान मे हुआ; (२) ताओधर्म और (३) कनफ्यूसियस धर्म, चीन मे; (४) वैदिक धर्म, जिसे अब हिन्दू धर्म कहते हैं; (५) बौद्ध धर्म, (६) जैन धर्म और (७) सिक्ख धर्म, भारतवर्ष मे; (८) ज़रदुश्ती धर्म या पारसी धर्म, ईरान मे; (९) यहूदी धर्म और (१०) ईसाई धर्म फिलिस्तीन (पैलेस्टाइन) में; और (११) इसलाम धर्म अरब मे। इनमे से वैदिक धर्म और शिन्तो धर्म को छोड़ कर और सब धर्म एक न एक महापुरुष (अवतार या पैगम्बर आदि) द्वारा चलाए हुए है।

हर एक धर्म ने कुछ खास खास आदर्शों या सिद्धान्तो पर विशेष ज़ोर दिया है। कारण यह है कि हर धर्म का उदय एक खास देश काल मे हुआ और उस परिस्थिति मे वहां के लोगो की कुछ खास ज़रूरतें थीं। श्री० कन्हैयालाल जी राजदान ने एक लेख में लिखा है कि 'हर धर्म का रग अलग अलग है। आत्मा सब में एक ही है, पर शरीर का रूप रंग जुदा जुदा है, जिस से लाभ ही है न कि हानि। इन रगो मे से कोई भी ऐसा नहीं है, जिसे आगामी विश्व-धर्म मे से निकाल फेंका जा सके। हिन्दुस्तान से हमे परमात्मा की सर्वव्यापकता और मनुष्य जाति की एकता लेनी होगी; पारस से पवित्रता का शिक्षा; मिश्र से विज्ञान, जो धर्म का एक अग है, न कि किसी तरह उसके विरुद्ध है; यूनान से सौंदर्य; रोम से नियम-पालन; यहूदी धर्म से भलाई; और ईसाई धर्म से आत्म त्याग।' ये सभी गुण समाज के लिए जरूरी है। इसलिए सब धर्मो ने अपने अपने समय और क्षेत्र में समाज का उपकार किया है। इस समय भी जो लोग किसी एक धर्म के या उसकी किसी एक शाखा या उपधर्म के अनुयायी होते हैं, वे आपस मे एकता अनुभव करते है, एक दूसरे से सहानुभूति और प्रेम रखते हैं।

लेकिन धीरे धीरे मनुष्य की अनुदारता और नासमझी द्वारा हर धर्म मे विकार आगये। ये धर्म रूढ़ियों और अंध-विश्वासो के भंडार बन गये। इनसे प्रेम की जगह परस्पर कलह और द्वेष का प्रचार होने लगा। यहाँ तक कि धर्म के नाम पर अनेक कुरीतियो का समर्थन हुआ, और ऐसे ऐसे अत्याचार हुए जिन्हे पढ़ सुन कर हृदय कांप उठता है। न जाने कितने करोड़ पुरुषो, स्त्रियो और बालको को धर्म के नाम पर मौत के घाट उतारा गया, या अंगहीन और घायल किया गया। लोगो की गाढ़ी मेहनत से कमाई हुई कितनी सम्पत्ति धर्म की खातिर नष्ट की गयी है, इसका कोई हिसाब नही है।

जो हो चुका, वह हो चुका; किन्तु अभी तक भी हालत ठीक ठीक सुधरी नही है। एक धर्म के कट्टर भक्त दूसरे धर्म वालो को अपने में मिलाने के लिये क्या क्या जोर जुल्म नही करते! वे दूसरो का सिर फोड़ने, और कही कहीं खुद शहीद बनने के लिए तैयार रहते हैं। रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट ईसाइयो, शियाओं और सुन्नियों, मुसलमानो और ईसाइयो, हिन्दुओं और मुसलमानो,मुसलमानो और यहूदियो के और दूसरे सम्प्रदायो के आपसी झगड़ो ने कई देशो को कलह का घर बना रखा है।

ऐसा क्यो होता है? बात यह है कि यद्यपि सभी धर्मों के मूल तत्व प्राय: एक से हैं, सभी सचाई, दया प्रेम आदि पर जोर देते है, पर हर धर्म ने लोगो के रहन सहन के सम्बन्ध मे जो रीति, नियम या पद्धतियाँ तय कर रखी हैं, वे अलग अलग है। अलग अलग धर्मों का जन्म अलग अलग देश काल मे होने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी था। आदमी अपने व्यवहार मे धर्म के मूल तत्वो को बहुत कुछ भुला देता है, और बाहरी तथा गौण बातो मे फँसा रहता है, जैसे पूजा किस

तरह करनी चाहिए, कैसे स्थान मे करनी चाहिए, खाने में कौन कौन सी चीजें निषिद्ध माननी चाहिए, किसके हाथ का खाना चाहिए, विवाह आदि किस तरह करना चाहिए, बालक के जन्म के समय क्या क्या रीति रस्म बरतनी चाहिए. मृतक संस्कार किस तरह होना चाहिए; यात्रा, व्यापार, विवाह-शादी, लड़ाई, या मुकदमा आदि कोई काम शुरू करने के लिए कैसा समय (मुहूर्त) अच्छा होता है, किन किन बातो से अच्छा शकुन माना जाता है, और किन से अपशकुन, इत्यादि। ये बातें लोगों की व्यक्तिगत श्रद्धा पर, और अधिकतर अज्ञान और अधश्रद्धा पर निर्भर होती हैं।

इन बाहरी बातो मे, धर्मो धर्मो मे भिन्नता है। इसके अलावा हर धर्म के अनुयायी अपनी इस तरह की बातो को तर्क संगत और वैज्ञानिक, और दूसरे धर्म वाले की इसी तरह की बातो को अज्ञानता और असभ्यता सूचक समझते है। ये दूसरो से भी अपनी ही बातो का अनुकरण कराना चाहते हैं। यही सब झगड़े की जड़ है।

शुरू जमाने मे जब लोग छोटे छोटे समूहो मे रहते थे, एक समूह के आदमियो का अपना एक देवता था, वे सब एक ही तरह की पूजा पाठ करते और रीति रस्म मानते थे। इससे उन लोगो मे प्रेम और एकता बढ़ती थी। अब हम उस शुरू के जीवन को बहुत पीछे छोड़ आये हं। करीव करीब हर देश मे अलग अलग धर्मो के मानने वाले और जुदा जुदा रीतिरस्मो का पालन करने वाले रहते हैं। ऐसी दशा मे यदि एक सम्प्रदाय के आदमी दूसरे सम्प्रदाय वालो से प्रेम, सहानुभूति और सहयोग का भाव न रखें, सब अपने अपने ही स्वार्थ सिद्ध करने मे लगे रहें और उसके लिए दूसरो को कष्ट देने

में संकोच न करें तो परस्पर कलह और संघर्ष होना लाजमी है। यदि किसी धर्म या सम्प्रदाय वाले बाढ़, महामारी, अकाल आदि के मौके पर ऐसी संस्था बनाएँ, जो केवल उनके ही सम्प्रदाय वालो का विचार करे, और दूसरो की परवाह न करे तो यह किसी तरह धर्म नही है, और न किसी धर्म या सम्प्रदाय को शोभा देता है।

हमे इस तरह की सब संकीर्णताओ और क्षुद्रताओ से जल्दी से जल्दी अपना पिंड छुड़ाना चाहिए। हर धर्म में से अपने और पराये का भेद भाव दूर करना चाहिए। यह कैसे हो ? जरूरत यह है कि हर धर्म के कुछ उदार हृदय लोग इस बात के लिए कमर कसें. वे अपने व्यवहार से और प्रचार से अपने सहधर्मियो का दृष्टिकोण व्यापक बनाएँ। वह उन्हे समझायें कि सेवा या सहायता करते समय अपने पराये का विचार न कर केवल यह सोचना- चाहिए कि पीड़ित या मोहताजो मे किसे सहायता की ज्यादह जरूरत है या हमें किस की मदद करने की सुविधा अधिक है। यदि दस आदमी नदी में डूब रहे है तो उन्हे बचाते समय हम यह देखने न बैठें कि छाँट,छाँट कर पहले हिन्दू-हिन्दुओ को बचाया जाय, उसके बाद मुसलमानों या ईसाइयों को। जो भी हमारे हाथ से बच सके, उसे बचाने की हम भरसक कोशिश करें। इसी तरह यदि भूखो की भीड़ को कुछ भोजन देने का अवसर आता है तो उस समय हमारा सहधर्मी और विधर्मी आदि का विचार करने लगना अनुचित और पाप है।

हर आदमी को यह भी सीखना है कि हमे निस्पक्ष हो कर सब के गुणो की प्रशंसा और दुर्गुणों की निन्दा करनी चाहिए। हम इतने संकीर्ण हृदय के हो गये हैं कि अगर कोई

दूसरे धर्म वाला त्याग और कष्ट सहन की मिसाल पेश करता है तो हम उसकी तारीफ नहीं करते; यदि कही उसका उल्लेख करना ही हो तो अपने शब्दो मे कृपणता का परिचय देते हैं। इसके खिलाफ हम अपने सहधर्मी के मामूली से भले काम की भी खूब सराहना करते हैं, उसकी प्रशसा के पुल बाँध देते हैं। अनेक बार अच्छे अच्छे लेखक, कवि, इतिहासकार और सम्पादक भी इस विषय मे दोषी पाये जाते हैं।

इसी तरह यदि कोई अपराधी हमारे धर्म का अनुयायी होता है तो हम उससे सहानुभूति रखते हैं, और जहाँ तक बने उसे कानूनी सजा से बचाने की कोशिश करते है। और, अगर उसे फाँसी दी जाती है तो हम उसका शहीद के रूप मे आदर मान करते हैं। इसके खिलाफ अगर अपराधी दूसरे धर्म या सम्प्रदाय का है तो हम उसे बदनाम करते हैं और उसे अधिक से अधिक सजा दिलाने का प्रयत्न करते हैं, उसके साथ ही उसके दूसरे सहधर्मियो को भी षडयन्त्र मे शामिल समझते हैं। इस तरह हम मामूली मामलो को दो सम्प्रदायो के बीच कलह का रूप दे देते है।

जो धर्म हमें इतना पक्षपाती और अन्यायी या अन्याय पसन्द करने वाला बनाता है, मानव समाज मे अपने पराये का भेद-भाव पैदा करता है, उसे 'धर्म' कहना ग़लत है। हर देश मे समय-समय पर ऐसे महानुभाव हुए हैं, जिन्होने अपराध करने वाले को उस अवस्था मे भी दंड दिया या दिलवाया जब कि अपराधी स्वयं उनका भाई, बेटा या और कोई रिश्तेदार था। ये उदाहरण अनुकरणीय हैं। परन्तु आजकल के धर्मों और सम्प्रदायो के अनुयाइयों मे ऐसी भावना कितनी कम है!

खान अब्दुल गफ्फार खॉ ने कहा है—"पहले किसी ज़माने मे मसजिद मे सब मजहब वालो को जाने की इजाजत थी। मदीने मे जो मसजिद है, उसमें पहले मुसलमान भी नमाज़ पढ़ते थे और ईसाई भी दुआ करते थे। बदकिस्मती से वह दिन आज नहीं रहा। आज क्या से क्या हो गया है। लोग पुराने ज़माने के मज़हब को भूल गये है।" बहुत सी बातें हम केवल सिद्धान्त रूप मे ही मानते है; हमारा व्यवहार उनके अनुसार नही होता। हिन्दू ईश्वर को सर्वव्यापी मानता है, पर उसका दर्शन करने के लिए मदिरो मे ही जाता है, वह इसके लिए मसजिद या गिरजा में जाने का विचार नही करता। और उसे यह भो सहन नही होता कि कोई दूसरे धर्म वाला उसके मदिर मे आसके। वह 'हिन्दू देवी देवताओ' में विश्वास रखने वाले अपने हरिजन भाई को भी मदिर-प्रवेश की इजाज़त देने मे झिझकता है। जो हिन्दू हरिजनो के प्रति कुछ 'उदारता' का भाव रखने लगे हैं, उनमे से भी कितने ही यह सोचते है कि किसी मुसलमान या ईसाई के आने से तो मदिर अपवित्र हो ही जायगा।

निदान, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और दूसरे धर्मों के कट्टर अनुयायी अपने अपने को एक दूसरे से अलग मानते हैं। अफ़सोस की बात है कि किसी भी देश मे धर्म के नाम पर कोई गिरोह यह मांग करे कि व्यवस्थापक सभाओ आदि के लिए चुनाव साम्प्रदायिक आधार पर हो, हमारे सदस्यो के लिए स्थान सुरक्षित रहे, उनका जनसंख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व हो, हमारे सम्प्रदाय वालो को अमुक संख्या मे सरकारी नौकरियाँ अवश्य मिलें, चाहे उनमे उसके लिये योग्यता हो या न हो, और चाहे इस से दूसरे धर्म वालों के साथ

अन्याय होने के अलावा शासन के काम मे भी कठिनाई पैदा हो।

कुछ लोग धम के ही आधार पर राष्ट्र या कौम बनाना चाहते हैं, जिससे अन्त मे देश के भी टुकड़े टुकड़े होने की बात सामने आती है। इस गलत धारणा से केवल हिन्दू और मुसलमानों के लिए ही अलग अलग राज्यों की वात नही रहती। दलित समभी जाने वाली जातियो के अखिल भारतीय सम्मेलन के अध्यक्ष ने उन जातियो की अलग वस्तियाँ बसाये जाने की माँग की। इसी तरह एग्लो इंडियन असोसियेशन की देहली प्रान्त की सालाना बैठक में सभापति ने यह विचार प्रकट किया कि एग्लो इंडियनो का एक अलग उपनिवेश कायम किया जाय, जहाँ उनके अपने स्कूल, अपने अस्पताल, और दूसरी अपनी अलग सस्थाएँ हो। जब कि किसी धर्म के लोग किसी देश भर में फैले हुए हो, और शिक्षा, आजीविका आदि के लिए उनका अलग अलग स्थानो मे रहना जरूरी और उनके लिए लाभदायक हो तो उन सब को एक ही जगह मे रखना अव्यावहारिक और अहितकर है। और, कोई देश उस समय तक सभ्य कहलाने का हकदार नहीं है, जब तक उसमें धर्म की पूरी आजादी न हो; न वह मनुष्य मनुष्य कहला सकता है, जो दूसरे धर्म वालों के साथ प्रेम से मिल जुलकर अच्छे पड़ोसी की तरह न रह सके। धर्म के आधार पर अलग अलग राष्ट्रो की कल्पना, और उसी आधार पर किसी एक देश के टुकड़े करने की प्रवृत्ति दोनो मनुष्य की भावी उन्नति और मानव समाज की भावी एकता मे बहुत बड़ी रुकावटें हैं।

कितने दुख का विषय है कि विविध धर्म आज मनुष्य-समाज को अलग अलग टुकड़ों में बाँट रहे है, और विश्व-बंधुत्व जैसे असूलो, सिद्धान्तो या आदर्शो की बात करते हुए

भी मानव समाज के बीच स्वयं ऊँची ऊँची दीवारो के रूप मे खड़े है, जिन्हे पार करके मनुष्यों के लिए एक दूसरे को गले लगाना, और एक दूसरे के सुख दुख मे साथ देना अत्यन्त कठिन हो रहा है। इन दीवारों को तोड़ने, या इनके बीच मे आने जाने के लिए दरवाजे बनाने, के समय समय पर प्रयत्न हुए है, उन में अभी तक पूरी सफलता नही मिली, परन्तु विशाल मानव समाज के हित के लिए यह काम करना ही होगा।

एक बात और ध्यान देने की है। बहुत से आदमियो के लिए धर्म इस जीवन की, या नकद व्यवहार की, चीज़ न होकर केवल उधार या भविष्य का ही कारोबार रह गया है। जिस तरह कुछ लोग तरह तरह के कष्ट सहकर भविष्य के लिये धन सम्पत्ति जोड़ जोड़ कर रखते हैं, उसी तरह दान पुण्य पूजा पाठ आदि बातो में हमारी नजर केवल इसी तरफ रहती है कि हमारा परलोक सुधरे, मरने पर हमारी सद्गति हो। हम यह सोचने का कष्ट नहीं उठाते कि हमारे कार्यों से हमारा नागरिक जीवन अच्छा बने, हमारा विकास हो, और दूसरे आदमियो की उन्नति मे सहायता मिले। जब हमारी सब कामो की कसौटी केवल परलोक ही का सुधार होती है तो हम धर्म के नाम पर अनन्त धन और सामानका दुरुपयोग करते रहते हैं। मिसाल के तौर पर एक आदमी सवेरे से शाम तक कोई मेहनत मजदूरी नही करता, कोई ऐसा मानसिक या शारीरिक काम नहीं करता, जिससे नगर-निवासियो का हित हो। वह केवल स्नान, ध्यान, पूजा पाठ मे ही लगा रहता है। उसे धर्मात्मा क्यो कहा जाय, और उसे दूसरे नागरिको द्वारा उत्पन्न सामग्री से अपने लिए अन्न वस्त्र की जरूरतें पूरी करने की सुविधाएँ क्यो दी जायँ।

अगर उसके पास उसके माता पिता आदि की कमाई हुई सम्पत्ति है तो भी उसे अपने लिए खर्च करने का क्या अधिकार है जबकि वह खुद कुछ काम नहीं करता ! वह सम्पत्ति दूसरे आदमियों के सहयोग से ही पैदा हुई है, और समाज के हित के लिए खर्च की जानी चाहिए।

कोई आदमी यदि किसी ऐसी जाति या वंश मे पैदा हुआ है, जिसे 'धार्मिक' कहे जाने वाले ग्रन्थो मे ऊँचा माना गया है तो इसमें उसे क्या श्रेय है, इससे उसे दूसरों की अपेक्षा विशेष सुविधाएँ या रियायतें क्यों मिलनी चाहिएँ ! इसी तरह नीची मानी जाने वाली जाति मे पैदा होने वाले आदमी ने क्या अपराध किया है कि वह अपने दूसरे भाइयों द्वारा अस्पृश्य या घृणित समझा जाय !

क्या यह लज्जा और शोक का विषय नहीं है कि जिन स्थानो को धर्म का केन्द्र या तीर्थ माना जाता है, वहाँ का ही नागरिक जीवन प्रायः सबसे अधिक खराब है, वहाँ ही सबसे अधिक मुफ्तखोरे, सबसे अधिक स्पृश्यास्पृश्य विचार, सबसे अधिक भिखारी, सबसे अधिक धर्मान्धता, कायरता और जी-हुजूरी है।

बड़े बड़े मन्दिरों के लिए जो आलीशान और भव्य मकान हैं, और उनमें जो असंख्य जनता की गाढ़ी कमायी' का पैसा है, उसका जनता के लिए क्या उपयोग है ? इन्हीं जगहो में अनेक आदमी बिना घर के और बिना किसी खाने पीने के साधन के रहते हैं। कैसी विषमता है ! यदि मंदिरों की इमारतो और संम्पत्ति का बँटवारा इन दरिद्रो मे हो जाय तो क्या भगवान को इस बात की प्रसन्नता न होगी कि उस की इतनी सन्तान की दशा सुधारने में मन्दिरो का उपयोग हुआ ? और

परम पिता भगवान को अपने लिए इस विलास-सामग्री के उपयोग की क्या आवश्यकता है, जब कि उसकी प्यारी सन्तान अन्न वस्त्र के लिए तरस रही हो !

हाल की बात है। ९ फरवरी १९४४ को देहली मे शतकोटि महायज्ञ समाप्त हुआ। कहा जाता है कि इसमे पॉच लाख रुपया खर्च हुआ और ७६० मन अन्न (तिल, राई, जौ, चावल), ११ मन चन्दन, १० मन चीनी, ५०० मन घी और ८०० मन लकड़ी काम आयी। यह सब सामग्री ऐसे समय मे अग्नि की भेंट की गयी, जबकि भारतवर्ष के बंगाल आदि कई प्रान्तो मे लाखो मर्द, औरत और बच्चों ने भूख से तड़फड़ा तड़फड़ा कर प्राण दिये, और कितनो ही ने दरख्तो की छाल, पत्ते या घास खा खा कर अपनी जान बचाने की कोशिश की, और इन मे से बहुत से पीछे तरह तरह की बीमारियो के शिकार हुए। अगर ऊपर लिखी हुई सामग्री भूख से व्याकुल दरिद्रनारायण को दी जाती तो कितना उपकार होता और ईश्वर भी प्रसन्न होता। लेकिन भावुक धर्म-प्रेमी लोगो का कहना है कि यज्ञ करने से वह सामग्री न जाने कितनी गुनी अधिक मात्रा मे फिर पैदा होगी। ऐसे लोगो से तर्क करना व्यर्थ हो जाता है। ये अधविचार मनुष्य-समाज की आर्थिक और नागरिक उन्नति मे भयानक रूप से बाधक हैं।

बात यह है कि अलग अलग सम्प्रदायो के अपने धार्मिक विचार या अलग अलग रीति रिवाज ही नहीं होते, उनके तरह तरह के अद्भुत सामाजिक या राजनैतिक सिद्धांत भी होते हैं। रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के बहुत से लोगो को लोकतंत्र राज्य और तलाक का अधिकार मान्य नहीं है। बहुत से मुसलमान इस बीसवीं सदी तक खलीफा को धर्म के नाम पर अनियन्त्रित सत्ता

देना चाहते रहे हैं। बहुत से सनातनी हिन्दू बाल-विवाह और छुआछूत को शास्त्रो से अनुमोदित मानते है, बहुत सो ने पिछले वर्षो मे इन रिवाजो के, कानून द्वारा, सुधारे जाने का घोर विरोध किया। इस तरह सम्प्रदायो मे ऐसी अनेक बातें हैं, जो मानव समाज के हित से मेल नहीं खातीं। ज़ाहिर है कि साम्प्रदायिक रीति रस्मो, रूढ़ियो और अंधविश्वास के आधार पर समाज का सगठन नही हो सकता। उसके लिए व्यापक बौद्धिक, आर्थिक, नैतिक, और सांस्कृतिक आधारो ही से काम चलेगा। ज़रूरत है कि धर्म मे इस उदार दृष्टिकोण को स्थान दिया जाय, तभी वह धर्म नागरिक जीवन के सुधार मे सहायक हो सकता है और भविष्य के लिए सच्चे धर्म का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

सतरहवाँ अध्याय

राष्ट्रवाद

वह समय जल्दी आ रहा है, जब किसी आदमी को देशभक्त कहना उसका बहुत ही अपमान करना समझा जायगा। देशभक्ति का अर्थ अब यह रह गया है कि जिस राज्य में हमारा जन्म हुआ है, उसके खास खास अधिकार-प्राप्त वर्गों के हित के लिए दूसरे देशों को लूटा जाय।

—*टाल्स्टाय.*

कोई गुलाम राष्ट्र आज़ादी के लिए कोशिश करे तो उसकी वह राष्ट्रीयता मानवता के अनुकूल होगी, और, वह ऐसी महान होगी कि उसके पीछे प्राणों का भी उत्सर्ग करना गौरव की बात होगी। लेकिन

जहा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को गुलाम बनाने या बनाये रखने के लिए कोशिश करे, वहा मनुष्य का कर्तव्य होगा कि वह राष्ट्रीयता के उन्माद का—मानवता के प्रतिकूल राष्ट्रीयता के इस कुत्सित स्वरूप का—विरोध करे और उसे क्षत-विक्षत करने मे जान की बाजी लगादे।

—*रघुवीरशरण दिवाकर*

हम पहले कह चुके हैं कि सामाजिक संगठन मे गॉव और नगर के बाद राष्ट्र भी एक जरूरी और उपयोगी सीढ़ी है। सार्वभौम या विश्व-राज्य तक पहुँचने के लिए राष्ट्र भी एक मंजिल है। परन्तु इस लक्ष्य को भुला देने पर राष्ट्रीयता मानवता के वास्ते अहितकर और विघातक हो जाती है। यह राष्ट्रवाद का दुरुपयोग है। इसी पर यहाँ विचार करेंगे। पर इससे पहले नागरिक भावना या प्रान्तीयता के दुरुपयोग का भी उल्लेख कर दिया जाय, क्योकि राष्ट्र ग्राम, नगर और प्रान्तों का ही बनता है।

'गाँव और नगर' शीर्षक अध्याय मे हमने बताया है कि हर नागरिक को अपने गॉव या नगर से खूब प्रेम होना चाहिए और उसकी उन्नति या सुधार की कोशिश करनी चाहिए। लेकिन इसके साथ ही हम यह भी याद रखें कि हम विशाल मानव जाति के अंग है और उसके प्रति भी हमारा कर्तव्य है। कहा जाता है कि प्रेम अन्धा होता है। अपने गॉव या नगर का प्रेम हमे अपने दूसरे कर्तव्यो से विमुख न करदे। अगर हमारा कोई नागरिक भाई कोई खराब काम करे या दूसरी जगह के रहने वालो को हानि पहुँचावे तो हमे यह सोच कर उसका पक्ष न लेना चाहिए कि वह हमारे गाँव या नगर का है। इसी तरह अगर कभी नगर भर के आदमी कोई बेजा काम करें

तो हमे उन सबका विरोध करने को तैयार रहना चाहिए, चाहे इससे हमे कितना ही कष्ट सहना पड़े। विश्वबन्धुत्व के लिए यह हमारे अपने स्थानीय प्रेम की आवश्यक मर्यादा है।

गांव और नगर से आगे बढ़ कर हम देश या राष्ट्र पर आते है पर कुछ लोगो की दृष्टि अपने प्रान्त तक ही परिमित रहती है। वे उससे आगे राष्ट्र-हित का विचार नहीं करते। यही नहीं, कभी कभी यह जानते हुए भी कि उनकी नीति के अनुसार काम होने से राष्ट्र को हानि पहुँचेगी, वे अपना दृष्टिकोण बदलने को तैयार नहीं होते। मिसाल के तौर पर हिन्दुस्तान को ही लीजिए। यहां अनेक शिक्षित और समझदार कहे जाने वाले लोग भी प्रान्तीयता के शिकार बने हुए हैं। खास कर सन् १९३५ ई० के शासन-सुधारो के बाद यह रोग बहुत बढ़ गया है। कही हम बंगाली-बिहारी समस्या देखते है, कहीं बगाली-मारवाड़ी, कही महाराष्ट्रीय-हिन्दुस्तानी और कही तामिल-तैलिगू आदि। जैसा कि 'हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ' पुस्तक मे बताया गया है, राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय उन्नति का ध्यान रखते हुए ही हमे अपने प्रान्त की भलाई की कोशिश करनी चाहिए। हर प्रान्त के निवासियो को चाहिए कि वे दूसरे प्रान्तो से यहां आकर बसे हुए लोगो के प्रति किसी तरह का द्वेष भाव न रखे; वे यह न भूलें कि ये दूसरे प्रान्तो वाले भी हमारे ही राष्ट्र के है। साथ ही जो व्यक्ति अपने प्रान्त से बाहर किसी दूसरे प्रान्त मे रहते हो, उनका भी कर्तव्य है कि वे उस प्रान्त की भाषा सीखें, वहां की तरह तरह की उपयोगी संस्थाओ की तरक्की मे हिस्सा ले और वहाँ के निवासियो से मिल जुल कर रहे। जब तक ऐसा न होगा, और आदमी प्रान्तीयता के शिकार रहेगे, तब तक राष्ट्र-हित की अवहेलना

तो होगी ही, किसी प्रान्त की भी असली और टिकाऊ उन्नति नहीं हो सकती।

इसी तरह राष्ट्रीयता के सवाल पर विचार किया जाना चाहिए। हम पहले कह आये है कि सच्ची और उदार राष्ट्रीयता मानवता की विनम्र और वफादार सहायक है। दुर्भाग्य से ऐसी राष्ट्रीयता बहुत कम है, और हमारे सामने राष्ट्रीयता के दुरुपयोग के ही उदाहरण अधिक आते हैं। अपने इस संकुचित और उग्र रूप मे राष्ट्रवाद मानव जाति के टुकड़े टुकड़े कर डालता है। यह राष्ट्रवाद एक देशीय होता है। इसका उद्देश्य एक खास राष्ट्र को ही लाभ पहुँचाना होता है। इसके चक्कर मे आकर आदमी दूसरे देश वालो के साथ पागलो का सा व्यवहार करने लगता है। ऐसे आदमियो के, लाला हरदयाल ने कई लक्षण बताये हैं; उन मे से कुछ ये हैं—

(क) वे केवल अपने ही राष्ट्र के बारे मे सोचते और बातें करते हैं। दूसरे राष्ट्रो के भले की उन्हे कुछ चिन्ता नही होती। विशाल पृथ्वी के सारे नकशे पर उन्हे सिर्फ अपना छोटा सा देश ही दिखायी देता है। ये अपने काव्यो मे, अपने साहित्य मे, और अपने इतिहास मे दूसरे देशो का ज़िक्र अपमान, ईर्षा और घृणा के साथ करते है, और अपने राष्ट्र की हर बात को बढ़िया रंगो मे चित्रित करते हैं। अंगरेज कवि टैनिसन फ्रांसीसियो के स्वाधीनता-प्रेम को 'स्कूल के लड़को का जोश' कहता है। शेक्सपीयर ने इंगलैण्ड की तारीफ मे अपने देश को 'तेजोमयी भूमि, मगल देवता का निवास-स्थान' आदि कहा है। जर्मनो ने युद्धगीत मे गाया है कि "परमात्मा इंगलैण्ड को दंड दे।" भारत का कवि कहता है—

"निगाहों मे मेरी भारत तू ही कुल जहाँ मेरा।"

(ख) ऐसे लोग अपने ही देश का इतिहास पढ़ते हैं, और उसकी छोटी छोटी बातो को भी खूब महत्व देते हैं, बिलकुल मामूली अप्रसिद्ध तिथियो को याद रखने की चेष्टा करते हैं, लेकिन उन्हे संसार के इतिहास से कुछ मतलब नहीं होता, वे दूसरे देशो की बड़ी बड़ी घटनाओ की ओर भी ध्यान नहीं देते।

(ग) इस तरह के राष्ट्रवादी यह विश्वास करते हैं या विश्वास करने का बहाना करते है कि हमारा देश और हमारी जाति संसार भर मे हर दृष्टि से सब से बढ़-चढ़ कर है। उसके से फल, उसका सा जलवायु, दृश्य आदि और कही भी नहीं मिलते। सेसिल रीड्स ने अपनी वसीअत मे यह दावा किया था कि इतिहास में जितनी जातियाँ हुई हैं उनमें से अंगरेज़ जाति सब से सुन्दर है। जर्मन कवि कारनर ने गाया था—कि 'जर्मन राष्ट्र! तू सब से बढ़कर और सब से शानदार है।' डेनियल वेब्स्टर ने कहा था 'ईश्वर का धन्यवाद है, कि मैं अमरीकन हूँ।' शेक्सपीयर ने इंगलैण्ड को 'दूसरा ईडन,* आधा स्वर्ग' कहा है, यद्यपि वहाँ बेहद गर्मी और कोहरा भरा रहता है। सिलवियो पेटिको ने अपने एक गीत में कहा है—'हे इटली! क्या तू सब देशो मे सब से अधिक सुशील नहीं है! क्या तू हर सुन्दर कला की जननी नहीं है!' भारतीय कवियों ने गाया है—

'महिमंडल में सुन्दरतम, यह भारतवर्ष हमारा है।'

* बाइबल के अनुसार ईडन में आदम और हव्वा नाम के सब से पहले पुरुष और स्त्री पैदा हुए थे, जिनसे, पीछे सब मानव सृष्टि पैदा हुई।

अथवा

'सारे जहाँ से अच्छा, हिन्दोस्ताँ हमारा।'

सचाई तो यह है कि संसार के हर देश मे कुछ गुण होते है, तो दोषो का भी कहीं अभाव नही होता, लेकिन ये तंगख्याल राष्ट्रवादी अपने नशे में इस वात को भूले रहते हैं। वुद्धिमान आदमी का काम है कि अपने देश को इसी तरह प्यार करे, जैसे कोई सच्चा सपूत अपनी मा को प्यार करता है। उसे यह वहस करने की ज़रूरत नही कि मेरी मा दुनिया भर की स्त्रियों से वढ़ कर है।

(घ) इस तरह के उग्र राष्ट्रवादी इस वात का दावा करते हैं कि हमारे राष्ट्र का दुनिया के इतिहास में एक खास और निराला उद्देश्य है, और हम दूसरे राष्ट्रो से उच्च कोटि के हैं। यहूदी अपने आपको "परमात्मा की खास चुनी हुई संतान" कहते है। उनकी निगाह में सव गैर-यहूदी जातियाँ असभ्य हैं। यूनानी दूसरे देश वालो को 'वारवेरियन' यानी वर्वर कह कर उनसे घृणा करते थे। हिन्दुओं ने अपने को आर्य (श्रेष्ठ) जाति का कहते हुए अनार्य शब्द का अर्थ ही असभ्य कर डाला; दूसरी कौमो के लिए 'मलेच्छ', 'राक्षस' 'यवन' आदि शब्दो का व्यवहार करके उनकी भी यही गति की। फ्रांस के मशहूर उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो का कहना है, 'ए फ्रांस! संसार के लिए इस वात की ज़रूरत है कि तू ज़िन्दा रहे। मै फिर कहता हूँ, मानव जाति के लिए फ्रांस जरूरी है।' गौरांग जातियाँ संसार भर की रंगदार जातियों को असभ्य समझती हैं, और उन्हे सभ्य करने का वीड़ा उठाए हुए हैं, और इसी 'परोपकार' के भाव से वे उन पर अधिकार जमाये हुए हैं, क्योकि (उनकी निगाह मे) ये असभ्य जातियाँ खुद अपनी हकूमत करने के

क़ाविल नहीं है, यदि उन्हें गोरो का संरक्षण न मिले तो वे आपस में लड़-लड़ कर मर जाँय। जर्मनों ने अपनी पृथक् संस्कृति का ऐसा गर्व किया कि वे अपनी जाति के सभी आदमियो को 'मनुष्य से बढ़ कर' ('सूपरमेन') मानने लगे। अहंकार या दम्भ की सब जगह हद हो गयी। सच्ची बात यह है कि किसी राष्ट्र का स्थायी रूप से दूसरों की अपेक्षा कोई खास या उच्चतर स्थान नहीं है। सब राष्ट्र मानव जाति रूपी एक विशाल परिवार के हिस्से हैं, सभी को अपना अपना काम करना है, ऊँच नीच की सारी भावना मूर्खता पूर्ण है।

(च) संकीर्ण राष्ट्रवादी अपने राष्ट्र के लिए पूर्ण और अनियंत्रित प्रभुता चाहता है। यही उनका आराध्य और इष्ट है। औलीवर वेंडल होम्स ने हर्षोन्माद में गाया था—'एक झंडा, एक भूमि, एक हृदय, एक मत और सदैव एक राष्ट्र।' इसके खिलाफ़ सच्चा विश्व-प्रेमी चाहता है कि आखरी शक्ति विश्व-राज्य मे रहे, वह अपने देश को शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से उस विशाल विश्व-राज्य का अग समझता है। वह जानता है कि अन्तिम प्रभुत्व वाला राज्य एक और केवल एक ही होना चाहिए, क्योंकि पृथ्वी एक है, और मानव जाति एक है। इसके विपरीत, संकीर्ण राष्ट्रवादी अपने छोटे से राष्ट्र-राज्य और उसके प्रतीकों—झंडे और गीत आदि—के पीछे पागल रहता है। वह अपनी मातृभूमि या अपने राष्ट्र-राज्य के लिए अपनी जान न्यौछावर करने को हरदम तैयार रहता है, परन्तु उसकी खातिर वह दूसरों के प्राण लेने मे तनिक भी संकोच नहीं करता।

(छ) ये लोग जनता को इस बात की शिक्षा देते हैं कि मानव समाज के संगठन का सर्वोच्च आदर्श राष्ट्रीयता है।

अपने राष्ट्र या राज्य की सीमा से बाहर की जनता के हित के लिए कोई काम करना इन्हे असम्भव और काल्पनिक मालूम होता है। ये अन्तर्राष्ट्रीयता के सब स्वरूपो को अनुचित समझते हैं और उनका विरोध करते हैं। ये धामिक और वैज्ञानिक संस्थाओ को भी राष्ट्रीय ढांचे मे ढालने की कोशिश करते हैं। ये खेलो और कलाओ तक को राष्ट्रीय ढंग से संगठित करते है। आह! ये लोग सचाई सौन्दर्य और मनोरंजन तक का 'राष्ट्रीय' विभाजन करते है। इस तरह का व्यवहार प्रकृति के विरुद्ध है, और मानव समाज के सामूहिक हित के भी विरुद्ध है।

(ज) संकीर्ण राष्ट्रवादी अपने राष्ट्र-राज्य की आराधना करता है, वह हर तरह उसकी शान बढ़ाने की फ़िकर मे रहता है। इसका नतीजा यह होता है कि वह अपने राष्ट्र के धर्म, कला, विज्ञान और साहित्य की निस्वत उसकी सैनिक विजय, राजनैतिक गौरव या आर्थिक उन्नति को अधिक महत्व देता है। पाशविक बल और धन बल ये दो बल ही राष्ट्र-राज्य के आराध्य, होते हैं। ऐसे लोग शेक्सपीयर, स्पेन्सर और गेटे की अपेक्षा नेपोलियन, नेलसन और बिस्मार्क की अधिक शानदार यादगारें खड़ी करते है। इन आज कल के देशभक्तो से प्राचीन मंगोल और असीरियन विजेता अधिक ईमानदार होते थे; वे अपनी बिजयों की स्मति मे सीधे-सीधे नर मुडो की मीनारें खड़ी करते थे परन्तु ये उसी तरह के कामो के लिए पत्थर और धातुओ के मीनारें बनाते है। किन्तु जिन्हे ज्ञान-चक्षु प्राप्त हैं, जिनमे कुछ विचार-शक्ति बाकी है, उन्हे सहज ही इन पत्थरो और धातुओ मे खोपड़ियाँ और हड्डियाँ दिखाई दे सकती हैं। ऐसा राष्ट्रवाद दुनिया के बच्चो मे पाशविक भावना भर देता है, क्योकि यह

राष्ट्रवाद पाठ्य पुस्तकों द्वारा बच्चो के हृदय पर जूलियस सीज़र, सिकन्दर, नेपोलियन, चंगेज़ खां, वेलज़ली और किचनर का चित्र खैंचता रहता है, जबकि अनेक संतों, महात्माओं, जिज्ञासुओ और सच्चे लोकसेवको को या तो भुला दिया जाता है, या उनका उल्लेख मात्र किया जाता है। इस राष्ट्रवाद के वातावरण मे कविता एक बांदी या दासी का काम करती है। अच्छे अच्छे कवि अपनी योग्यता और प्रतिभा नेताओ, राजाओं, सरदारों या शासकों की सेवा में अर्पित करते रहते हैं, और योद्धाओ और विजेताओं के गीत गाकर धन और सम्मान पाते हैं। भारतवर्ष के रामायण और महाभारत, ईरान का शाहनामा, और यूनान के ईलियड और ओडेसी—किसी भी प्राचीन महाकाव्य का विचार करके देखें, उनमे दूसरी कितनी ही बातों का समावेश क्यों न हो, उनके प्रधान नायक नायिकाएँ अधिकतर युद्ध-वीर ही रहे हैं। और, आजकल के महाकाव्यों में से भी अधिकांश का मुख्य आधार युद्ध और हत्यांकांड की कथाएँ ही हैं। इस उग्र राष्ट्रवाद के प्रचार के कारण आज कल बहुत से आदमियों के लिए युद्ध ही जीवन का प्रधान लक्ष्य होगया है; कवि कहता है *—

समर के गायेंगे हम गान।

समर ही जीवन का उछ्वास, समर ही यौवन का उल्लास॥
समर मे पौरुष ने उद्दाम, सदा ही पाया सकल विकास॥
समर ही करता हमें महान, समर के गायेंगे हम गान॥

भारतवर्ष अपने पराधीनता-पाश को तोड़ फैंकने के लिए राष्ट्रवाद की शरण ले रहा है। यह आवश्यक और क्षम्य

* श्री० राय दुर्गाप्रसाद जी रस्तोगी, 'शुभचिन्तक' मे।

भी है। फिर भी उसके झंडा-गान की नीचे लिखी पंक्ति से विचारशील हृदयो को ठेस लगनी स्वाभाविक है—

'विश्व विजय करके दिखलावें, तब होवे प्रण पूर्ण हमारा।'

विश्व तो एक ही है; यदि सभी राष्ट्र उसे विजय करने लगें तो विश्व की कैसी दुगर्ति हो।

उग्र राष्ट्रवाद राज्यो मे युद्ध कराता है। प्रभुत्व के प्रतीक जल सेना, स्थल सेना और वायु सेना है। राज्यो मे शिक्षा और चिकित्सा के लिए स्कूल और अस्पताल चाहे न हो, हर एक राज्य में सेना अनिवार्य मानी जाती है। हर राष्ट्र में दूसरे राष्ट्रो के भले की परवाह न करना, और उनसे घृणा करना सिखाया जाता है। इसलिए एक राष्ट्र के नागरिक खूनी लड़ाइयो में भी दूसरे राष्ट्रवालो से बाजी ले जाना अपना कर्तव्य समझते हैं। नीति और सदाचार केवल कुछ आदमियो का कभी कभी लिखने या पढ़ने का विषय रह जाता है, व्यवहार मे तो युद्ध-शास्त्र को ही प्रधानता मिलती है। और, युद्ध मे जब नर-हत्या तक की प्रशसा की जाती है तो चोरी झूठ, छलकपट तो आदि मामूली बात ठहरी। हर राष्ट्र ससार की सम्पत्ति को सब के साथ मिलकर प्रेम पूर्वक उपभोग करने के बजाय उसे स्वयं अधिक से अधिक हड़पना चाहता है। यह घृणित लालच ही सब झगड़ा कराता है। इसकी चरम सीमा आज कल के पूँजीवाद मे जाहिर होती है। इसके बारे में आगे लिखा जायगा। सारांश यह है कि उग्र या संकीर्ण राष्ट्रवाद विशाल मानव संगठन के मार्ग मे एक भयंकर वाधा है। इसे हटाया जाना चाहिए; मनुष्यों को अपना काम और नीति विश्व-वधुत्व और मानवता के दृष्टिकोण से निर्धारित करनी चाहिए।

अठारहवाँ अध्याय

साम्राज्यवाद

कोई भी देश जब किसी दूसरे देश को अपनी गुलामी में बाँधे रखता है, तब यह खुद भी आज़ाद नहीं हो सकता। इसलिए जब तक फ्रॉस अपने उपनिवेशों को, अमरीका फिलीपाइन्स को और सुदूर पूरब के देशों को, और ब्रिटेन हिन्दुस्थान और अफ्रीका, कनाडा, मिश्र आदि को पूरी तरह आजाद न कर देगा और उन्हें अपनी तरक्की का खुला मौका न देगा—तब तक फ्रॉस, अमरीका और ब्रिटेन सुख से जिन्दा नहीं रह सकते। —*लेनिन*

ब्रिटेन चाहे समझे या न समझे, हमें—सयुक्त राज्य अमरीका वालों को—यह समझना चाहिए कि ऐसा ससार, जिसका आधार साम्राज्य के पुराने सिद्धान्त पर या साम्राज्यशाही पर हो, अब असम्भव है; अब यह चल नहीं सकता। —*श्रीमति पर्ल बक*

पिछले अध्याय मे यह बताया गया है कि राष्ट्रवाद किस तरह सामाजिक विकास की आगे की उन्नति मे बाधक होता है। अब हम साम्राज्यवाद के बारे मे विचार कराते हैं। यहाँ इस बात को दोहरा देना जरूरी है कि प्राचीन काल के अनेक साम्राज्य उसी तरह राष्ट्र-राज्य के आगे की मञ्ज़िल रहे हैं, जैसे नगर-राज्य से आगे राष्ट्र-राज्य। जब हम साम्राज्यवाद का सामाजिक विकास की बाधा के रूप मे, जिक्र करते हैं तो हमारा मतलब ऐसे साम्राज्यो से है, जिनमें एक राष्ट्र दूसरे राज्यो को अपने

अधीन करके उनकी धन सम्पत्ति को लूटता है, वहाँ की जनता का शोषण करता है, और, अपने आदमियो के लिए सुख और विलासिता की सामग्री जुटाने को दूसरे देशो की जनता का दमन करता है।

साम्राज्य शब्द से आम तौर पर सैनिक चढ़ाई की तरफ ध्यान जाता है, लेकिन व्यापारियो और पुरोहितो (पादरियो) ने भी साम्राज्य खड़े करने मे पूरा पूरा हिस्सा लिया है। एक देश का व्यापारी दूर देशों में जाकर वहाँ के शासको या सरदारो को तरह तरह की चीजें दिखाकर उनका मन मोह लेता है, और वहाँ छोटी मोटी व्यापारिक सुविधाएँ हासिल करके अपने देश वालो के लिए मैदान तैयार करता है। इसी तरह पादरी या उपदेशक दूसरे देश के लोगो को धर्म और परलोक का सन्देश सुनाकर अपने साथ अपने धर्म वालों के लिये सहानुभूति का वातावरण बना लेता है। इसके बाद साम्राज्य चाहने वाले राष्ट्र को उस देश की भौगोलिक स्थिति, वहाँ की जनता की कमजोरी, वहाँ के सैनिक रहस्य आदि का पता लगाने मे कठिनाई नहीं रहती। वह मौके की ताक मे लगा रहता है, और ठीक मौका पाते ही अपने सिपाहियों और अपने शस्त्रास्त्रो का उपयोग करके उस देश पर अपना अधिकार जमा लेता है।

आज कल साम्राज्यो का स्वरूप ज्यादहतर आर्थिक हो गया है, उनका आधार दूसरे देश वालो की मेहनत और उनके साधनो से लाभ उठाना और उन्हे चूसना हो गया है। इस साम्राज्यवाद को आर्थिक साम्राज्यवाद कहा जाता है। यह पूँजीवाद का ही बदला हुआ रूप है। थोड़े से शब्दो मे पूँजीवाद का अर्थ है—'अपने लाभ के लिए माल तैयार करने की वह विकसित उन्नत व्यवस्था, जिसमे माल तैयार करने के साधनों पर अधिकार

किसी एक या इनेगिने विशेष व्यक्तियो का हो, राज्य का या आम लोगों का नहीं।' यह व्यवस्था खासकर यूरोप की औद्योगिक क्रांति के वाद प्रचलित हुई है, जिसका समय मोटे तौर से १७५० ई० से १८५० ई० तक कहा जा सकता है। इससे पहले यूरोप में किसानो की जमीन उनके अपने अधिकार में थी। उसमें वे आज़ादी के साथ खेती करते थे और उसकी उपज को अपनी इच्छानुसार खर्च कर सकते थे। इसी तरह उस समय कारीगरों के पास अपने औज़ार होते थे। जो चीजें वे बनाते, उनके मालिक वे खुद ही होते थे। उन चीजो की बिक्री से जो आमदनी होती थी, उसपर उनका ही अधिकार होता था। धीरे धीरे इस व्यवस्था मे फ़रक़ आया। ज़मीन पर ऐसे लोगों ने अधिकार कर लिया जो खुद खेती न कर, दूसरों से खेती कराने लगे। ये लोग 'ज़मींदार' कहे जाने लगे। इन्हें बिना मेहनत किये काफी आमदनी होने लगी, और खेती करनेवालों को वहुत मेहनत करने पर भी अपना गुज़ारा करना मुश्किल होगया।

उद्योग धंधो मे भी परिवर्तन हुआ। पहले सब कारीगर अपना अपना सामान तैयार करने और बेचने मे स्वतंत्र थे। अठारहवीं सदी के मध्य से यह बात न रही। भाफ की शक्ति और सायन्स की दूसरी ईजादो से बड़े बड़े कल कारख़ाने बनने लगे, जिनके मालिक बड़े बड़े धनवान और साहूकार ही हो सकते थे। इन कल कारखानों में माल बड़े पैमाने पर और सस्ता तैयार होने लगा। बाज़ारों में ज्यादहतर उसकी ही खपत होने लगी। मामूली कारीगरो का हाथ से तैयार किया हुआ माल महँगा होने के कारण, उसके सामने न टिक सका। उन्हें अपना निर्वाह करना कठिन हो गया। वहुतों ने अपना स्वतन्त्र पेशा छोड़ कर

कल कारखानो मे नौकरी या मज़दूरी करना शुरू कर दिया। इस तरह पूँजीवादी व्यवस्था मे समाज मोटे तौर पर दो वर्गों में वॅट जाता है। एक वर्ग मे बहुत थोड़े आदमी होते है, इनके पास ही सारी भूमि और पूँजी—कल कारखाने—आदि होते हैं, ये इतने धनवान हो जाते है कि बहुत से मज़दूरो को अपने पास रख कर उनसे काम ले सकते हैं। दूसरा वर्ग, जिसमे अधिकतर जनता होती है, ऐसे लोगो का होता है, जिन बेचारो के पास अपनी मेहनत करने की शक्ति के अलावा, और कोई सम्पत्ति नहीं होती। पहला वर्ग पूँजीपति या साहूकार वर्ग कहलाता है, और दूसरा श्रमजीवी या मज़दूर।

अब हम इस बात पर विचार करते हैं कि पूँजीवाद का दुनिया पर क्या असर पड़ता है। पहले कहा जा चुका है कि पूँजीपति जो माल पैदा करते हैं, उसमें उनका मुख्य उद्देश्य जनता की ज़रूरतों को पूरा करना नहीं होता बल्कि जैसे बने अधिक से अधिक नफा कमाना होता है। इसके लिए उनमे माल ज्यादह से ज्यादह परिमाण मे, और सस्ते से सस्ता तैयार कराने की होड़ होती है। इसीलिए वे मजदूरो को काम की दृष्टि से कम मजदूरी देते हैं। अब एक तरफ तो माल बहुत तैयार होता है, और दूसरी तरफ मज़दूरों की (और, दुनिया में ज्यादह तादाद मज़दूरो की ही होती है) माली हालत ऐसी नही होती कि वे काफी माल खरीद सकें। इस तरह अपने देश मे माल की खपत कम होती है, और गोदामो मे माल बढ़ता जाता है। धीरे धीरे माल खराब होने की नौबत आने लगती है। इसलिए उसे सस्ता बेचने और आगे माल की पैदावार घटाने का विचार करना पड़ता है। कई कारखाने तो बन्द ही हो जाते हैं। कारोबार और लेन देन कम हो जाने से बैङ्क फेल होने लगते हैं। इन बातो से पूँजीवादी व्यवस्था

की विफलता साबित होती है। जब ऐसी बातें इकट्ठी सामने आती है, तो कहा जाता है कि आर्थिक संकट आ गया।

यूरोप में पहला बड़ा आर्थिक संकट नेपोलियन के युद्धों के बाद सन् १८२५ मे आया था। उसके बाद सन् १८३६, १८४७, १८५७, १८६६, १८७३, १८७७, १८९०, १९००, १९०७, १९२१, १९२९ और १९३९ में एक एक करके बारह आर्थिक संकट आये। इस समय महायुद्ध चल रहा है। इसके फल स्वरूप आने वाले आर्थिक संकट से बचने के लिए पुननिर्माण की योजनाएँ बन रही हैं।

हमने पूँजीवादी पद्धति में बहुत अधिक तैयार माल गोदामों मे जमा हो जाने और उसके खराब होने की बात कही है। माल की निकासी करने, और आगे नया माल तैयार करने और उसे बेचकर नफा कमाने का सिलसिला बनाये रखने के लिए यह उपाय काम में लाया जाता है कि ऐसे दूसरे देशों के बाजारों पर अपना अधिकार जमाया जाय, जो उनका माल खरीदते रहें और उन्हें कच्चा सामान देते रहें। पूँजीपतियों का अपने पैसे के बल पर देश के शासन में बड़ा प्रभाव होता है। व्यवस्थापक सभाओं के बहुत से मेम्बर उन्हीं की मदद से चुनाव में जीतते हैं। पैसे के बल पर कई मंत्रियों से उनका गहरा सम्बन्ध होता है। यहाँ तक कि अपने यहाँ की सरकार द्वारा दूसरे देशो से युद्ध की घोषणा करा देना उनके बायें हाथ का खेल होता है। जब कोई राज्य दूसरे पर धावा करता है तो अकसर उसमे पूँजीपतियो का छिपा हाथ रहता है। इन पूँजीपतियों में से कुछ, हथियारों आदि के कारखानो के मालिक होते हैं। निदान, पूँजीवादी राष्ट्र हमेशा इस बात की कोशिश करते रहते हैं कि उनके तैयार माल की खपत के लिए कुछ बाज़ार सुरक्षित

रहें, इन बाज़ारो में किसी दूसरे का दख़ल न हो। इसीलिए ये उन देशो को पूरी तरह अपने अधीन रखना चाहते हैं।

कुछ राष्ट्र अपनी पूँजी का और कोई बेहतर उपयोग न पाकर उसे दूसरे देशो को उधार दे देते हैं, और इसके बदले मे वहाँ व्यापार करने, कारखाने खोलने और अपना तैयार माल खपाने की ख़ास सुविधाएँ हासिल कर लेते हैं। ये राष्ट्र जो कर्ज़ देते हैं; वह हमेशा उत्पादक कार्यों के लिए ही नहीं होता। यदि कोई राजा अपने भोग विलास और ऐश आराम के लिए कर्ज़ ले तो इसमें साम्राज्यवादी राष्ट्र को कोई आपत्ति नहीं होती, बल्कि इसमें उसे लाभ दिखाई देता है। उत्पादक कामो के लिए कर्ज़ लेने से तो वह देश अपने यहाँ तैयार माल बनाने और स्वावलम्बी होने की योजना करता, अब वह तैयार माल के लिए अपने ऋणदाता पर आश्रित रहता है। आर्थिक साम्राज्य-वाद का उद्देश्य दूसरे देश की भूमि पर कब्जा करने के बजाय, वहाँ की जनता के व्यापारिक और औद्योगिक जीवन को अपने हाथों में ले लेना होता हैं।

आर्थिक साम्राज्यवाद का खास जोर, सन् १८७५ से १६०० तक रहा। उस समय यूरोप के राष्ट्रों और संयुक्त राज्य अमरीका ने संसार भर पर अपना अधिकार जमाने की कोशिश की। हर राष्ट्र चाहता था कि आगे बढ़ कर जल्दी से जल्दी बाजी मार लूँ। हालैण्ड और बेलजियम के छोटे छोटे राष्ट्रो ने अपने से साठ गुने और अस्सी गुने भूखंड को अपने अधीन कर डाला। इस साम्राज्य-विस्तार में इंगलैंड सबसे बढ कर रहा। सन् १६३६ मे महायुद्ध आरम्भ होने से पहले इंगलैण्ड. वेल्स, स्काटलैण्ड और उत्तरी आयर्लैंड का क्षेत्रफल मिला कर एक लाख वर्ग मील और आबादी पांच करोड़ थी। उसी समय

ब्रिटिश साम्राज्य का कुल क्षेत्रफल एक सौ चौतीस लाख वर्ग मील और जनसख्या पचास करोड़ थी। यह बात ध्यान देने की है कि केनेडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और न्यूफाउंडलैंड के आजाद उपनिवेशो की गोरी जनता केवल दो करोड़ है जो कि संसार के सौवें भाग से कम है; और यह इतनी सी जनता पृथ्वी का सातवाँ भाग घेरे हुए है, गैर-यूरोपियन या रंगदार आदमियों का इन्होने अपने अपने यहाँ आना रोक रखा है। इससे घनी आबादी वाली कौमो के लिए जमीन की कमी हो रही है और दूसरे राष्ट्रो या साम्राज्यो की ब्रिटिश साम्राज्य से ईर्षा बढ़ रही है। पाठक जानते है कि यूरोप मे इटली और जर्मनी को राष्ट्रों का रूप मिलने में देर हुई। इस अर्से मे यूरोप के दूसरे राष्ट्रो ने संसार भर में अच्छी अच्छी जमीनो पर कब्जा जमा लिया। इटली और जर्मनी अपने उपनिवेश बनाने में पिछड़ गये। संगठित होने पर इनमे भी लालसा पैदा हुई। फिर जापान भी मैदान में उतर पड़ा। यह, दुनिया की भूमि और बाजार हथियाने की, लालसा ही महायुद्ध के रूप में प्रकट होती है। जैसा हम पहले कह चुके हैं, जब तक कुछ कौमो में यह साम्राज्यवाद की भावना बनी रहेगी, तब तक न तो पृथ्वी के सब आदमियो के भोजन वस्त्र और रहने की जगह का ही ठीक प्रबन्ध हो सकेगा, और न महायुद्धो का ही अन्त होगा।

कुछ राज्यो के मिलकर संघ-राज्य बनाने को हमने सामाजिक प्रगति के रूप में माना है, परन्तु किसी मामूली राज्य का साम्राज्य रूप धारण करना स्वाभाविक प्रगति नहीं है। साम्राज्य के विविध भागों में से कुछ स्वाधीन और कुछ पराधीन होते हैं। उनका आपस में ठीक मेल नही बैठता। फिर स्वाधीन भागो की भी एक दूसरे से ऐसी आर्थिक या सामाजिक घनिष्ठता नहीं होती,

जैसी उनकी अपने पास के दूसरे राज्यो से हो सकती है। मिसाल के तौर पर कहाँ इंगलैण्ड, और कहाँ उसके उपनिवेश केनेडा, आस्ट्रेलिया आदि। केनेडा का सम्बन्ध कुदरती तौर पर जितना संयुक्त राज्य अमरीका से, और आष्ट्रेलिया का जितना जापान से हो सकता है, उतना इन देशो का इंगलैण्ड से नहीं हो सकता। इस महायुद्ध मे यह दिखायी दे गया कि आस्ट्रेलिया जापान से अपनी रक्षा करने मे इंगलैण्ड पर निर्भर नहीं रह सकता। सम्भव है, महायुद्ध के बाद नयी व्यवस्था मे इस दृष्टिकोण से विचार किया जाय।

कुछ साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञ कहा करते हैं कि हमारी जन-संख्या बढ़ रही है, और बढ़ने वाली आबादी के लिए हमे उपनिवेशों की जरूरत है। पर इस कथन में कोई सार नहीं है। सन् १६१३ मे जर्मनी के अधिकार मे दस लाख वर्ग मील भूमि थी, फिर भी अधिकॉश जर्मन अमरीका और केनेडा में ही जाकर बसते थे। ग्रेट ब्रिटेन के अधिकार मे बहुत से उपनिवेश है, फिर भी वहाँ के आदमी बहुत बड़ी तादाद मे अमरीका मे ही जाकर रहते हैं। फिर अगर किसी राष्ट्र के आदमी योग्य, मेहनती और ईमानदार हैं, तो वे चाहे जहाँ रह सकते है, उन्हे राजनैतिक सत्ता के सहारे की जरूरत नही होती। उपनिवेशो पर कब्जा करने का असली मतलब यही है कि उनका धन चूसा जाय और पूँजीपतियो का लाभ हो। इसीलिए साम्राज्यवादी अपने अधीन देशो को आजाद नहीं होने देते, और बहुत मजबूर किये जाने पर ही उनके किसी अधिकार को स्वीकार करते है।

साम्राज्यवादियो का कहना है कि उन देशो को तो आज़ाद करना ठीक है, जो इसके योग्य हों। पर जो अयोग्य हैं, उन्हे आज़ाद कैसे किया जा सकता है, उन्हे पहले योग्य बनाने की

ज़रूरत हैं। साम्राज्यवादी भाषा में 'योग्य बनाने' का अर्थ क्या होता है, यह जानने के लिए पाठकों को दो मिसालें याद रखनी चाहिएँ—पहली यह कि अंगरेज़ शासक बार बार हिन्दुस्तान की स्वराज्य सम्बन्धी अयोग्यता की बात कहते हुए नहीं लजाते, यद्यपि उनको यहाँ शासन करते इतना समय बीत गया। इसी तरह अमरीका फ़िलीपाइन द्वीपों को ४५ वर्ष में भी स्वराज्य के योग्य न बना सका; आखिर, जापान ने उनपर अधिकार जमा कर अमरीका को उन्हे योग्य बनाने की चिन्ता से ही मुक्त कर डाला।

फिर, योग्यता अयोग्यता को जाँचने की कसौटी क्या है? क्या एशिया और अफ्रीका का निवासी या काले रंग का होना अयोग्यता मानी जाय? इसका तो कोई उपाय ही नहीं। क्या आपसी मतभेद या लड़ाई झगड़े के कारण किसी देश को अयोग्य ठहराया जाय? फिर तो सारा यूरोप आज़ादी के अयोग्य साबित हो चुका है। ये बातें कहाँ नहीं होतीं! पराधीन देशों में शासक खुद अपने स्वार्थ के लिए इन झगड़ों को प्रोत्साहन देते रहते हैं। क्या शिक्षा का काफी प्रचार न होना अयोग्यता का लक्षण माना जाय? पर अंगरेज़ों के शासन में भारतवर्ष में शिक्षा का प्रचार जिस मंद गति से हुआ है, उसके हिसाब से तो हर बालिग स्त्री पुरुष को ऊँचे दर्जे की नहीं, मामूली शिक्षा प्राप्त करने के लिए भी सदियों का समय चाहिए। क्या आत्म-रक्षा को स्वराज्य की योग्यता का माप समझा जाय? शक्तिशाली साम्राज्यों के सामने कोई पराधीन देश अपनी रक्षा कैसे कर सकता है! और, अब तो बड़े बड़े साम्राज्यों को भी महायुद्ध के समय दूसरे देशों की सहायता के लिए हाथ पसारना पड़ता है। निदान, योग्यता अयोग्यता की बात

में कोई दम नहीं है।

साम्राज्यवादी शासक अपने साम्राज्य का विनाश करना नहीं चाहते। उनमें जो खरे स्वभाव के हैं, वे अपनी इच्छा को छिपा कर भी नहीं रखते। श्री० चर्चिल के ये शब्द बिल्कुल साफ हैं—'मैं ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त करने के लिए सम्राट् का प्रधान मन्त्री नहीं बना हूँ।' जाहिर है कि यह दूसरा महायुद्ध भी साम्राज्यवादियो की आखें खोलने के लिए काफी नही है। वे अब भी अपने अहंकार और नशे मे मस्त है। पर वे सुनें या न सुनें, साम्राज्यवाद का अन्त निश्चित है!

साम्राज्यवादी, संसार भर मे सभ्यता, एकता और शान्ति के प्रचार का दम भरा करते है। लार्ड हेलीफेक्स ने, जो लार्ड इरविन के नाम से हिन्दुस्तान में गवर्नरजनरल रह चुके हैं, जनवरी १६४४ में वाशिङ्गटन मे भाषण करते हुए कहा कि 'मैं ख्याल करता हूँ कि हम इस बात का खासा दावा कर सकते हैं कि हमने भारतवर्ष को युद्ध के बजाय शान्ति, फूट की जगह एकता, अराजकता की जगह सुव्यवस्था, और स्वेच्छाचारी शासकों की ग़ैरजिम्मेवर हुकूमत की जगह क़ानून प्रदान किया है।' यह दावा कितना उपहासजनक और निस्सार है, इस बात को हर विचारशील भारतवासी अच्छी तरह जानता है। भारत-मंत्री श्री० अमेरी ने तो यहाँ तक कह डाला कि 'ब्रिटिश साम्राज्य दूसरी मानवी संस्थाओ की तरह अपूर्ण वस्तु भले ही हो, पर मुझे विश्वास है कि मानव स्वतन्त्रता और न्याय कायम करने के लिए जो जो साधन संसार ने अब तक देखे हैं, उनमे यह सबसे बड़ा है।' अमेरी साहब और उनके साम्राज्यवादी भाईबन्द चाहे जो विश्वास करें, साम्राज्य के शोषण और पीड़न का सच्चा अनुभव भुक्तभोगी अधीन देशो को ही हो

सकता है। जूता पहनने वाला ही यह जानता है कि वह कहाँ कहाँ काटता है। हम केवल मानवता-प्रेम के नाते इस विशाल साम्राज्य के वकील अमेरी साहब से पूछते हैं—आपके साम्राज्य ने अमरीका, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के तथा महासागरों में फैले हुए विविध टापुओं के मूल निवासियो से कैसा व्यवहार किया? भारतवर्ष आदि मे अपना अधिकार बनाये रखने के लिए कैसे कैसे उपाय काम मे लाये गये? जिन एशियायी देशवासियो ने स्वतन्त्रता का झंडा उठाया, उनके लिए कैसे कैसे कायदे क़ानूनो की रचना की गयी? इत्यादि।

क्या साम्राज्यवाद शान्ति कायम रखने मे सहायक होता है? हर साम्राज्य दूसरे साम्राज्यो को आशङ्का की नज़र से देखता है। इसका नतीजा यह है कि साम्राज्यो में समय समय पर युद्ध होते रहते हैं। फिर यदि दो तीन साम्राज्यों का मेल हो जाय तो क्या कहना? गत वर्ष जब ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री० चर्चिल ने यह कहा कि ब्रिटिश और अमरीकन राष्ट्र अपनी रक्षा और सब के हित के लिये शांति, न्याय और शान से साथ साथ चलेंगे, तो अमरीका की सुप्रसिद्ध लेखिका पर्ल बक ने स्पष्ट लिखा था कि "रंगीन लोगों के लिये इंगलैण्ड और अमरीका के शान से साथ साथ चलने का अर्थ गोरे रंग के लोगो का भयानक साम्राज्यवाद है—यह उससे भी अधिक भयानक है, जितना विजेता जापान भयानक हो सकता है।"

महायुद्ध के बाद के एंग्लो अमरीकन साम्राज्य की योजनाएँ बन रही हैं। सुप्रसिद्ध निग्रो लेखक जार्ज पेडमोर ने अपने एक लेख में कहा है।—"देश—बटवारे की नयी योजना में अमरीका वाले पूँजी लगावेंगे, और अंगरेज राजनैतिक और शासन सम्बन्धी नियंत्रण कायम रखेंगे। इस तरह ब्रिटेन और अमरीका के

पूँजीपति मिल कर उपनिवेशों का शोषण करेंगे। जब तक ब्रिटेन शक्तिशाली रहा तब तक उसने इस तरह का सहयोग कभी स्वीकार नहीं किया, किन्तु साम्राज्य पर संकट के कारण इस तरह का सहयोग ज़रूरी हो रहा है। ब्रिटेन अपने हाथ में राजनैतिक-नियंत्रण रखेगा, जिसका यह अर्थ हुआ कि कुछ न कुछ आर्थिक नियंत्रण भी उसके हाथ मे रहेगा ही।"

यह नया साम्राज्यवाद अधिक बलवान होता दिखायी देता है, इसीलिए यह मानव जाति के विकास के लिए और अधिक बाधक होगा। परन्तु इसमे स्थिरता नही। सम्भव है, मानव समाज को साम्राज्यवाद की बुराई का अच्छी तरह परिचय मिलने के लिए वह अधिक बड़े और विकराल रूप मे दुनिया के सामने आवे। आखिर, उसका अन्त होना ज़रूरी है, और वह होगा।

हम यह मानते है कि साम्राज्यवाद से कुछ लाभ भी हुआ है। अपने स्वार्थ-साधन के लिए ही सही, साम्राज्यो ने दूर दूर तक सभ्यता की बाहरी ज़रूरतो को पूरा किया। पराधीन देशो के लिए रेल, तार, डाक, टेलीफोन, रेडियो, समुद्री तार, जहाज और वायुयान आदि की व्यवस्था की। इसके मूल मे कोई पर-हित या कल्याण की भावना भले ही न हो, और अधिकांश मे थी भी नहीं, पर इसमे सन्देह नही कि इन साधनो द्वारा पराधीन देशो के आदमियो मे विचारो का आदान-प्रदान बढ़ा, उनमे अपनी परिस्थिति के ज्ञान के साथ बाहरी दुनिया का भी ज्ञान बढ़ा। उनके कुछ अंध-विश्वास हटे, और पुराने विचार बदले। उनमें एक तरह की जागृति हुई। उन्होने नए युग का संदेश सुना और संगठन करने और आजाद होने का बीड़ा उठाया। इस तरह उनमें जो नयी राष्ट्रीय भावनाएँ पैदा हुई, उसका कारण

एक अंश तक साम्राज्यवाद है। हम पहले कह चुके हैं, और फिर साफ़ कर देना चाहते हैं कि साम्राज्यवाद का यह उद्देश्य नहीं था कि वह पराधीन देशों की जनता का हित साधन करे। उसका तो एकमात्र ध्येय उन्हें अपने अधीन और कमजोर बनाये रख कर उनसे अपना स्वार्थ पूरा करना था। उसने पराधीन देशो मे जो भी वैज्ञानिक या यातायात सम्बन्धी उन्नति की, वह अपने सैनिक तथा आर्थिक फायदे के लिए की। हाँ, साम्राज्यवाद के न चाहने पर भी, गौण रूप से ये बातें एक सीमा तक पराधीन देशों के उत्थान में सहायक हुई। पर साम्राज्यवाद को इसका कोई श्रेय नहीं।

साम्राज्यवाद ज्यों ज्यों बढ़ता गया, उसका स्थूल परिणाम विनाशकारी महायुद्धों के रूप में संसार के सामने आया। मानव जाति अपना हित चाहती है, उसे भयंकर विनाश से बचना है, तो साम्राज्यवाद का अन्त करना होगा। मनुष्य-समाज को अपनी मुक्ति के लिए साम्राज्य के सभी प्रतीकों को, जैसे साम्राज्यिक झंडे, साम्राज्यिक गान, साम्राज्यिक नारों को समाप्त कर देना है। जब तक किसी भी एक देश के अधीन कोई दूसरा प्रदेश या उपनिवेश आदि रहेगा, जब तक कोई भी जाति या राष्ट्र साम्राज्यवादी भावना रखेगा, दुनिया में स्थायी शान्ति नही हो सकती। मानव सभ्यता और संस्कृति की रक्षा और विकास के लिए यह जरूरी है कि संसार के हर देश की आजादी का असूल माना जाय; नहीं तो एक महायुद्ध के दूसरा, और दूसरे के बाद तीसरा—यह सिलसिला चलता ही रहेगा। महायुद्धों के बारे में विस्तार से अगले अध्याय में लिखा जायगा।

उन्नीसवाँ अध्याय

महायुद्ध

—०—

अगर आदमी अपनी बुद्धि और चरित्र-बल को युद्ध के रोकने मे नहीं लगा सकता तो तीर कमान से युद्ध करने और हवाई जहाज या बंदूक से लड़ाई लड़ने में कोई ख़ास फ़र्क़ नही है।

—चियांग काई शेक

हम महायुद्ध को समाप्त करें, नही तो यह हमे समाप्त कर देगा।

—अज्ञात

युद्ध के रूप में मनुष्य जाति को चिरकाल से एक भयानक रोग लगा हुआ है। मनुष्य संधि और समझौतो की बात करता है, फिर भी लड़ना नहीं छोड़ता। श्री० एम० वेलबर्ट ने बताया है, कि ईसा पूर्व सन् १५०० से ईस्वी सन् १८६० तक लगभग साढ़े तीन हज़ार वर्ष मे आठ हज़ार से ऊपर अन्तर्राष्ट्रीय सधियाँ हुई हैं। ये सब हमेशा के लिए की गई थी। पर इन संधियो मे से हर एक का औसत जीवन-काल सिर्फ दो वर्ष ही रहा। सृष्टि की शुरू की हालत मे आदमी छोटे छोटे समूहो या क़बीलो में रहता है, और एक क़बीले की दूसरे क़बीले से लड़ाई होती रहती है। पारिवारिक जीवन मे, एक ही परिवार के लोगो मे कभी कभी काफी झगड़ा होजाता है। नगर-राज्यों का निर्माण होने पर एक नगर-राज्य दूसरे नगर-राज्य से लड़ता है। कालान्तर में बड़े बड़े राज्यो का या संघ-राज्यो का संगठन होता है। ये बड़े राज्य अपनी रक्षा के लिए बड़े बने थे, पर एक ओर तो ये राज्य अपने से छोटों के लिए संकट पैदा

करने वाले वाले सिद्ध हुए, और दूसरी ओर खुद इनका जीवन भी निष्कंटक नहीं रहा; क्योंकि इनसे भी बड़े राज्यों का संगठन हुआ, या दो तीन राज्य मिल कर किसी राज्य से युद्ध ठानने लगे।

मानव जाति का युद्धों से पिंड नहीं छटा। अब महायुद्ध होते है, जिनका क्षेत्र विश्वव्यापी और रूप पहले से कहीं अधिक विकराल होता है। प्राचीन काल के योद्धा एक सीमित मैदान मे लड़ते थे, दोनो दल आमने सामने होते थे। मारने वाला यह जानता था कि मै किसे मारने का प्रयत्न कर रहा हूँ। लड़ाई के मैदान से बाहर के आदमियों को—किसानों, मजदूरो, दूकानदारो, बच्चो, स्त्रियो और बूढो को—चिन्तित होने की जरूरत न थी। वे अपना समय पहले की तरह बिताते रहते थे। किन्तु अब युद्ध मे कोई सुरक्षित नही। जब दो राज्यो मे लड़ाई ठन गयी तो फिर उनके योद्धा दूसरे राज्य के सभी नागरिकों से शत्रु का सा व्यवहार करते है। वे यह नही सोचते कि उनके वार का शिकार कौन होता है। हवाई बम-वर्षक यत्र की भाँति अंधाधुन्ध अपना संहार-कार्य करते रहते है—चाहे निर्दोष बालक दयालु उपदेशक, परोपकारी चिकित्सक, मा बहिन के समान प्यारी महिला, कोई मित्र या रिश्तेदार ही मौत के घाट क्यो न उतर जाय। इसी तरह विरोधी राज्य की सभी भूमि नष्ट करने योग्य समझी जाती है, चाहे वहाँ खेती, कल, कारखाने, स्कूल अस्पताल, मन्दिर या गिरजाघर कुछ ही क्यो न हो। राजधानियाँ और कल कारखानो को तो खास तौर से लक्ष्य बनाया जाता है।

हम सभ्यता-युग मे रह रहे हैं। हमारा यह कैसा दुर्भाग्य है कि हम इस पीढ़ी मे एक नही, दो महायुद्धो को देख चुके है;

छोटे छोटे युद्धो की तो वात अलग ही रही। तीस वर्ष पहले सन् १६१४ मे हमने पिछले महायुद्ध का अनुभव किया था। पॉच वर्ष तक भयङ्कर मारकाट हुई थी। अनेक देशो मे शोक छा गया था। आदमी अपने होनहार बेटो, नर-रत्नो, के विछोह से दुखी थे। घर घर मातम छाया हुआ था। जिस परिवार का कोई निकट या दूर का सम्वन्धी मरा या जख्मी नही हुआ, वह भी आर्थिक अभावो के कारण त्रस्त था। उस समय सब शान्ति की वातें कहते और सुनते थे। बड़े-बड़े आदमी दूसरो को यह सतोष दिलाने मे लगे थे कि यह युद्ध दूसरे युद्धो का अन्त करने के लिये लड़ा गया है, अब सब सुख की नींद सो सकेंगे, किसी दूसरे युद्ध का दृश्य न देखना पड़ेगा। जहाँ तहॉ कुछ अच्छे अच्छे मस्तिष्क सुन्दर योजनाएँ बनाने मे लगे थे। राजनीतिज्ञो के भाषण सुनने और लेख पढ़ने के योग्य थे। पर वह सब आश्वासन कहॉ गया? मालूम होता है, सब जबानी जमाखर्च था। स्मशान वैराग्य था। किसी मृतक को स्मशान ले जाते समय आदमी बड़ी आध्यात्मिकता, पारलौकिकता त्याग और वैराग्य की बातें किया है। पर बहुधा वह बातें दाह-क्रिया तक ही रहती हैं, उसके बाद उनका रूप बदल जाता है। यहाँ तक कि घर लौटते लौटते कितने ही आदमी वही पुरानी रोजमर्रा की सांसारिक बातो मे लग जाते हैं। यही व्यवहार हमने पिछले यरोपीय महायुद्ध की अन्त्येष्टि पर किया।

सधिपत्र की रोशनाई सूखने भी न पायी कि नये, बढ़िया औरअधिक घातक अस्त्र-शस्त्रो के निर्माण की बातें चलने लगी। बुद्धि और मस्तिष्क का उपयोग इसलिये होने लगा कि किस तरह आगामी युद्ध की रचना हो—वह युद्ध जो इतना महान्, इतना सहारक और व्यापक हो कि सन् १६१४ का युद्ध उसके

सामने कुछ चीज न गिना जाय !

महायुद्ध का डर बराबर बना रहा। हर संघर्ष को देख कर यह आशका होती रही कि कहीं यह महायुद्ध का रूप धारण न करले। १६३६ निकला, तो ग़नीमत समझा, सन् १६३७-३८ भी किसी तरह बिताया, पर बकरे की मा कब तक खैर मनाती ! सन् १६३६ ने मनुष्य-जाति को चिन्ता-ग्रस्त कर ही डाला; फिर वही २५ वर्ष पहले की बातें। १६१४ का सा दृश्य ! उससे भी अधिक विकराल रूप में। नर-संहार अधिक, आर्थिक संकट भी अधिक और, हां, शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीयता की बातें भी अधिक।

इन महायुद्धो से संसार को कितनी हानि पहुँचती है, इसका पूरा बयान करना कठिन है। उसके लिए एक पूरा ग्रन्थ ही चाहिए। हम तो यहाँ संक्षेप में कुछ खास-खास बातों का ही जिक्र करते हैं। * विचारवान पाठक अपने मन में शेष चित्र स्वयं पूरा कर लें।

(१) युद्ध से जनता का भयंकर विनाश होता है। हम युद्धको 'पाशविक' कहते हैं, पर पशु इतने निर्दयी और झगड़ालू नहीं होते, जैसा मनुष्य होता है। अगर जंगली पशु बोलना और लिखना जानते तो वे हमारे युद्धों को खास कर एक ही जाति वालो के युद्धो को देख कर कहते—'ऐसा युद्ध मनुष्यों में होता है, हम पशुओ के लिए तो यह बुरा है, त्याज्य है।' सन् १६१४-१८ के यूरोपीय महायुद्ध मे, सरकारी हिसाब से८५,३८,३१५ आदमी मारे गये और २,१२,१६,४५२ जख्मी हुए। उस महायुद्ध के फल-स्वरूप कितने बालक अनाथ हुए, कितनी स्त्रियाँ विधवा हुईं,कितने आदमी सन्तानहीन हुए, और कितने लोग तरह तरह के रोगों

* हिन्ट्स-आन-सेल्फ कल्चर' के आधार पर।

के शिकार हुए, इसका हिसाब ही कही नही! उन चार साल मे मानव जाति अपने कितने नौजवान कवियो, लेखको, वैज्ञानिको, कलाकारो, शिक्षको, चिकित्सको और लोकसेवी महापुरुषो से वचित हो गयी! और, अब हम एक उससे भी अधिक विकराल युद्ध मे ग्रस्त है।

(२) महायुद्ध से धन की महान क्षति होती है। यह खड़ी खेतियो को उजाड़ता है, और कारखानो को नष्ट करता है। यह लोगो की शक्ति को उपज के कामो से हटा कर हत्या करने मे लगाता है, और आगे के उत्पादन मे बाधा डालता है। यह राष्ट्रो के आर्थिक साधनो को अनुत्पादक और व्यर्थ के शस्त्रास्त्रो में नष्ट करता है। पिछले यूरोपीय महायुद्ध मे कुल ५५,४८,६०,००,००० पौड खर्च हुए। दूसरे महायुद्ध की तो बात ही क्या! अकेले अमरीका ने सन् १६४४-४५ मे ६६ अरब ७६ करोड़, ६० लाख, यानी लगभग १ खरब डालर के खर्च का सालाना बजट बनाया था। अब रही निर्धन भारतवर्ष की बात। यहाँ सन् १६४४-४५ में ३६३ करोड़ १८ लाख रुपये के खर्च का अनुमान किया गया, जिसमें से २७६ करोड़ ६१ लाख रु० अकेले रक्षा कार्य के लिए थे, और केवल ८६ करोड़ ५७ लाख मुल्की खर्च के लिए, जिस मे अधिकारियो के वेतन, शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि आदि सभी आजाते है। इस खर्च को पूरा करने के लिए कई टैक्स बढ़ाये गये, फिर भी ७८ करोड़ २१ लाख रुपये की कमी रह ही गयी। यह कल्पना की जा सकती है कि युद्ध के कारण संसार के सब देशो मे कितना धन स्वाहा होता है, और इसका परिमाण कहाँ तक दिन दिन बढ़ता जा रहा है। महायुद्ध से मकान, मंदिर, गिरजा, पुस्तकालय, विज्ञानशालाएँ, प्रयोगशालाएँ, चित्रशालाएँ और विद्यालय भी नष्ट होते हैं;

यह तो क़र्ज़े के सूद की तरह है।

(३) महायुद्ध आदमी में निर्दयता को बढ़ाता है, और उसे बनाये रखता है। यह पाशविकता और अमानुषिकता का पर्यायवाची है। असीरिया के आदर्श योद्धा ने एक शिला-लेख मे अपना गर्व इस तरह प्रकट किया है—'उनके (दुशमन के) आदमियो, जवानों और बूढो को मैंने कैद कर लिया, कुछ के मैंने हाथ पॉव काट डाले, और कुछ के नाक, कान और होठ। जवानो के कानो का मैंने एक टीला बनाया और बूढो के सिरों का एक मीनार बनाया। मैंने उनके शहर के सामने उनके सिरों का विजय-स्मारक खड़ा किया। लड़को और लड़कियों को मैंने आग की लपटो मे जला डाला।' आजकल शिला-लेखो मे ऐसी बात लिखना शायद असभ्भता समझा जाता है, पर इससे असलियत मे फरक नहीं आता। युद्ध के समय आदमी निर्दयता करने मे असभ्य से असभ्य आदमी से बाजी ले जाने की कोशिश करता है। आज कल यूरोप के रंगरूटों को नीचे लिखी हिदायतें दी जाती है—'मुठभेड़ के समय शत्रु की आँखो मे दो अगुलियां घुसेड़ना और उन्हे ज़ोर लगाकर दिमाग तक लेजाना; सगीन या किर्च की नोक घुसा कर उसे घुमाते रहना, जिससे ज़ख्म बन्द न होने पाये; कटार से पेट को ऊपर से नीचे तक चीर डालना; जो आदमी ज़ख्मी होकर ज़मीन पर पड़े हो, उनको खतम करने के लिए, उनकी छाती पर घुटना रखकर उनके सिर को ऐसे जोर का झटका देना, जिस से उनकी रीढ़ की हड्डी के जोड़ खुल जायँ।'

(४) महायुद्ध से आदमी की नसल का पतन होता है। मज़बूत हृष्ट-पुष्ट आदमी भरी जवानी मे छीन लिये जाते है। सन्तान पैदा करने के लिये घटिया दुर्बल आदमी रह जाते है।

हर लड़ाकू राष्ट्र उस आदमी की तरह होता है, जो अपना कीमती खून गंवाता रहता है। युद्ध के वाद जो पीढ़ी आती है, वह आम तौर पर औसत दर्जे से कम डील डौल वाली होती है। युद्ध से राष्ट्र की धीरे धीरे आत्महत्या होती है।

(५) महायुद्ध आज़ादी और लोकतन्त्र का शत्रु है। उसके कारण हर राज्य में गैर-ज़िम्मेदार नौकरशाही और स्वेच्छाचारिता कायम होने की प्रवृत्ति होती है। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए यह ज़रूरी होता है कि सत्ता किसी एक खुदमुखतार आदमी या गुट्ट के हाथ में रहे। इस लिए समाचारपत्रो पर 'सेंसर' (प्रतिबंध) लगा दिये जाते हैं। लोगो के भाषण और सभा सम्मेलनो मे रुकावटें खड़ी कर दी जाती हैं। युद्ध के समय सरकार ही सब कुछ होती है; व्यक्ति का कोई स्थान नही रहता, और खासकर स्वतंत्र विचार वाले या बुद्धिमान आदमियो का तो उस मे काम ही नही।

(६) महायुद्ध से स्त्रियो का दर्जा गिर जाता है। युद्ध मे जिन बातो से सफलता मिलती है, वे पाशविकता और मर्दानगी है। पवित्रता, प्रेम, संयम, नम्रता, पर सेवा आदि शान्ति के समय चमकने वाले सौम्य गुणो से लड़ाकू राष्ट्रो मे घृणा की जाती है। युद्धवाद का नायक आमतौर पर मद्य मांस और व्यभिचार का शौक़ीन अभिमानी योद्धा ही होता है। अगर वह जीतता है, तो उसके दुर्गुणो की उपेक्षा की जाती है। औरतें युद्ध मे भाग कम लेती है, इसलिए युद्ध-रत समाज मे उनका दर्जा नीचा रहने वाला ही है।

(७) युद्ध से राज्य मे आर्थिक विषमता बढ़ती है, जिससे अन्त मे जाकर धनी और ज्यादह धनवान, और गरीब और ज्यादह गरीब हो जाते हैं। आम आदमियों की हालत

हर सूरत मे खराब ही होती है। इंगलैन्ड ने अनेक युद्ध लड़े, और एक बहुत बड़ा साम्राज्य कायम किया, लेकिन उसकी राजधानी लन्दन मे महलो के साथ साथ गरीब लोगो के मैले कुचैले तग और तारीक घर मौजूद है। हर देश मे युद्ध से अमीरी और गरीबी की चरम सीमाएँ पैदा होती है, जिसका नतीजा समाज मे दुख और पतन होता है।

(८) महायुद्ध से सामाजिक और राजनैतिक सुधार का काम रुक जाता है। शस्त्रास्त्र आदि युद्ध-सामग्री के लिए और निरुपयोगी सैनिको के लिए राष्ट्र की आमदनी का इतना ज्यादह हिस्सा खर्च होजाता है कि शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि उद्योग आदि के लिए बहुत कम रह पाता है। अनेक राज्यों को तो इतना क़र्जा लेना पड़ता है कि बाद मे बर्षों तक उसका भारी व्याज चुकाते रहना पड़ता है। आज कल के एक युद्ध-पोत के खर्चे से कितने स्कूल, अस्पताल अनाथालय, उद्योगशालाएँ, आदि बन सकते हैं! साम्राज्यो का व्यवहार एक ऐसे पागल का सा है जो आतिशबाज़ी मे इतना खर्च कर डालता है कि पीछे उसके खाने पीने के लिए भी नहीं बचता। इस के अलावा युद्ध का एलान करने वाला साम्राज्य अपने श्रमजीवियो के आर्थिक या राजनैतिक सुधार का आन्दोलन एक तरफ उठा कर रख देता है। वह सब देशभक्तो से युद्ध मे ध्यान लगाने का अनुरोध करता है।

युद्ध एक भयंकर पागलपन है, जो मानव सभ्यता पर बार बार प्रहार करता और उसकी प्रगति को रोकता है। इसका अन्त किया जाना ही चाहिए। आम लोगो में युद्ध के बारे मे अनेक भ्रम फैले हुए हैं, उन्हे दूर करना ज़रूरी है। इसके लिए

आगे दी हुई बातो पर विचार करना उपयोगी होगा।*

कुछ लोगो का कहना है कि युद्ध सदा होता रहा है, और होता रहेगा। कुछ दार्शनिक इससे भी आगे बढ़ जाते हैं, उनके मत से युद्ध स्वाभाविक है, और मानव विकास के लिए अनिवार्य है। वास्तव मे यह बात नहीं है। स्वयं युद्धवादी भी यह नहीं कहते कि सब युद्ध अनिवार्य है। इसके खिलाफ, वे अधिक हथियारों का आग्रह इसी आधार पर करते है कि उनसे शान्ति रखने और युद्ध रोकने में सहायता मिलती है।

शरीर के साथ रोग अनिवार्य हैं। फिर भी हमने स्वास्थ्य सम्बन्धी अच्छे अच्छे उपायों द्वारा प्लेग, कोढ़ और हैजा जैसी बीमारियो की रोक थाम कर दी है। कभी कभी उपाय असफल रहते हैं, परन्तु इससे हम उन्हे छोड़ नहीं देते, बल्कि उनका और कड़ाई से उपयोग करते हैं। कभी कभी हमारे राष्ट्रीय विधान गृह-युद्ध को रोकने मे असमर्थ रहते है, फिर भी हम विधान का उपयोग करते ही है। हमे युद्धो को अनिवार्य समझकर उन्हे रोकने के प्रयत्नो मे कमी न करनी चाहिए।

कहा जाता है कि आदमी प्रकृति से ही झगड़ालू है, और उसकी प्रकृति को बदला नही जा सकता। यह ठीक नहीं है। शिक्षा और संस्कारो से प्रकृति मे भी धीरे धीरे सुधार अवश्य होता रहता है। नर-भक्षण, मनुष्य की कुर्बानी, दासता की प्रथा, बहुपत्नित्व, विधर्मियो को जिन्दा जलाना इसके उदाहरण हैं। आचारण के ये परिवर्तन आमतौर पर ऐसे विचारो के परिवर्तन से होते है, जैसे क्या काम करने योग्य है, कौन सा रुचिकर

---

*नार्मन एंजल की 'प्रिफेस टु पीस' नाम की अंगरेजी पुस्तक के आधार पर।

या अच्छा लगने वाला है, किसके अन्त में मनुष्य जाति का हित होगा।

पहले धार्मिक भेद भाव के कारण अनेक युद्ध होते थे, वे बहुत ही बुरे थे। यह अनिवार्य नहीं था कि वे धार्मिक युद्ध जारी रहे, क्योंकि वे बन्द हो गये। जिस तरह यह जरूरी नहीं कि धार्मिक आवेश से युद्ध हो, उसी तरह यह भी जरूरी नहीं कि राष्ट्रीय भावना युद्ध का कारण हो। इंगलैण्ड और स्काटलैण्ड के निवासी किसी समय एक दूसरे से लड़ा करते थे, अब मिल कर शांति से रहते हैं। इस तरह फ्राँसीसी और अंगरेज़ केनेडा मे, और अगरेज़ और डच (हालैण्ड निवासी) दक्षिण अफ्रीका मे मिलकर रहते हैं। यदि ये लोग अपनी अपनी जाति की भक्ति में रहते तो शान्ति असम्भव हो जाती। पर इन्हे समझ आ गई है, इसी तरह दूसरे लोगों को आ सकती है।

कितने ही आदमी यह समझते हैं कि युद्ध से कई तरह के लाभ होते हैं। कुछ का खयाल है कि युद्ध से, राष्ट्र की बढ़ती हुई आबादी के लिए भोजन की कमी पूरी होती है। परन्तु अगर सारे संसार का इकट्ठा हिसाब लगाया जाय तो इतनी पैदावार होती है कि लोगो के खाने पहनने के सामान मे कमी नही रहती। आजकल के औद्योगिक और वैज्ञानिक संसार की समस्या पैदावार की कमी नहीं है, बल्कि अत्यधिक पैदावार है, यानी बटवारे की कुव्यवस्था, मुद्रा-प्रणाली और विनिमय के साधनो का मेल बैठाने मे कठिनाई आदि। अपने अधीन बड़े बड़े प्रदेश रखने वाले इगलैन्ड जैसे राज्यो मे भी ये समस्याएँ ऐसी ही जटिल हैं, जैसी स्वीडन, स्विटज़रलैण्ड और डेनमार्क जैसे छोटे छोटे प्रदेश रखने वाले राज्यों में। इससे ज़ाहिर है कि ये समस्याएँ युद्ध की विजय से हल नहीं होतीं, इनके वास्ते समझौते

और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो की जरूरत है।

यह कहा जा सकता है कि आजकल मशीनो के द्वारा कारखानो मे माल वहुत वड़े पैमाने पर तैयार होता है, उसे वेचने के लिए युद्ध जरूरी है। परन्तु इसमे कुछ सचाई नही। कोई भी राष्ट्र विजयी होने पर अपनी विजय का उपयोग अधिक माल वेचने मे किस तरह कर सकता है? सन् १९१८ मे इगलैण्ड ने जर्मनी पर विजय प्राप्त की थी। किन्तु उससे अगरेज कारखाने वालो की, अपना माल बेचने की, योग्यता बढ़ी नही; वल्कि और कम हो गयी। लड़ाई के बाद हर एक राष्ट्र की हालत पहले से खराब होती है। लाखो योग्य आदमियो के मरने या जख्मी हो जाने से और बहुत सा धन खर्च हो चुकने के कारण उसे सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति का सामना करना पड़ता है। कितने ही पूँजीपति वरवाद हो जाते हैं, उनके पास वैसी सामग्री पैदा करने के साधन नही रहते, जिसकी युद्ध के वाद लोगो को जरूरत होती है। उनका कारोवार चौपट हो जाता है। ऐसी हालत में किसी भी राष्ट्र के पूँजीपति युद्ध का समर्थन करें तो कहना होगा कि उनमे जाने या अनजाने आत्महत्या का विचार काम कर रहा है। यह ठीक है कि युद्ध के समय सरकार लड़ाई का सामान वहुत खरीदती है, और जिन कारखानों मे यह सामान तैयार होता है, उन्हे खूब आमदनी होती है; परन्तु इनकी वढी हुई आमदनी का खासा हिस्सा सरकार टैक्स के रूप में ले लेती है, कुछ थोड़े से कारखाने वालो को ही विशेष नफा रहता है। इनेगिने लोगो के मालामाल हो जाने से यह नही कहा जा सकता कि युद्ध पूंजीपतियो के लिए लाभकारी होता है, या इससे उनका स्वार्थ सिद्ध होता है।

अगर किसी बड़े शहर मे विकराल अग्निकांड हो जाय तो

कुछ पूँजीपतियो को उससे लाभ होगा; मकान बनाने का सामान तय्यार करने वाले सब उद्योग धंधों की धूम मच जायगी। इससे अग्निकांड को पूंजीपतियों का हितसाधक नहीं कहा जा सकता, फिर दूसरे आदमियो की तो बात ही क्या !

शस्त्रास्त्रों के बारे मे भी लोगो में बड़ी गलतफहमी या गैर-समझ फैली हुई है। कहा जाता है कि हथियारबन्द आदमी बलवान होता है। इस बात में क्या सार है ? जब कोई गृहस्थ केवल अपने ही बल पर निर्भर रहता है, तो ज्योही कोई उससे ज्यादह ज़ोर वाला हो जाता है, वह उसे पराजित कर देता है। अगर वह गृहस्थ (या राष्ट्र) किसी संगठित समाज का अंग होता है तो लुटेरे या आक्रमणकारी को केवल एक व्यक्ति की ही शक्ति का सामना नहीं करना पड़ता, बल्कि सारे समाज का सामना करना पड़ता है, और हर व्यक्ति अधिक सुरक्षित रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में हमे इस बात से शिक्षा लेनी चाहिए, और इसी सिद्धान्त का उपयोग करना चाहिए।

कुछ आदमी कहा करते हैं कि हथियार रक्षा के लिए होते हैं। परन्तु सब जानते हैं कि अब तक हथियारों ने यह उद्देश्य पूरा नहीं किया। उन्होंने उन लाखो आदमियों की, रक्षा नहीं की, जो युद्ध मे मारे गये; न उन्हीं लाखो आदमियो की, जो युद्ध मे जख्मी और अंगहीन हुए; न उस व्यापार और समृद्धि की ही रक्षा की, जो नष्ट हा गयी; न उस लोकतंत्र की रक्षा की, जिसके न होने से जगह जगह तानाशाहो (डिक्टेटरो) की महामारी फैली हुई है; न जनता की सैनिकवाद से ही रक्षा की, जो पिछले महायुद्ध की अपेक्षा अब अधिक निर्दयतापूर्ण है; और न राजनैतिक निर्भयता की ही रक्षा की, क्योंकि वह अब पहले से भी अधिक संकट मे है।

क्या शान्ति के लिए हथियार जरूरी हैं ? यदि सव राष्ट्र शस्त्रो का परित्याग करदें तो युद्ध की समस्या ही हल हो जाय। सृष्टि के अव तक के इतिहास से यह स्पष्ट हो गया है कि शस्त्रास्त्रो के उपयोग से शान्ति कायम नहीं होती। अव शस्त्र-परित्याग के विषय मे गम्भीरता से क्यों न सोचा जाय ? अगर हम सचमुच शान्ति चाहते हैं तो उसके लिए हम उचित कीमत देने से—शस्त्र-परित्याग से—क्यो इनकार करें।

महात्मा गांधी के ये शब्द (जो उन्होंने भारत के जंगी लाट की इस वात का विरोध करते हुए कहे थे कि 'भारतवर्ष फौजी मुल्क है') भली भांति विचार करने योग्य है—"पोलैण्ड की असदिग्ध सैनिक वीरता, उससे वढ़ कर जर्मनी और रूस की सेनाओ के सामने क्या काम आयी ? अगर इन सम्मिलित शक्तियो की चुनौती का सामना, वदले की भावना वगैर, मृत्यु के मुख मे जाने के निश्चय के साथ किया जाता तो क्या निशस्त्र पोलैण्ड की इससे बुरी हालत होती ? क्या आक्रमणकारी शक्तियाँ उस पोलैण्ड का, जो कि इसकी अपेक्षा निश्चय ही अधिक शूरवीर होता, इससे ज्यादह सर्वनाश करती ? वहुत सम्भव तो यह है कि निर्दोष व्यक्तियो की हत्या होते देख आक्रमणकारी शक्तियो की मूलभूत मानव भावना जाग उठती, और वे उनका कत्लेआम करने से रुक जाती।"

अहिन्सा के विषय मे विशेष विचार एक अलग अध्याय मे किया जायगा।

तीसरा खंड

कहाँ पहुँचना है ?

बीसवाँ अध्याय

हमारा लक्ष्य

यह जहाज़ कौन से देश को जायगा ?
उसके सभी यात्री जानते हैं कि वह देश दूर बहुत दूर है।
वह कौन से देश से यात्रा करके आ रहा है ?
वे केवल यही कह सकते हैं कि वह भी यहाँ से बहुत दूर है।

—०—

नगर-राज्य और राष्ट्र-राज्य सब भावी विश्व-राज्य मे बाक़ायदा घुल मिल जायँगे। मनुष्य जाति सदा ही पचास या अधिक राज्यों मे बँटी नही रहेगी। वह संसार भर मे एक राजनैतिक सगठन के रूप मे संगठित होगी। हमारा उद्देश्य एक राज्य, एक झंडा, एक भाषा, एक नीति, एक आदर्श, एक प्रेम, और एक जीवन है। —*लाला हरदयाल*

आदमी बहुत समय से अपने विकास की यात्रा तय करता आ रहा है। पिछले पन्नो मे हमने देखा कि कौन कौनसी मजिलें तय हो चुकी हैं, और अब हम किस स्थान पर आ पहुँचे है। एक खास बात जिसकी तरफ हमारा ध्यान जाता है, वह यह है कि हमारी यात्रा अभी बाकी है। यदि हम पीछे की ओर निगाह डालें तो मालूम होता है कि वह स्थान बहुत दूर रह गया

है, जहाँ से हम रवाना हुए थे, हम बहुत आगे बढ़ आये है, हमने बहुत तरक्की की है, और हम अपनी प्रगति पर गर्व कर सकते है। परन्तु यदि हम सामने देखें, और विचार करें कि हमे कहाँ पहुँचना है तो हमे मालूम होगा कि हम अभी अपने लक्ष्य स्थान से बहुत दूर हैं। जिस जगह हम अब आ पहुँचे हैं, यहाँ ठहरना असह्य है। हमे जल्दी से जल्दी आगे बढ़ना है। आगे बढ़े बिना हमे शान्ति नहीं मिल सकती। हमे आगे बढ़ना ही होगा—इसमे चाहे जितना कष्ट सहना पड़े और चाहे जो बाधाएँ सामने आवें।

हम यह भी नही भुला सकते कि हमारे रास्ते मे एक नही, कई एक बड़ी-बड़ी बाधाएँ हैं। उन्हे दूर करने के लिए बड़े पुरुषार्थ और हिम्मत की जरूरत है। किन्तु जब हम यात्रा पर चल पड़े है, और हमने इतनी यात्रा तय कर ली है, तो अब कुछ विघ्नो के भय से हम अपनी बाकी यात्रा स्थगित नही कर सकते। हमने कमर कस ली है, और हम उस बाकी यात्रा को भी पूरा करके रहेगे। साफ बात तो यह है कि यात्रा हमे पूरी करनी ही पड़ेगी, चाहे हम राजी से करें या नाराजी से। और, बेहतर यही है कि हम हँसी खुशी, प्रेम से और लगन से अपनी आगे की यात्रा तय करें।

अच्छा, हमे कहाँ पहुँचना है ? हमें किस तरह की सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक स्थिति हासिल करनी है ? जिस विश्व-राज्य की हम बात करते है, वह कैसा है ?

हमारी हालत उस आदमी की सी है जो किसी तीर्थ-स्थान की यात्रा के लिए चल रहा है। अभी तीर्थ-स्थान कुछ दूर है। रास्ते मे कुछ ऊँचे-ऊँचे पेड़ खड़े हैं; कहीं-कही कोई पहाड़ी टीला भी है। इनकी आड़ होने के कारण तीर्थ-स्थान अच्छी तरह

नज़र नहीं आता। कभी-कभी तो सड़क का मोड़ आजाने से तीर्थ-स्थान का दिखायी देनेवाला हिस्सा पहले से भी कम रह जाता है। कहीं कहीं रास्ते मे नदी नाले के कारण कुछ घूम कर जाना पड़ता है, अथवा ककरीली जमीन या कांटे आदि आजाने की वजह से रास्ता चलना कठिन हो जाता है, चाल धीमी पड़ जाती है। परन्तु ऐसी बातो से श्रद्धालु यात्री निराश नहीं होता। उसने यात्रा शुरू कर दी है, वह तीर्थ तक पहुँच कर ही रहेगा।

मानव समाज भी अपनी इस महान यात्रा के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा किये हुए है। उसे विश्व-राज्य में पहुँचना है। कभी कभी विश्व-राज्य कुछ ओझल हो जाता है; कभी कभी बहुत समय तक यात्रा करने के बाद, मालूम होता है कि रास्ता बहुत कम तय हुआ है, हम विश्व-राज्य के कुछ भी नजदीक नहीं पहुँच पाये हैं; वह उतनी ही दूर मालूम होता है, जितनी दूर पहले था। यही नही, मालूम होता है कि वह और ज्यादह दूर हो गया है। पर इन बातो से घबराने की ज़रूरत नहीं। हमे चिन्ता या फिक्र करने का अवकाश ही न होना चाहिए। हमारा कर्तव्य तो आगे चलते रहना ही है। हम इस डर को भी मन मे न लावें कि हम शायद अपने लक्ष्य स्थान तक न पहुँच पावें, बीच मे ही हमारी शक्ति समाप्त हो जाय। यदि ऐसा ही हो तो भी कुछ फिक्र की बात नही। हमारे चलने से, हमारे पाँव पड़ने से यदि रास्ते की ऊँची नीची मिट्टी कुछ हमवार हो जाती है, काँटे और कंकर कुछ दब जाते है, रास्ता कुछ सुगम हो जाता है, हमारे पीछे आने वालो के लिए कुछ आसानी हो जाती है, तो यह कुछ कम बात नहीं है। अगर हमारे साहस या पुरुषार्थ को देखकर हमारे उत्तराधिकारियो के मन में साहस और पुरुषार्थ आजाय तो हम अपने परिश्रम को

सफल मानेंगे। यदि हमारा भौतिक शरीर रास्ते के गड्ढो और खाइयो को भरने मे काम आ सके तो इससे अच्छी और क्या बात। बस! प्यारे साथियो? बढ़े चलो, रास्ते के कङ्करो, पत्थरो और कांटो को कुचलते हुए चले चलो। मित्रो! चले चलो।

विश्व-राज्य को अग्रदूतो की आवश्यकता है। एक अग्रदूत होने का सौभाग्य हम प्राप्त करें। चाहे हम इस समय किसी राष्ट्र-राज्य के ही रहने वाले हो, पर हमारे मन मे भावना विश्व-राज्य की ही हो। जाति, राष्ट्र, देश, धर्म मजहव, सम्प्रदाय और वर्ग आदि का भेद भाव छोड़कर हम सव से प्रेम करें, सव का स्वागत करें, सव का भला चाहें, सव के साथ अच्छा व्यवहार करें; हम पूँजीवाद, राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद की दूषित संस्थाओ का समर्थन न करें, इन से वचें। आजकल की पद्धति का समर्थन करने वाली व्यवस्थापक सभाओं, दलो, पार्टियो, अदालतों, सेनाओं और सम्प्रदायो मे हम भाग न लें। जहाँ तक हमारा अपने आप से सम्बन्ध है, हम अपने को विश्व-राज्य का नागरिक समझें; सोते, जागते, चलते फिरते, खाने पीते, हम विश्व-राज्य का चिन्तन करें और उसके आगमन की प्रतीक्षा करें। प्रभात काल का सूर्य अभी क्षितिज से नीचे है, अभी हम उसका दर्शन नही कर सकते, परन्तु उषा उसकी सूचना दे रही है। हम उषा की आराधना करने वाले भी होंगे, तो हमारी सतान, या उस सतान की संतान, अवश्य सूर्य के दर्शन से कृतार्थ होगी—वह सूर्य जो इस अखंड और अविभाज्य विश्व-राज्य को अलोकित करेगा और समस्त मानव जाति को सुख शान्ति और समृद्धि प्रदान करेगा।

हमारे कुछ भाई अधीर होकर कह रहे है, "तुम जिस विश्व-राज्य की वात करते हो, वह कैसा है, उसका आकार

प्रकार किस तरह का होगा, उसके नियम कायदे कैसे होंगे, वहाँ की व्यवस्था, शासन पद्धति और न्याय प्रणाली किस ढङ्ग की होगी ?" इस तरह के सवालो का ठीक ठीक और ब्यौरेवार जवाब देना कठिन है। यह भी कह सकते हैं कि इसका अभी समय नहीं आया है। विश्व-राज्य हमसे कुछ फासले पर है, इसलिए हम उसका पूरा चित्र नहीं खैंच सकते।

हमरी हालत उन लोगो की सी है, जिन्होने अब से कई सदियो पहले संसार का नक़्शा बनाया था, उन्होने अपनी तरफ से मेहनत करने में कुछ कसर बाकी न रखी थी, तो भी उन बेचारो को संसार के अनेक भागों का पता न था। कई जगह जहाँ उन्होंने समुद्र समझा था, पीछे जमीन का होना मालूम हुआ। उन पुराने नक़्शो से यह तो पता चला कि अमुक देश हमारे देश से किस दिशा मे है, उत्तर में है, या उत्तर-पूरवया उत्तर पच्छिम में। परन्तु वह निश्चित रूप से मालूम नही होता था कि वह देश कितने फासले पर है, या उसकी सीमाएँ या शक्ल कैसी है। वे नक़्शे बिल्कुल अधूरे थे! आजकल का पाठक उन्हे देखकर उनके बनाने वालों का मजाक उड़ायेगा। तो भी उन नक़्शों ने अपने जमाने में बड़ा काम दिया! उन से लोगो को जब यह मालूम हुआ कि अमुक देश हमसे इस दिशा में है तो इस आधार पर कुछ खोज करने वालो ने यात्रा की और उस देश का पता लगाया, उसका फासला और उस की ठीक ठीक सीमा का हिसाब लगाया। इसके बाद जो नक़्शे बने, उनमें पहले से ज्यादह जानकारी दी गयी। इसी तरह पीछे आने वाले अपने पूर्वजो के बनाये हुए नक्शों में सुधार करते रहे, और इसी का यह नतीजा है कि अब दुनिया भर का करीब करीब ठीक ठीक नक़्शा हमारे सामने है।

यही बात विश्व-राज्य के बारे मे है। आज का लेखक कुछ मोटी मोटी बातो का ही अन्दाज़ कर सकता है। उससे ज्यादह आशा न करो; जो कुछ वह कह सकता है, उसे कह लेने दो। उसकी बातो मे सुधार संशोधन की बहुत ज़रूरत है, इसमे सन्देह ही क्या है। पर यह काम तो धीरे धीरे होता रहेगा, आगे आने वाले बुद्धिमान लेखक अपने ज्ञान और तजरुबे से नये और ब्यौरेवार ग्रन्थो की रचना करेंगे, और इस समय की कृतियो को शायद संग्रहालय या अजायब घर मे रखने के योग्य भी न समझेंगे। जो हो, कुछ तो इसलिये कि हम विश्व-राज्य से दूर हैं, और कुछ इसलिये भी कि हमारी योग्यता बहुत कम है, हम विश्व-राज्य का ब्यौरेवार वर्णन नहीं कर सकते। हम उसकी कुछ मोटी मोटी बातों का, उसकी धुधली सी रूप रेखा का ही विचार करेंगे। हमे ख़ास ज़ोर इसी बात पर देना है कि हम उसके लिये क्या कर सकते है, हमे क्या करना चाहिए, और मानव समाज के उस भावी संगठन के लिए हमे कैसा बनना चाहिए।

इक्कीसवाँ अध्याय

मानव जाति की एकता

यह पृथ्वी माता है, मैं इसका पुत्र हूँ। —अथर्ववेद

जिस तरह कोई हवाई जहाज़ चलाने वाला ज़मीन से बहुत ऊंचा उठता है, और तमाम ज़मीन को एक निगाह में देख लेता है, उसी तरह हमें जाति, रंग, भाषा और राष्ट्रीयता की रुकावटों और बन्धनों से

ऊपर घटना चाहिये और सब आदमियों, औरतों और बच्चों को प्रेम भरी निगाह से देखना चाहिए। कोई भी हमारे प्रेमी हृदय से बाहर न रहे। —हरदयाल

संसार मे केवल एक ही जाति है, और वह है मानव जाति। —रवीन्द्र

मै एक मनुष्य हूँ, और मनुष्य होने के नाते दूसरे मनुष्यों से मेरी सह-जातीयता है। कोई माता पिता के समान मुझसे स्नेह करता है। किसी को मैं भाई बहिन या मित्र मानता हूँ। कोई मेरे मोहल्ले, गांव, नगर या देश का होने के कारण मुझे प्यारा है। किसी को मै निकट सम्बन्धी मानता हूँ, किसी को दूर का। किसी से मेरा घनिष्ठ संबध है, और किसी से बहुत कम। मालूम होता है कि जीवन का कोई न कोई तार मुझ में और दूसरो में समान रूप से पिरोया हुआ है। यदि किसी दूसरे को कुछ कष्ट होता है तो थोड़ी बहुत चोट मेरे हृदय पर भी लगती है। जो जो बातें उसे अप्रिय लगती है, उनमे से अधिकांश को मैं अपने लिए भी अच्छा नही मानता। शेक्सपीयर का शाइलक हमारी भावना को अच्छी तरह प्रकट कर रहा है।

जब शाइलक को यहूदी और सूदखोर कह कर उससे घृणा दिखाई गयी तो वह कैसी भावपूर्ण बात कहता है—'मैं यहूदी हूँ! क्या यहूदी के आँखें नहीं होतीं? क्या यहूदी के हाथ, पैर, नाक, कान, अंग, आकार, प्रेम और वासनाएँ नहीं होतीं? जिस भोजन से ईसाई पलता है, उसी से यहूदी पलता है। जिन हथियारों से ईसाई को चोट लगती है, उनसे यहूदी को भी चोट लगती है। यहूदी को भी वे ही बीमारी लग सकती हैं, उसे उन्ही चीजों से आराम मिलता है, उसे भी

सर्दी मे ठंड लगती है, और गरमी की मौसम में गरमी मालूम होती है, ठीक उसी तरह जैसे किसी ईसाई को। अगर तुम सूई चुभोओ तो क्या हमारे शरीर से खून नहीं निकलता ? यदि तुम गुदगुदी करो क्या हमे हंसी नहीं आती ? अगर तुम हमें जहर दे दो तो क्या हम मरगे नही !'

जब किसी आदमी के मन मे किसी दूसरी जाति या धर्म वाले को नुकसान पहुँचाने या तकलीफ देने का विचार आवे तो उसे शाइलक की ऊपर कही हुई बात याद कर लेनी चाहिए।

इस पृथ्वी पर सवा दो सौ करोड़ आदमियो का निवास है। जब मैं एक परम पिता परमात्मा को मानता हूँ और सब मनुष्यो को उसकी संतान कहता हूँ तो हर व्यक्ति, वह चाहे जहाँ रहने वाला, और चाहे जिस जाति या रंग का हो, मेरा भाई या बहिन है। इस नाते से मेरा उसके प्रति अवश्य कुछ न कुछ कर्तव्य है। यह भी सम्भव है कि ब्रह्मांड में हमारी पृथ्वी जैसी और भी अनेक पृथ्वियाँ हो, परन्तु उनके विषय मे हमे कुछ मालूम नही है; इसलिए उनके सम्बन्ध मे हम अपने कर्तव्य से भी बरी हैं।

'धरती माता' हमारी बोलचाल का शब्द है। हम धरती (पृथ्वी) को माता मानते हैं। हम उसे वन्दना करते हैं। उसने हमे जन्म दिया है, उसके दिये हुए पदार्थों से हमारा पालन-पोषण और रक्षण होता है। इस माता की गोद मे हम खेले हैं, और इसके संरक्षण मे रह कर हम अपनी जीवन-लीला पूरी करते हैं। हमारे मरने पर यही हमारे भौतिक शरीर को आश्रय देती है। हम सब इस पृथ्वी माता की संतान है; बालक हो, या जवान या बूढ़ा, पुरुष हो या स्त्री, काला हो या गोरा, माता सब की माता ही है। उसकी सब सन्तान बराबर हैं।

वह सब की मातृभूमि है।

मानव जाति एक है। सब पुरुष और स्त्रियाँ वास्तव में एक ही जाति के है। सब एक ही ढंग से पैदा होते है। इस कसौटी पर एक देश के आदमी दूसरे देश के आदमियों से जुदा नहीं है। अमरीका मे काले दासों के गोरे स्वामियों ने यह साबित करने की कोशिश की थी कि हबशी लोग असल में मनुष्य जाति के नहीं हैं, उन्हे किसी दूसरी जाति का समझना चाहिए, और मनुष्यो से नीची श्रेणी का यानी उप-मानव कहना चाहिए। उनका यह दावा, जो उनके अहंकार और लोभ से पैदा हुआ था, ठहर न सका। शारीरिक गठन और जीवन-विज्ञान दोनों की दृष्टि से पांचों महाद्वीपों के सब पुरुषों और स्त्रियों में कोई फरक नहीं है। शरीर-शास्त्र के आधार पर मानव जाति की एकता से कोई इनकार नहीं कर सकता, किसी को इसमे सन्देह करने की गुञ्जायश नहीं।

सब आदमी, यहाँ तक कि जगलो, पहाड़ों, और बर्फ के मैदानो मे रहने वाले भी, बोल सकते है। बोलना मनुष्य मात्र पर लगी हुई एक छाप है। सब आदमी और औरतें किसी न किसी तरह के औजारों को काम मे लाती हैं। सब मे थोड़ा बहुत सोचने का गुण है। सब कुदरती आफतो और रुकावटो से बच निकलने की ही कोशिश नही करते, बल्कि उन रुकावटो पर विजय पाने का भी प्रयत्न करते है।

चाहे जितना कम या चाहे जितना ज्यादह, सब आदमी गिन सकते है, विचार कर सकते है, अनुमान कर सकते है, नतीजा निकाल सकते हैं, और उद्देश्य-सिद्धि के लिए साधनो का उपयोग कर सकते है। सब किसी न किसी तरह के समूह मे रहते है; सब अपने परिवार वालो से—माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री.

बच्चो से स्नेह करते है। सब आदमी और सब औरतें ब्रह्मांड के सम्बन्ध मे कुछ न कुछ दार्शनिक विचार रखते हैं—यह कैसे पैदा हुआ, कौन इसका पैदा करने और रक्षा करने वाला है, इसका क्या उद्देश्य है। सब लोगो के जीवन मे किसी न किसी तरह का क्रम पाया जाता है; वे सब, कुछ नियमो का पालन करते हैं; सब के कुछ रीति रिवाज, नेगचार, दस्तूर होते है। सब अपने समूह सम्बन्धी कुछ बातो की याद रखते हैं, भूत-काल का विचार करते है, और कुछ परम्पराओ को मान देते हैं। सब की दृष्टि भविष्य की ओर रहती है।* सब अपनी संतान के हित का विचार करते हैं, और उसके लिए जहाँ तक हो सकता है, इन्तज़ाम करते हैं।

मैं एक मनुष्य हूॅ। और, मनुष्य मे दूसरे प्राणियो की अपेक्षा दो बातें अधिक विकसित रूप मे होती है—(१) सोच विचार, बुद्धि, विवेक, या मस्तिष्क का कार्य, और (२) मिल जुलकर रहना, संगठित होना, एक दूसरे से सहानुभूति और प्रेम, या हृदय का कार्य। ये बातें ससार के सभी आदमियो मे पायी जाती हैं। मुझे गर्व करना चाहिए कि इन गुणो को रखने के कारण मै मानव जाति का सदस्य हूॅ। हर व्यक्ति को यह भली भाँति अनुभव करना चाहिए कि वह मानव जाति का सदस्य है। उसका एक अंग है। सब पृथ्वी माता की संतान हैं।

---

* कितने ही आदमी तो भावी सुख के लिए वर्तमान काल मे अनेक कष्ट सहने को भी तत्पर रहते हैं। अनेक आदमी अपनी इस समय की आवश्यकताओं की पूर्ति में कमी करके भावी आवश्यकताओं के लिए द्रव्य संचय करते हैं। भारतवर्ष आदि देशों मे अगले जन्म तक की चिन्ता की जाती है।

मानव जाति की एकता एक गहरी सचाई है। दुर्भाग्य से यह बात बाहरी निगाह से मान्य नहीं की जा सकती, कारण यह है कि मानव जाति मे एकरूपता नहीं है, मनुष्यों में आन्तरिक एकता होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ हैं। इन विभिन्नताओं ने मानव जाति की तात्विक एकता को छिपा रखा है। यहाँ तक कि इन्होने एक दूसरे से घृणा और युद्ध को जन्म दे दिया है। हमें इन ऊपरी भेद-भावो से सतर्क रहना चाहिए; ऐसा न हो कि इनके कारण हम पृथ्वी भर के देशो के आदमियों, औरतों और बच्चो के प्रति अपनी कर्तव्य-भावना को कम कर दें। भेद-भाव पैदा करने वाली बातो में दो मुख्य हैं:—(क) जाति, और वर्ण या रंग और (ख) भाषा और राष्ट्रीयता। इनके विषय में अन्यत्र विचार किया जा चुका है। इन भेदो का मुख्य कारण यह है कि पृथ्वी के अनेक भाग एक दूसरे से बहुत दूर हैं। एक जगह के आदमी को दूसरी जगह के आदमी के पास जाने आने मे बहुत समय लगता है—और बड़ी कठिनाई होती है। इसीलिए दूर दूर के आदमियो मे मिलना-जुलना और विचार-विनिमय बहुत कम हो पाता है। इस तरह दूरी और समय की बाधाओं ने मानव जाति को अलग अलग या जुदा-जुदा मालूम होने वाले टुकड़ों में बाँट रखा है।

मनुष्य चिरकाल से समय और दूरी का बंधन हटाने की कोशिश कर रहा है। उन्नति करते करते अब नई नई वैज्ञानिक ईजादों और यंत्रों की सहायता से उसने इसमें बहुत कुछ कामयाबी हासिल कर ली है, और आगे के लिए उसका मार्ग और भी अधिक साफ हो गया है। पण्डित श्यामविहारी दुबे

लिखते हैं कि "टेलीविज़न (दूर के चित्रो को पर्दे पर दिखाने) के आविष्कार के बाद मनुष्य दूर से दूर और कम से कम समय मे देखने, सुनने, सूंघने, छूने, बोलने, स्वाद लेने आदि के अनुभव करने की ओर है। और, यही बातें समाज की व्यवस्था को बदल देंगी। राजनैतिक स्थिति मे भी अतर हो जायगा। भविष्य के युग में मनुष्य एक यंत्र को अपने सामने रखकर संसार के दूसरे छोर ही नही वरन् दूर आकाश में ठहरे हुए ग्रहो के प्राणियो से सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा। अपने शब्दो को दूर देश के व्यक्ति को सुना सकेगा, उसे स्वयं देख सकेगा, उसके स्वांस-प्रस्वांसो का अनुभव करेगा, उसके शरीर पर लगी हुई सुगन्ध का अनुभव करेगा, स्पर्श-अनुभव जैसे चुबन और आलिङ्गन का भी अनुभव उतना ही सरल हो जायगा जितना प्रत्यक्ष बैठे हुए व्यक्ति के साथ होता है।"*

इन सब बातो का मनुष्य के जीवन पर जो प्रभाव पड़ेगा, उस से यहाँ प्रयोजन नहीं। हमारे विचार करने का मुख्य विषय यह है कि विश्व-राज्य के निर्माण में ये बातें कहाँ तक सहायक होगी। बहुत बड़े राज्यो के निर्माण मे एक बड़ी बाधा समय और दूरी की रही है, ज्यो ज्यो यह समस्या हल होती गई है, बड़े बड़े राज्यो के कार्य संचालन की असुविधाएँ घटती जाती हैं। इस समस्या को हल करने मे विज्ञान ने अनेक रूपो में सहायता की। हम यहाँ केवल इस बात पर विचार करेंगे कि खास-कर हवाई जहाज इसमे कहां तक भाग लेने वाला है। इससे पाठक विचार कर सकेंगे कि विज्ञान के सब यंत्रो का असर मिलकर कितना ज्यादह होगा।

---

*अप्रकाशित 'त्रिकाल दर्शन' के. 'शुभचिन्तक' मे उद्धृत अंश से।

अनुमान किया जाता है* कि अब से वीस तीस वर्ष बाद हवा से सफ़र करने की सुविधा उसी तरह सब लोगों को मिल जायगी, जिस तरह आज रेल और जहाज़ की सुविधा सब को मिली हुई हैं। हवाई जहाजो की मामूली चाल ४०० मील फी घटा होगी, तब दुनिया का कोई कोना किसी के लिये २४ घंटे की यात्रा से ज्यादह का नहीं रह जायगा। आदमी दूरी और समय के बंधनो से आज़ाद हो जायगा। ससार उस समय सिमट कर बहुत छोटा हो जायगा। सदियो तक आदमी जमीन पर दौड़ते हुए घोड़े की चाल से, और पानी पर बादबानी किश्तियो की चाल से, यात्रा करता रहा है। इसके बाद रेलों, मोटर गाड़ियों, और भाप से चलने वाले जहाजो का युग आया, और, आदमी की चाल पहले से तिगुनी हो गयी। आदमी स्वभाव से ही दूरी को, यात्रा में लगने वाले समय से मापता है। इस तरह हम कह सकते है कि आदमी के लिए नया संसार पहले की निस्बत एक तिहाई रह गया। आज कल हम ज़मीन पर ४० मील फी घंटा और समुद्र पर २० मील फी घंटा के हिसाब से दूरी की माप करने के आदी हो गये हैं, और ससार के सम्बन्ध में हमारी धारणा भी इसी माप पर बनी है।

हम कलकत्ते के सम्बन्ध में यह नहीं सोचते कि वह बम्बई से १,१०० मील दूर है, पर यह सोचते है कि बम्बई से ४० घंटे की यात्रा है। इसी तरह पूना के लिये हम यह नहीं सोचते कि वह ७५ मील दूर है, बल्कि यह सोचते है कि ३ घटे का रास्ता है। पर जब हम कलकत्ते भी उतनी देर मे पहुँचने लगेंगे जितनी

*श्री० जे. आर. डी. टाटा के बाम्बे रोटरी क्लब के, सन् १९४३ के भाषण से।

देर मे इस समय बम्बई से पूना पहुँचते है, जब हम काहिरा भी उतनी ही जल्दी पहुँचने लगेंगे जितनी जल्दी अहमदाबाद पहुँचते है, जब हमे न्युयार्क पहुँचने मे भी उतना समय लगेगा जितना मद्रास जाने में लगता है, तब दूरी के लिहाज मे कलकत्ता वहाँ आ जायगा; जहाँ आज पूना है, लन्दन दिल्ली की जगह पर आ जायगा, काहिरा अहमदाबाद के स्थान पर, और न्यूयार्क मद्रास के स्थान पर आ जायगा। इसके यही मानी निकलते है कि उस समय ससार आजकल की निस्बत १५ गुना छोटा हो जायगा।

इस तरह दुनिया के सिमट कर छोटी हो जाने से और जीवन के रहन सहन का मान बढ़ जाने से, मुझे आशा है, यात्रा करना भी बहुत बढ़ जायगा। इससे केवल तिजारत और उद्योग धन्धो की समृद्धि ही नही होगी, बल्कि संसार के लोगो को दूसरे देश देखने और वहाँ के निवासियो को समझाने-बुझाने का भी मौका मिलेगा। हम विदेशियों से इसीलिये घृणा करते हैं कि हमारी उनके बारे मे जानकारी बहुत कम है, और इसके फल-स्वरूप यह धारणा बध जाती है कि वे हम से अलग है। हवाई जहाजो के युग में जब हज़ारो मील की दूरी पर रहने वाले लोग एक-दूसरे से मिलने-जुलने लगेंगे तो अविश्वास और सघर्ष की भावना अपने आप हट जायगी। इसके साथ ही जीवनका दृष्टिकोण और रहन-सहन का भेद-भाव भी अपने आप मिटने लगेगा। राजनैतिक सीमाएँ टूटती हुई नज़र आएगी, पासपोर्ट और सिक्के की रोक लोगो को असह्य हो जायँगी और मन की गाँठें खुल जाने से अपने-आप धीरे धीरे एक मिली जुली विश्व-सस्कृति का विकास होगा। इसलिए हवाई जहाजो के युग का मुख्य नतीजा यह होगा कि ससार के लोग एक दूसरे के पड़ोसी

हो जायँगे, और मन वचन और काम से एक दूसरे के नजदीक आ जॉयगे।

यह ठीक है कि दूसरी चीजों की तरह हवाई जहाजों का दुरुपयोग हो सकता है, और इस समय युद्धो में हो ही रहा है। बात यह है कि इस समय विज्ञान साम्राज्यवाद का दास है, इसलिये संहार में सहायक हो रहा है। साम्राज्यवाद का अंत होने पर ऐसा न रहेगा। अब भी विज्ञान आदमी को अपने हज़ारो कोस की दूरी पर रहने वाले भाई से मिलाने मे मददगार हो रहा है, काले पीले और गोरों को, यहूदी ईसाई, मुसलिम और पार्सी को एक दूसरे के साथ मिला रहा है। किन्तु इस समय यह मिलन कभी दो या अधिक वर्गों में दोनो के हित के के लिए होता है, और कभी बलवान द्वारा निबल के शोषण के लिए। निदान, विज्ञान का उपयोग मानवता या मानव प्रेम की वृद्धि के लिए भी हो सकता है, और होता है। ज़रूरत है कि आदमी विज्ञान से प्राप्त शक्ति को अपना संहार करने मे न लगावें।

ज़ाहिर है कि दूरी की समस्या ज़ितनी अधिक होती है, उतना ही संगठन छोटे छोटे दायरो मे रहने वालों का अधिक होता है। ज्यो ज्यो मेल जोल या आने जाने के साधनो की वृद्धि होती है, दूर दूर के आदमियो का सगठन सुगम होता जाता है। पुराने ज़माने मे मनुष्यो का संगठन छोटे छोटे समूहो मे था, धीरे-धीरे दूर दूर के आदमियो का मिलना और आपसी सम्बन्ध बढ़ा। उसी के अनुकूल धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक नियमो की रचना बड़े-बड़े समूहो के हित के लिए की जाने लगी। विज्ञान समय और दूरी के बन्धन को काट कर मनुष्य-जाति की एकता और विश्व-राज्य के निर्माण का रास्ता साफ करता जा रहा है।

बाइसवाँ अध्याय

विश्व-संघ की ज़रूरत

मनुष्य क्रमशः गृहस्थी की परिधि, समाज के घेरे, जाति के मंडल, राष्ट्र के व्यूह व साम्राज्य के महाव्यूह में आया। अब वहाँ से वह सार्वभौमिक बनना चाहता है—हृदय की संकीर्णता त्याग वह विश्व-नागरिक बनना या विश्वात्मा में लीन होना चाहता है। उपर्युक्त कुल सीढ़ियों को लाँघ कर इस उद्देश्य की सिद्धि करना मानव समाज का परम धर्म और कर्तव्य है। —अभ्युदय

मानव जाति के इतिहास मे विश्व-राज्य की एक निश्चित, किन्तु कुछ बिखरी हुई सूचना है। पहले मनुष्यो की व्यक्तिगत सत्ता न थी; सब अधिकार बड़ो या बुजुर्गो का होता था—बड़ा कभी घर का बूढ़ा और कभी समाज, जाति या धर्म का नेता होता था। धीरे धीरे केवल बड़े बूढ़ो की हकूमत हट कर मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता भी मानी जाने लगी। उसका संगठन शुरू हुआ। मनुष्य की जरूरतो और उसकी अन्दर की प्रेरणाओ ने मिलकर व्यक्तियो का परिवार बनाया, परिवारो के वंश बनाये, वंशों से कबीले या कुल बने, कुलो का राष्ट्र बना, और राष्ट्रो का साम्राज्य या संघ-राज्य। साम्राज्यो का रूप अब बहुत हानिकर हो गया है। जनता अब संघ-राज्यो से बड़ी बड़ी आशाएँ कर रही हैं। पर क्या संसार में कई संघ-राज्यों का होना हितकर

होगा ? मनुष्य चिरकाल से संगठन करता आ रहा है। यह संगठन का काम उस समय तक चलता रहेगा, जब तक सब संसार के आदमियो का एक संगठन इतना विशाल न हो जाय कि उसमे सारी मानव जाति समा जाय, कोई भी हिस्सा उससे बाहर न रहे।

जिन कारणों से व्यक्ति से परिवार और परिवार से धीरे धीरे वंश, कबीला, जाति, राष्ट्र और साम्राज्य बने, वे कारण अब भी मौजूद हैं। इसलिए यह नतीजा बिल्कुल तर्क सगत है कि साम्राज्य से आगे बढ़ना अनिवार्य है। मनुष्य ने अपने उत्थान में जो सीढ़ियाँ पार की हैं, उनमें दो परस्पर विरोधी कारणों का पता चलता है। मनुष्य में प्रेम की भावना है, और जब प्रेम का क्षेत्र सीमित रहता है, तो वह उस क्षेत्र के बाहर के लोगों से लड़ाई झगड़ा करता है। जब परिवार बना तो परिवार के सदस्य एक दूसरे के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार हुए। पुरुष स्त्री से, और स्त्री पुरुष से, और दोनों अपनी संतान से खूब प्यार करते हैं, यहाँ तक कि वे इसमें किसी दूसरे प्रतिद्वन्दी का होना सहन नहीं कर सकते। पुरुष और स्त्री की यह खुली चुनौती रहनी है कि जितना प्यार हम एक दूसरे से और अपनी संतान से करते हैं, उससे ज्यादह कोई भी दूसरा नहीं कर सकता, परन्तु इनके प्रेम का क्षेत्र सीमित था, ये अपने परिवार से बाहर के व्यक्तियों से लड़े झगड़े। एक परिवार दूसरे परिवारों से लड़ा। जब इन परिवारो की एक जाति बनी तो परिवारों के आपसी युद्ध का अन्त हुआ। एक जाति के अन्तर्गत परिवारो ने आपस में प्रेम और सहयोग से रहना सीख लिया। परन्तु पुराने संस्कारों के कारण एक जाति दूसरी जाति से लड़ती रही। धीरे धीरे पास रहने

वाली, और एक दूसरे से लड़ने वाली जातियों ने देखा कि आपस मे मेल किये विना गुजर नहीं, इस पर वे आपस मे दूध और चीनी की तरह ऐसी मिल गयी कि देखने वाले के लिए वह मिश्रण या मिलावट न मालूम होकर एक ही चीज हो गयी। एक कौम या राष्ट्र के अन्दर जितने व्यक्ति, परिवार या जितनीजातियां होती है, वे सब अपनी अलहदगी को और पुराने झगड़ों को भुला देती हैं; और एक दूसरे की भलाई के लिए भारी कुर्बानी या त्याग करने लगती और तरह तरह की तकलीफें उठाने को तैयार रहती हैं। उनमे से एक का दुख सब का दुख होता है, और एक के सुख मे सब सुखी होते है।

सामाजिक संगठन और आगे बढ़ता गया। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रो के सम्पर्क में आया; कुछ राष्ट्र यदि मित्रता या स्नेहवश आपस में मिले, तो अनेक बार एक राष्ट्र की स्वार्थपरता ने उसे दूर दूर तक नजर दौड़ाने और जिस प्रदेश पर उसका वश चले, उसे हथियाने को मजबूर किया। यह काम चुपचाप शान्ति के साथ नहीं हो गया। बुरे भले सभी तरीके काम मे लाये गये। 'साम, दाम, दंड, भेद, किसी भी उपाय को उठा नही रखा गया। लड़ाई झगड़े हुए, खून खच्चर हुआ, महीनो या वर्षों ही नहीं, कहीं कहीं सदियो के हिन्सा-कांड के बाद राष्ट्रों ने अपना स्वार्थ सिद्ध कर पाया। राष्ट्रो ने जो साम्राज्य-निर्माण की तरफ कदम बढ़ाया, उसमें मानव प्रगति की पहली मंजिलो की तरह बल्कि उनसे भी बढ़ कर लड़ाई-झगड़ो की सीढ़ियाँ पार की गयी हैं। फिर भी इन सब लड़ाई झगड़ों में मनुष्य की उन्नति का तत्व छिपा रहा है।

समाज-संगठन में बढ़ते बढ़ते हम साम्राज्य तक आये। पर आज कल के साम्राज्य अपने अधीन देशों का शोषण करते है

और एक दूसरे से ईर्षा करते और लड़ते झगड़ते हैं। उनके आपसी महायुद्ध हमें चेतावनी दे रहे हैं कि इस समय की विश्व-व्यवस्था ठीक नहीं है। इसमे जड़ मूल से परिवर्तन होना चाहिए।

मनुष्य ने साम्राज्य के अलावा एक और भी प्रयोग किया—संघ-राज्य का। कई कई राज्यों का आत्मरक्षा के लिए या आर्थिक या राजनैतिक उन्नति के लिए, मिल कर एक संघ-राज्य बना। संघ ने अपने अन्दर के निवासियो का हित साधन किया, पर इसमे भी वह वर्ण-भेद यानी काले गोरे के रोग से नही बच पाया। अपने क्षेत्र से बाहर के राज्यो से उसका व्यवहार साम्राज्यवादी राष्ट्रों की ही तरह गैरियत या परायेपन का होता है। संघ-राज्य भी दूसरे देशों को अपने अधीन बनाये रखने और उनका शोषण करने का अभिलाषी होता है, जैसा कि हम अमरीका के संयुक्त राज्यों के विषय में पहले लिख चुके हैं।

निदान, साम्राज्य हों या संघ-राज्य हों, इन संगठनों ने संसार को ऐसे अलग अलग टुकड़ो में बांट रखा है. जिनके स्वार्थ एक दूसरे से टकराते हैं। फिर, दुनिया का काफी हिस्सा ऐसा रहता है, जो उनके क्षेत्र से बाहर होता है। और, जब तक कोई भी हिस्सा ऐसा रहेगा, जिसे हम अपना न समझ कर पराया या गैर मानें, या जो अपने आपको अलग रखे, और दूसरों के सुख-दुख से बेपरवाह रहे, तब तक टिकाऊ शान्ति नहीं हो सकती, आगे पीछे युद्ध होना अनिवार्य रहेगा।

यह बात इतनी सीधी और साफ है कि इस पर जोर देने की जरूरत नहीं होनी चाहिए। परन्तु कितने ही बड़े बड़े राजनीतिज्ञ भी संसार की नयी व्यवस्था या विश्व-शान्ति की योजनाएँ बनाते समय, इसे भूल जाते हैं।

सन् १९३९ मे, वर्तमान (दूसरा) महायुद्ध शुरू होने से पहले लन्दन में 'फेडरल यूनियन' नामक की एक संस्था क़ायम की गयी। इस संस्था का उद्देश्य है संसार भर के प्रजातंत्र राज्यो का, संयुक्तराज्य अमरीका के ढंग पर, एक विश्व-संघ कायम करना। इस पर श्री० क्लेरेंस के० स्ट्रेट नाम के अंगरेज़ लेखक ने 'यूनियन नाऊ' नाम की पुस्तक लिखी है। लेखक ने कहा है कि इस तरह का विश्व-संघ कायम करने में कई रुकावटें हैं, जैसे (क) फासिस्ट सरकारें इसका विरोध करेंगी, और (ख) खास कर एशिया और अफ्रीका मे ऐसे वहुत से राज्य हैं, जो अभी वहुत पिछड़े हुए हैं। परन्तु जब तक ये रुकावटें दूर न हो. हमें हाथ पर हाथ धरे न बैठे रहना चाहिए। पहले दुनिया के सब प्रजातंत्र राज्यो को विश्व-संघ मे शामिल हो जाना चाहिए। वाद में दूसरे राज्य भी यदि वे प्रजातंत्र को अपनी शासन-प्रणाली का आधार मान लें तो शामिल हो सकेंगे। लेखक ने इस संघ में शामिल करने के लिए १५ राज्यो के नाम गिनाये हैं—(१) संयुक्तराज्य अमरीका, (२) ब्रिटेन. (३) फ्रांस.* (४) केनेडा. (५) नेदरलैण्ड,* (६) वेलजियम,* (७) आस्ट्रेलिया, (८) स्वीडन, (९) स्विटज़रलैण्ड, (१०) डेनमार्क,* (११) फिनलैण्ड, (१२) आयर्लैंड, (१३) नार्वे,* (१४) दक्षिण अफ्रीका का यूनियन, और (१५) न्यूज़ीलैण्ड।

इस संघ में इटली, जर्मनी और जापान जैसे फासिष्ट राज्यो को जगह नहीं दी गयी। इसमे सोवियट प्रजातंत्र संघ की भी कोई जगह नही है, और एशिया को तो इस 'विश्व-संघ' की योजना से विल्कुल ही वाहर रखने की कोशिश की गयी है।

---

*ये देश इन पंक्तियों के लिखे जाने के समय जर्मनी के अधीन हैं

क्या एशिया के दो बड़े बड़े देश चीन और हिन्दुस्तान प्रजातंत्र-वादी नहीं है ? फिर उन्हें इस योग्य क्यों नहीं समझा गया ? न्यूज़ीलैण्ड जैसे छोटे से उपनिवेश को विश्व-संघ में जगह मिल सकती है, पर हिन्दुस्तान जिसमें ४० करोड़ की आबादी है और जिसकी सांस्कृतिक परम्परा का संसार ऋणी रहा है, उसे बिल्कुल अलग कर दिया गया है। यह उपेक्षा वास्तव मे हास्यास्पद ही नहीं है, यह संसार को शान्ति—स्थायी शान्ति—के स्थान पर स्थायी महा संकट की ओर ले जाने वाली है।* संयुक्तराज्य अमरीका को और ब्रिटेन को इस सूची मे मुख्य स्थान दिया गया है। किन्तु इन्हें असल में प्रजातत्रवादी तभी कहा जा सकता है जब ये अपने अधीन देशों को आज़ाद कर दें, और साम्राज्यवाद का अन्त कर दें। अभी तो ये एशिया और अफ्रीका के बहुत से हिस्सों मे, और जगह जगह अनेक टापुओं में, किसी न किसी रूप मे अपना आधिपत्य जमाये हुए हैं। श्री० स्ट्रेट ने अपनी योजना में पिछड़े हुए देशों को 'विश्व-संघ' में शामिल होने के योग्य ही नहीं माना। ऐसे लेखकों की दृष्टि में 'विश्व' का अर्थ सम्पूर्ण विश्व न होकर बहुत दरजे तक 'गौरांग विश्व' ही होता है।

पर जैसा कि डाक्टर बेनी प्रसाद के, 'योगी' में प्रकाशित, एक लेख मे कहा गया है, "जब तक एशिया, अफ्रीका और दुनिया के दूसरे हिस्सों मे साम्राज्यवादी शोषण और विदेशी शासन कायम रहेंगे तब तक शान्ति कायम नहीं हो सकती। तब तक बहुत ही सतर्कता और दूरन्देशी के साथ तैयार किया हुआ मसविदा भी अकाल कवलित हो जायगा। जब तक इन

---

* श्री० रामनारायण जी यादवेन्दु के एक लेख से।

भू-भागों पर शासन करने वाले लोग अपने शासितो को अपनी विलास-सामग्री जुटाने का साधन मात्र समझते रहेंगे, तब तक शान्ति कायम नहीं हो सकती। किसी दूसरे देश की कमजोरी से लाभ उठाकर उसका शोषण करने और उसके वाशिन्दो को उच्च जीवन व्यतीत करने के योग्य न बनने देने से तो युद्ध की विभीषिका दिनोदिन बढ़ती ही जायगी।"

हमे ध्यान रखना चाहिए कि जब बहुत से छोटे छोटे राज्य होते हैं तो बहुत सी छोटी छोटी लड़ाइयाँ होती हैं। जब बड़े बड़े राष्ट्र-राज्य, साम्राज्य या संघ-राज्य बन जाते हैं तो लड़ाइयाँ कम हो जाती हैं, पर उनका फैलाव और भयंकरता बढ़ जाती है। इतिहास से पता चलता है कि विविध राज्यो का एक दूसरे से लड़ने का मानो नियम ही है। 'राज्य' झगड़ालू रहा है; इस समय भी उसका स्वभाव लड़ने का है, भविष्य मे भी ऐसा ही रहेगा। जब तक बहुत से राज्य हैं, तब तक उनमे युद्ध होंगे। जब तक एक से अधिक राज्य होंगे, चाहे वे दो ही क्यों न हों, युद्ध टल नहीं सकते। जब द्वैत भाव का अन्त हो जायगा, जब 'एकमेव द्वितीयो नास्ति' की स्थिति आ जायगी, तभी युद्धों और महायुद्धो का अन्त होगा। शान्ति चाहती है कि विश्व-बंधुत्व के आधार पर, विश्व में केवल एक राज्य का संगठन हो। ससार में विश्व-राज्य की स्थापना जरूरी है—संहार कार्य को बन्द करने के लिए और सभ्यता की रक्षा के लिए। पहले की बात छोड़ भी दें तो दूसरे महायुद्ध का अनुभव हमारे सामने है। ससार मे जब तक बहुत से अलग अलग राष्ट्र, कुछ संघ-राज्य और कुछ साम्राज्य हैं, तब तक शान्ति नहीं रह सकती। यदि महायुद्ध के फल-स्वरूप एक दो साम्राज्यों का लोप भी हो जाय तो भी काम न चलेगा। जब तक एक से अधिक अलग अलग

राज्यो का अस्तित्व रहेगा, तब तक छोटे राज्यों की स्वाधीनता खतरे में रहेगी; बलवान मौका पाकर निर्बल को धर दबावेगा, या कुछ राज्य मिल कर, अपनी शक्ति बढ़ा कर दूसरों का रहना मुश्किल कर देंगे। इससे भली भांति सिद्ध होता है कि संसार भर के सब राज्यों का एक संघ-राज्य यानी विश्व-राज्य होने की अनिवार्य आवश्यकता है। पृथ्वी पर राजनैतिक संगठन केवल एक ही होना चाहिए। एक राज्य, एक झंडा, एक नीति, एक आदर्श, एक जीवन, यह हमारा लक्ष्य है।

इस लक्ष्य की पूर्ति संधियो या समझौतो से होने वाली नहीं है। जरूरत है कि नैतिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक सब दृष्टिकोणो से काम लिया जाय। नैतिक दृष्टि से आपको और मुझे—हर व्यक्ति को—युद्ध से वैसे ही बचना चाहिए, जैसे हम रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में चोरी या हत्या से बचते हैं। सामूहिक हत्या वैसे ही ग़लत है, जैसी व्यक्तिगत हत्या। सांस्कृतिक दृष्टि से, लोगो को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए, जो विश्व-इतिहास, विश्व-साहित्य और विश्व-भाषा के पढ़ने-पढ़ाने से उनमे विश्वबंधुत्व की भावना पैदा करे। राजनैतिक दृष्टि से विश्व-नागरिकता का प्रचार करके राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद को मिटाना चाहिए। आर्थिक दृष्टि से पूंजीवाद की जगह लोकतंत्रात्मक समाजवाद को दी जानी चाहिए। इन विषयो पर खुलासा विचार अगले अध्यायो मे किया जायगा।

—o—

तेइसवाँ अध्याय

विश्व-संघ के आधार

अब तक प्रायः राज्य का आधार शक्ति मानी गयी है। कुछ लोगों ने यह साफ साफ स्वीकार नहीं किया, तो कुछ ने यह खुल्लम-खुल्ला कहा है। शक्ति-सिद्धान्त के प्रचार का फल मानव जाति चिर काल से देखती और भोगती आ रही है। संसार हमेशा युद्धों में फंसा रहा है। हमें अब यह समझ लेना चाहिए कि विश्व-राज्य या विश्व-संघ हिन्सा या बल-प्रयोग के कमजोर आधार पर कायम नहीं होगा, उसके आधार मजबूत, व्यापक और सब के भले के सिद्धान्त होंगे। ये सिद्धान्त तीन हैं—(१) स्वतत्रता या आज़ादी, (२) समानता या या बराबरी, और (३) विश्व-बन्धुत्व या भाईचारा।

१— **स्वतत्रता**— सब नागरिकों को अपने विचार प्रकट करने, भाषण देने, सम्मेलन करने, वहस कहने, आज़ादी के साथ पुस्तक समाचारपत्र आदि छापने, आलोचना करने आदि की स्व-तंत्रता होनी चाहिए। मनुष्य इस तरह पैदा नहीं होता कि उसकी ज़बान रस्सी से बधी हो, या उसके हाथों मे जंजीर पड़ी हो। अपनी इच्छानुसार सोचने बोलने और काम करने मे स्वतंत्र न होना—यह मनुष्य से कुछ कम होना है, यह उन पशु पक्षियों से भी नीचे दरजे का होना है, जो अपनी मर्ज़ी के मुताविक जिन्दगी गुजारते हैं। केवल स्वतत्र पुरुष और स्त्री ही सीधे खड़े होकर चल सकते हैं, सच बोल सकते हैं, और मानवता की पूरी

ऊंचाई तक उठ सकते हैं। पूर्ण स्वतंत्रता ही वह भूमि है, जिसमें मनुष्य का व्यक्तित्व बढ़ता और विकसित होता है, और उसमें सौन्दर्य, ज्ञान, नेकी, आनन्द और प्रेम के उत्तमोत्तम फल लगते हैं। केवल स्वतंत्र आदमी ही यह कह सकता है "मैं सोचता हूँ, मैं महसूस करता हूँ, मै इच्छा करता हूँ; इसलिए मैं हूँ।" स्वतंत्रता ही मनुष्य को मशीन से ऊपर उठाती है। (यदि हम सुन सकें तो) विकास करने वाली हर आत्मा अपने जन्म के समय यह कहती है कि 'मैं अधिकार पूर्वक स्वतंत्र हूँ, किसी को मुझे पराधीन करने का अधिकार नहीं है। मैं खुद अपना कानून हूँ, जब कानून नहीं था तब भी मैं रही हूँ। यदि दूसरे मेरी मदद करें तो अच्छी बात है, पर कोई मेरे आगे बढ़ने में, मेरी प्रगति में रुकावट न डाले।"

विश्व-राज्य मानव व्यक्तित्व की पवित्रता का आदर करेगा। किसी पर कोई बन्धन न लगाया जायगा, किसी का मुँह बन्द न किया जायगा; क्योंकि विश्व-राज्य मे किसी के मौरूसी या रूढ़िगत स्वार्थ न होंगे, जिन्हे स्वतंत्र भाषण या लेखन से डर रहता है। स्वतंत्रता का सबसे बढ़कर विकास समानता की उस भूमि मे होता है, जहाँ कोई धनहीन, धनवानों की थैलियों के बोझ से, कुचला नहीं जाता। पुरातनवाद या रूढ़िवाद को आलोचना का डर लगा रहता है। परन्तु विश्व-राज्य प्रगति या उन्नति को अपना मूल सिद्धान्त यानी बुनियादी असूल मानता है। वह यूनान, हिन्दुस्तान या चीन की सी ढली ढलाई रीति नहीं चाहेगा, उसे तो नये प्रयोगों और नयी संस्थाओं मे आनन्द आयेगा। कोई दिन अपने स्वप्न बिना न होगा कोई महीना अपनी नवीनता बिना, और कोई वर्ष अपनी कल्पना के बिना न होगा।

प्रगति परिवर्तन पर निर्भर रहती है, तरक्की तवदीली पर। इसलिए सब नागरिकों को आलोचना और संशोधन की आज़ादी रहनी चाहिए। नया विचार पहले किसी एक व्यक्ति के मन मे, या कुछ व्यक्तियो के मन मे. पैदा होता है। वाद मे वह समाज द्वारा स्वीकार किया जाता है, जो उसका नामकरण और पालन पोषण करता है। यदि स्वतन्त्रता की कमी होगी तो नये विचार पैदा ही न होगे; यदि उनका जन्म भी हुआ तो वे मृतावस्था मे होगे। नये विचारो का जन्म रोकना या उनका गला घोटना मानवता के प्रति एक भयंकर अपराध है। अच्छे विचार की हत्या करना ऐसा ही है, जैसे अच्छे आदमी को मार डालना। नये विचारो की उत्पत्ति मे कोई बाधा खड़ी नही की जानी चाहिए। उनकी तादाद बढ़ने से डरने की ज़रूरत नहीं, उनमे से जो गलत या अयोग्य होगे, वे जीवन-संघर्ष मे खुद ही समाप्त हो जायँगे। जो योग्य होगे, वे बच रहेगे; राज्य उन्हे परिस्थिति के अनुकूल बना लेगा, और उनका विकास करेगा।

अब तक जनता पर कानूनो का कितना अधिक दवाव और वोझ रहा है! क़ानून और स्वतंत्रता एक दूसरे के ऐसे ही विरोधी हैं, जैसे दिन और रात। पिछले ज़माने मे पोशाक, खेल-कूद. धर्म और भोजन तक के वारे मे राजनियमों का बन्धन रहा है; इंगलैण्ड मे तेरहवी, चौदहवीं, और पंद्रहवी सदी मे पोशाक के वारे मे पार्लिमेंट के कानून जारी थे। अब भी कितनी ही बातें ऐसी हैं जो एक देश में रिवाज मानी जाती हैं, और दूसरे मे अपराध समझी जाती हैं। कितने ही राज्यो मे वेश्या का पेशा कानून से वन्द और दंडनीय है. तो कुछ राज्य ऐसे भी हैं जहाँ इसकी खुली इजाज़त है। कुछ राज्यों में तमाखू पीना मना है.

तो दूसरे राज्यों में सरकार को तमाखू बेचने का एकाधिकार है। इंगलैण्ड में हजरत ईसा की निन्दा करना अपराध माना जाता है, पर रूस मे ऐसा नहीं है। वहाँ मार्क्स या लेनिन को बुरा भला कहना निन्दनीय है। हिन्दुस्तान में नंगे साधु जलूस बना कर चल सकते हैं, अमरीका में ऐसा करना दंडनीय है। व्यावहारिक नियम यही मालूम होता है कि राष्ट्र उस बात या रिवाज को रोकते और उसके लिए दंड देते हैं, जो उस युग में व्यक्ति या समाज के लिए हानिकर समझा जाता है। लेकिन इसमें सिद्धान्त की कोई बात नहीं है। हर दल, सम्प्रदाय या धर्म अपनी रीति रस्मों या अपने व्यवहार को ही पवित्र और मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी समझता है। हर सत्ता दूसरों से अपनी बात मनवाने के लिए पुलिस, जेल और फांसी की मदद लेती हैं। स्वतंत्रता, कानून की इस तरह की, निर्दयता और सनक से घृणा करती है। पुरुष और स्त्री को पूरी तरह आज़ाद होना चाहिए। विश्व-राज्य में इसका यथेष्ट ख्याल रखा जायगा।

विश्व-राज्य मे उचित शिक्षा और अच्छी संस्थाओ के प्रताप से सब नागरिक नेक और ज्ञानवान होंगे। वे स्वयं अपने स्वभाव से ही नेक काम करेंगे। उनके पालन पोषण और दिनचर्या में ही उन्हे इस बात की शिक्षा मिल जायगी कि वे मन, वचन और काम से सब का हित साधन करें, और यह समझें कि सब के हित में ही उनका हित है। उन्हे कानून की ज़रूरत न होगी; पूर्ण स्वतंत्रता के कारण ही वे समाज-विरोधी काम करने से बचे रहेंगे। डर से किया हुआ नेक काम, स्वतंत्रता पूर्वक किये हुए बुरे काम से भी, किसी अंश में बुरा है, क्योंकि स्वतंत्र मनुष्य किसी न किसी दिन नेक काम करना सीख लेगा, परन्तु गुलाम कभी नहीं सीख सकता। ज़बरदस्ती स्वतंत्रता को नष्ट कर देती

है, और जब स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है तो सत्कार्य या नेकी भी मर जाती है।

स्वतंत्रता की सीमाओ पर वहस करना वेकार है। लोगो को अच्छे स्कूल और अच्छी आर्थिक और राजनैतिक संस्थाएँ दीजिए, नागरिको को योग्य वनाइए, सहकारिता कायम कीजिए, प्रतिद्वन्द्विता और दमन को छोड़ दीजिए, तव अपरिमित स्वतंत्रता के व्यवहार से भी कुछ डर न होगा; वह हर नागरिक का जन्मसिद्ध अधिकार है। जिस दासता मे आदमी इस समय अनेक कानूनों द्वारा वंधा हुआ और कुचला हुआ है, उससे मुक्ति पाने का यही एकमात्र उपाय है। अगर मैं दूसरो के दुख सुख को समझ सकूं, दूसरो के दुख को अपना दुख, और दूसरो के सुख को अपना सुख मान सकूं, अगर मेरे मन मे उन कामो के ही करने की इच्छा हो जो मेरे भाई, वंधु, पड़ोसी या साथी मुझ से कराना चाहते हो तो मेरी स्वतत्रता मे कोई वाधक होना क्यो चाहेगा?

२–समानता—आजकल दुनिया मे विपमता का भयङ्कर दौर दौरा है। रग या जाति-भेद के वारे मे पहले लिखा जा चुका है। खास वात यह है कि यूरोप की गोरी जातियों के आदमी रंगदार आदमियो से अपने आप को ऊँचा मानते हैं, और यूरोप मे भी जर्मन अपने आप को सवसे ऊँचा समझते है। डाक्टर ले ने ३१ जनवरी १९४० के 'एगरिफ' मे लिखा था कि ऊँची जाति की निस्वत नीची जाति वालो को कम जगह, कम कपड़ा, कम भोजन और कम संस्कृति की जरूरत होती है; कोई जर्मन उन हालतो मे गुजर नही कर सकता, जिन में एक पोल या यहूदी कर सकता है। यह भावना आजकल की सभ्यता के लिए वड़ा कलंक है।

समानता छः तरह की होती है—शारीरिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक। इन छओं तरह की समानता के विना विश्व-राज्य फले फूलेगा नहीं।

(क) शारीरिक समानता। हमारा आदर्श मानव जाति की ऐसी शारीरिक उन्नति करना है कि लोगों की शक्ति, तन्दुरुस्ती और सौंदर्य में लगभग समानता हो। अंधे, गूंगे, वहरे और अपाहज आम तौर पर अन्याय के शिकार बन जाते हैं। शारीरिक शक्ति में वहुत अधिक असमानता से गुडो और कायरों का जन्म होता है। यदि थोड़े से ही नागरिक सुन्दर हो तो उनमें अहंकार और चंचलता आ जाती है, और बहुत बदसूरत आदमी जीवन भर अपने अन्दर हीनता का अनुभव करते रहते है। विश्व-राज्य के नागरिक कमज़ोर या वदसूरत नही होने चाहिएँ।

(ख) आर्थिक समानता। इस पर विचार धन के बँटवारे के सम्बन्ध में किया जायगा।

(ग) सांस्कृतिक समानता। शिक्षा की समानता को राज्य की बीमा-पालिसी कह सकते है। शिक्षा ही नागरिको को राज्य के योग्य वनाती है। शिक्षा ही से एकता और सामञ्जस्य पैदा होते हैं। शिक्षा चरित्र का निर्माण करती है, और जीवन के आदर्शों को दिल में बैठा देती है। पानी और रोटी की तरह शिक्षा सब के लिए खुली होनी चाहिए। इस समय थोड़े से धनी परिवारो ने उच्च शिक्षा पर एकाधिकार जमा रखा है, जबकि लाखो निर्धन नागरिको को थोड़ी वहुत जो भी शिक्षा मिल जाय, उसी से सतोष करना पड़ता है। समाज दो सांस्कृतिक श्रेणियों मे बँटा हुआ है :—(१) कालिजो मे शिक्षा पाये हुए थोड़े से भाग्यशाली पुरुष, स्त्रियाँ और (२) प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त या उससे भी वंचित असंख्य नागरिक। इस विषमता का

नतीजा यह है कि कुछ इने गिने लोग तो कई विषयों के 'डाक्टर' हो जाते हैं, और अधिकांश जनता के लिये 'काले अक्षर भैंस बराबर'। ऐसे दो वर्गों मे उचित सामाजिक सम्बन्ध होना असम्भव है। शिक्षित आदमी साहित्य, संगीत कला आदि की चर्चा मे लीन रहता है, वह इन विषयो के ज्ञान से हीन अपने असख्य भाइयो को भर्तृहरि के शब्दो मे 'विना सींग और पूँछ के पशु' समझता है। समाज के ऐसे विद्वानो और मूढ पुरुषो में मेल कैसे हो सकता है! हमें सब नागरिको के लिये एक लगभग समान कोटि की शिक्षा तय कर लेनी चाहिए। मौलिक खोज या अनुसंधान का काम खास लगन वाले विद्वान करें। समाज अलग अलग टुकड़ों मे—शिक्षित और अशिक्षितो मे—बँटा न रहना चाहिए। विश्व-राज्य मे यह नहीं चल सकता।

एक और तरह की भी समानता जरूरी है। नागरिकों को ऐसा अभ्यास कराया जाना चाहिए कि सब लोग शारीरिक और मानसिक दोनो तरह के काम करें। इस समय समाज का एक बँटवारा दिमागी काम करने वालो और मजदूरो मे हो रहा है। पढ़े लिखो मे बहुत से ऐसे मिलेंगे, जिनसे अपने कपड़े धोते या अपने कमरे मे झाड़ू लगाते नही बनता। जब उनका कोई मित्र या अतिथि आता है तो उन्हें यह कहने मे संकोच नहीं होता, "क्या करें, आजकल हमारे यहां कोई 'आदमी' (नौकर) नहीं है, इसी से कपड़े मैले पड़े है, और कमरे में भी सफाई नहीं है।" इस कथन से उनकी यह भावना साफ है कि हम तो दिमागी काम करने वाले ठहरे, जरूरत होने पर भी हम यह नीचे दरजे का काम नहीं कर सकते, यह तो वेपढ़ों और छोटे लोगों के करने का है। मानव जाति का यह भेद भाव बहुत लज्जाजनक है। यदि हम अब तक दिमागी काम करने वाले रहे हैं तो

अब हमें कुछ हाथ के काम का अभ्यास करके इस भेदभाव को मिटाने मे असली हिस्सा लेना चाहिए। टाल्स्टाय, म० गांधी और थोरो जैसो के जीवन इस बारे मे काफी शिक्षाप्रद हैं। यदि हम श्रमजीवी है तो हमे अपना फुरसत का समय लिखना पढ़ना सीखने में लगाना चाहिए। हम यह न सोचें कि हमारी बहुत सी उम्र बीत गयी है, अब हम क्या सीख सकते हैं। मजबूत इरादे वालों के लिए आयु का विचार रुकावट नही डाल सकता। निदान समाज का, ऊपर बतायी हुई दो श्रेणियो मे बँटना बन्द होना चाहिए।

(घ) सब नागरिकों को बराबर मताधिकार होना चाहिए। विश्व-राज्य मे शिक्षा का ठीक प्रचार होने, और धन के बँटवारे की असमानता न रहने से योग्य-अयोग्य का इस समय भेद भाव न रहेगा। साधारण कामो के लिए तो सभी योग्य होगे। राज्य का ऊँचे से ऊँचा पद भी किसी श्रेणी विशेष की बपौती न रहेगा। सब के समान अधिकार और सब को समान सुविधाएँ होगी।

(च) सामाजिक समानता। विश्व-राज्य मे सब नागरिक होगे—मालिक और गुलाम नहीं। स्पृश्यास्पृश्य का, सभ्य असभ्य का, या ऊंच नीच का भेद न होगा; काले गोरे का, एशियाई और यूरोपियन का, हिन्दू. ईसाई आदि का भेद न होगा। खाने पीने या विवाह सम्बन्ध करने मे किसी पर कोई प्रतिबन्ध न होगा; आज दिन दो भले आदमी गहरे मित्र होते हुए भी, अलग अलग जातियो या रंगो के या धर्मों के होने के कारण, साथ बैठ कर खा पी नहीं सकते। अनेक बार युवक का ठीक अपनी पसन्द की युवती से, या युवती का अभीष्ठ युवक से विवाह नहीं होने पाता; या तो रोमांचकारी आत्म-हत्या तक

नौवत आती है, और या वे जन्म भर दुखी रहते हैं। ऐसे सामाजिक विकार विश्व-राज्य मे हरगिज नही रह सकते। विश्व-राज्य मे सामाजिक समानता होगी। कोई छोटा वड़ा नही। सव समान साथी होगे। उसमे लार्ड, नवाव, राजा, रायवहादुर, खां वहादुर अथवा वर्णमाला के अक्षरो के विविध जोड़ तोड़ की वनी हुई उपाधियाँ नही होगी। ये उपाधियाँ समाज को टुकड़े टुकड़े करने वाली हैं—जैसे ऊँची उपाधि वाले, छोटी उपाधि वाले और विना उपाधि के। उपाधियो का आविष्कार समाज के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ है। विश्व-राज्य मे इसका अन्त होगा।

(छ) नैतिक समानता। नीति और सदाचार के विना राज्य प्राणहीन है। विश्व-राज्य के नागरिको मे ये गुण पूरे-पूरे होने चाहिएँ। हर आदमी को निडर, निस्स्वार्थ, स्वावलम्वी निष्काम, विश्व-प्रेमी और परोपकारी होना चाहिए। नीति की कुछ मर्यादा सभी नागरिको के लिए तय रहनी चाहिए; कुछ व्यक्ति उस मर्यादा से कुछ ऊँचे भले ही उठें, लेकिन इतनी विषमता न होनी चाहिए कि कुछ आदमी तो सन्त महात्मा हो, और दूसरे अत्याचारी, वदमाश या गुंडे। हम सव को लगभग समान धरातल पर चलना ठीक होगा, इसी दृष्टि से नागरिको की शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

३—विश्ववंधुत्व—विश्ववंधुत्व मानव प्रेम की वह भावना है, जिसके विना आदमी में पूर्णता नही आती। विश्व-राज्य मे हमें अपूर्ण या अधूरे आदमी नही चाहिए, उसके नागरिको मे विश्व-प्रेम होना जरूरी है। और, जैसा लाला हरदयाल ने लिखा है, प्रेम हमेशा अधिकार से अधिक देने की ही वात सोचता है। धन के वॅटवारे मे इसका नियम यह है कि हर आदमी अपनी

योग्यता के अनुसार काम करे और उसे उसकी ज़रूरत के अनुसार मिले। बच्चों का पालन पोषण अधिकारों से नहीं होता, प्रेम से होता है। बीमार आदमी धन पैदा नहीं करते और न्याय के कड़े नियम के अनुसार उनका अधिकार कुछ नहीं रहता, परन्तु प्रेम न्याय से अधिक शक्तिशाली है, और वह रोगियो को तन्दुरुस्त आदमियो से भी अधिक देता है।

प्रेम में आदमी अपने विषय मे नही सोचता, सब के बारे में विचार करता है। वह अपनी इन्द्रियो के सुख की परवा नही करता, आत्मा के आनन्द का अनुभव करता है। वह दूसरो के दुख से दुखी, और दूसरो के सुख से सुखी होता है। प्रेम बहुत बातें नहीं बनाता, चुपचाप सब कुछ देखता है, और झटपट अपना सेवा-कार्य कर डालता है। वह मुसकराता रहता है और उसकी बोली हमेशा नम्र होती है। उसमें अहंकार नहीं होता। वह घमंड नहीं करता। वह दूसरे की ज़रूरत को, उस दूसरे से भी पहले जान जाता है। वह इस बात का इन्तज़ार नहीं करता कि दूसरा आदमी कुछ मांगे, वह तो पहले से ही खुद सहायता करने के लिए दौड़ पड़ता है। वह किसी के दोषों का फैसला करने नहीं बैठता, वह तो हर अपराध को क्षमा कर देता है। वह अभिमान नहींकरता, और न देनदारो को क़र्ज़ की याद दिलाता है। वह देता है और भूल जाता है; फिर और देता है और फिर भूल जाता है। वह अपने काम का समान पारिश्रमिक लेता है; पर उसे सब मे बाँट देता है। प्रेम 'मेरे-तेरे' की बात नही करता, 'हमारे' की बात करता है। वह किसी पर दोषारोपण नहीं करता। सेवा के लिए उसे कभी समय की कमी नहीं होती, वह कभी भी बहुत व्यस्त या थका हुआ नहीं होता।

वह दूसरों के गुणो को बहुत जल्दी ध्यान में ले आता है, पर उनके दोष मालूम करने मे मंदगति से काम लेता है। दूसरो की तारीफ मे उसे आनन्द आता है, वह किसी पर इलज़ाम लगाने का इच्छुक नही होता। वह दूसरो की कही हुई अच्छी वातो को दोहराता है, पर बुरी वातो को सुनी-अनसुनी कर देता है। वह सब को प्रसन्न करता है, और अपनी तरफ खेंचता है। वह सबको यह अनुभव कराता है कि पुरुष स्त्रियाँ अनेक नहीं है, वल्कि सब एक है—वह 'एक' रहेगा, जवकि 'अनेक' वदल जायँगे या चले जायँगे। वह एक मानवता है, विश्व-राज्य या विश्व-सघ है, जिसमे सब रहेगे, और चलें फिरेंगे। प्रेम धन्य है! आज दिन वह सब को सुख शान्ति देने वाला है, कल वह विश्व-संघ की आधार शिला होगा, जिसके नागरिको के जीवन का मूल मत्र यह होगा कि 'हर आदमी सब के लिए, और सब हरेक के लिए।'

—o—

चौबीसवाँ अध्याय

विश्व-संघ की संस्कृति

अगर तुमने हवाई महल बनाये हैं, तो इससे तुम्हारा कार्य नष्ट नहीं होगा। महल तो हवा ही में बनाये जाने चाहिएँ, बस, अब उनके नीचे नींव रख दो। —थोरो

विश्व-राज्य के बारे मे हमारा आदर्श बहुत कुछ जनता की संस्कृति—शिक्षा, साहित्य, कला, मनोरंजन, रहन सहन आदि—पर निर्भर है। इस अध्याय मे इन्हीं वातो पर विचार करना है। इनमे पहला विषय शिक्षा है।

शिक्षा—इस बात को सब मानते हैं कि समस्त नागरिकों को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए, जिससे उनकी नैसर्गिक शक्तियो और उनकी अभिरुचियो के स्वतंत्र विकास में सहायता मिले, और वे अपनी इच्छानुसार अपने लिए काम धंधे का चुनाव करके अपना निर्वाह और कर्तव्य-पालन अच्छी तरह कर सकें; इसमे उन्हे किसी तरह की रुकावट न हो। विश्व-राज्य में इसका पूरा पूरा ध्यान रखा जाना जरूरी है। 'शिक्षा' में हम घर की और बाहर की (स्कूलों आदि मे मिलने वाली) दोनो तरह की शिक्षा को शामिल करते हैं। इस समय हालत यह है कि घरो के अन्दर माता पिता आदि बच्चों को बहुत सी गैर जरूरी और दिमाग पर व्यर्थ बोझ डालने वाली बातें बतलाते हैं, वे उन्हे धर्म सम्प्रदाय, वंश और जाति बिरादरी सम्बन्धी अधिक से अधिक जानकारी कराने की कोशिश करते हैं; पर वे उन्हें वह बात नहीं बतलाते जो सबसे ज्यादह महत्त्व की है—यह कि हर मनुष्य, मनुष्य होने के नाते दूसरे मनुष्यो से सम्बन्ध रखता है; सब मनुष्य आपस में भाई भाई हैं; राष्ट्र-भेद, सम्प्रदाय-भेद सब बनावटी हैं; हर आदमी को दूसरो से प्रेम, सहानुभूति और सहयोग का भाव रखना चाहिए। माता पिता का काम है कि बालको को विश्वबंधुत्व की यह बुनियादी तालीम दें।

इस शिक्षा के काम को आगे बढ़ाने की जिम्मेवारी शिक्षा-संस्थाओ पर है। आजकल जहाँ तहाँ कुछ बड़ी बड़ी संस्थाएँ क़ायम है, पर अधिकांश संसार अज्ञान-अंधकार में डूबा है। बहुत से देशो में ज्यादहतर जनता मामूली लिखने पढ़ने से भी वंचित है। भारतवर्ष में नब्बे फीसदी आदमी अनपढ़ हैं, इसका अर्थ यह है कि अकेले इसी देश में तीस करोड़ से ऊपर पुरुष स्त्री अनपढ़ हैं। फिर, शिक्षा के तरीके की बात लीजिए। हर

राज्य शिक्षा-विशारदो और बड़े बड़े विशेषज्ञो द्वारा शिक्षा की नयी नयी योजनाएँ और नये नये पाठ्यक्रम बनवाता है। भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र और राजनीति के अलावा कई तरह के विज्ञानो की शिक्षा दी जाती है। परन्तु नागरिकता, विश्व-नागरिकता अर्थात् मनुष्य मात्र के प्रति कर्तव्य-पालन की शिक्षा का सब जगह अभाव है। नागरिकता के नाम पर जो शिक्षा दी जाती है वह भी राष्ट्र-नागरिकता की भावना का ही पोषण करने वाली होती है, जिससे बालको को दूसरे राष्ट्रों के बालकों से प्रतिद्वन्द्विता और प्रतियोगिता अनुभव करने की उत्तेजना मिलती है। हम अपने स्कूलो और कालिजो से यह पाठ पढ़कर निकलते हैं कि जीवन एक संघर्ष है, दूसरों को धक्का देकर, उन्हे गिरा कर हमे अपना रास्ता बनाना है। संसार मे दूसरे सब राष्ट्रो से हमें टक्कर लेने के लिए तैयार रहना चाहिए, इसीलिये हमे अपने राज्य या राष्ट्र के प्रति श्रद्धा और भक्ति रखनी जरूरी है। यह शिक्षा हमें एक सीमा के अन्दर राजभक्त या राष्ट्र-भक्त बनाती है, इसकी जड़ स्वार्थपरता है। यह हमें मानवता-प्रेमी नही बनने देती। यही कारण है कि हमारे बड़े से बड़े राजनीतिज्ञ और विद्वान भी जाति, सम्प्रदाय या राष्ट्र की तङ्ग भावनाओ से ऊपर नहीं उठ पाते; हम विश्व-नागरिक नही बन पाते। विश्व-राज्य के योग्य नागरिक बनने के लिए यह जरूरी है कि हमे स्कूलो और कालिजो मे विश्वबंधुत्व की शिक्षा दी जाय। ऐसी शिक्षा एक पीढ़ी के अन्दर मानव जाति का कायाकल्प कर देगी।

याद रहे, जो नियम और नीति विश्व-राज्य कायम करेंगी और उसे बनाये रखेंगी, वे सार्वभौम, वैज्ञानिक और आशा-वादी होगी। विश्व-राज्य अपने बालकों को साम्प्रदायिकता-

की, या निराशावाद की, शिक्षा न देगा। वह अन्धविशास, अकर्मण्यता, पराजयवाद या संसार-त्याग से समझौता न करेगा। वह नागरिकों को वैज्ञानिक पद्धति से अच्छी से अच्छी शिक्षा देगा; और फिर उन्हे विचार करने और काम करने के लिए पूरी आज़ादी देगा। उचित शिक्षा पाये हुए नागरिक अपने अपने कर्तव्य का पालन करने मे लगे रहेंगे और सब अंधविश्वासो से बचे रहकर विश्व-राज्य की उच्च नागरिकता का सुन्दर परिचय देंगे।

भाषा और साहित्य - शिक्षा के साथ भाषा का गहरा सम्बन्ध है। शिक्षा का माध्यम वही भाषा होनी चाहिए जो नागरिकों की मातृभाषा हो; हाँ, मातृभाषा का अर्थ व्यापक दृष्टिकोण से लिया जाना चाहिए। बहुत छोटे छोटे जन-समूहो की बोलियो और उपभाषाओ को शिक्षा का माध्यम नहीं बनाना चाहिए। शिक्षा के काम मे हमारी निगाह भावी निर्माण की ओर हो, और ऊँचे साहित्य वाली खास खास भाषाओ को ही प्रोत्साहन दिया जाय। इस विषय पर पहले लिखा जा चुका है।

अब दूसरे देशों से हमारा सम्बन्ध तेज़ी के साथ बढ़ता जा रहा है। हमे चाहिए कि दूसरे देशो की भाषाएँ सीखें, और उनका अपने यहाँ अधिक से अधिक प्रचार करें। भाषा सीखने मे यात्रा से बहुत मदद मिलती है। किसी जगह चले जाने पर हम वहाँ की भाषा बहुत जल्दी और बिना जोर लगाये सीख लेते है। बालको को नयी भाषा और भी आसानी से आजाती है। यह बात आगे की मिसाल से स्पष्ट होजायगी। यह समाचार १७ मार्च १९४४ के 'भारत' से लिया गया है; इस तरह यह इसी महायुद्ध के समय की बात है, जब कि इंगलैन्ड मे बहुत से राष्ट्रो की सरकारें और वहाँ के आदमी जमा हैं।

"लन्दन के एक शिशु-पालन गृह में १४ अलग अलग राष्ट्रो के बालक आनन्द से समय बिता रहे हैं। पढ़ने और खेल-कूद के अलावा वे सहज ही दूसरे देशो की भाषाएँ और रीति-रिवाज सीख रहे हैं। एक पाँच वर्ष के डच बालक ने अपनी भाषा के अलावा फ्राँसीसी, अंगरेजी, और नारवेजियन भाषाओ का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लिया है। एक छ: वर्ष की पोलिश बालिका पोलिश और जर्मन तो पहले ही बोलती थी, अब उसने अंगरेजी और फ्रांसीसी भाषा का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

"दूसरे देशो की अपेक्षा अंगरेज बालक विदेशी भाषा देर में सीखते हैं, किन्तु उनमे से भी बहुत से अपने माता पिता से कोई बात दूसरी भाषा में करके उन्हे आश्चर्य मे डाल देते हैं। एक बार एक छ: वर्ष के बालक की मा ने अपनी कुछ फ्रांसीसी सखियो को जल-पान के लिए बुलाया। बालक ने विशुद्ध फ्रेंच भाषा मे बात करके सब को आश्चर्य में डाल दिया—विशेष कर अपनी माता को जो ६ वर्ष तक स्कूल मे फ्रेंच पढ़ चुकने के बाद भी टूटी फूटी फ्रेंच ही बोल सकती थी।

एक अंगरेज माता ने अपनी यह परेशानी बतायी है कि उस के जुड़वा बच्चे जब उससे या अपने पिता से कोई बात छिपाना चाहते हैं तो फ्रेंच भाषा में बातें करने लगते हैं।"

इस से जाहिर है कि एक साथ कई भाषाएँ सीखने का सवाल ऐसा विकट नहीं है, जैसा आम तौर से समझा जाता है। दूसरी भाषाओ का कामचलाऊ ज्ञान तो खासकर बचपन मे सहज ही हो सकता है।

विश्व-राज्य में यह तो मान ही लिया जाता है कि संसार धीरे धीरे छोटा होता जारहा है। जिस तरह इस समय हमें राष्ट्र

का काम चलाने के लिए और राष्ट्रीय भावनाओ का प्रचार करने के लिए एक एक राष्ट्र-भाषा की जरूरत होती है, उसी तरह विश्व-राज्य का आधार एक विश्व-भाषा होगी। अब तक राष्ट्र-भाषाओ ने पुरुषो और स्त्रियो के मन और आत्मा को एक संकुचित क्षेत्र में बन्द कर रखा है; विश्व-भाषा का प्रचार होने पर, उस एक भाषा के सीख लेने से, एक देश के नागरिक दूसरे किसी भी देश के नागरिको से मित्र और साथी के समान बात-चीत और व्यवहार कर सकेंगे। जब तक विश्व-सभाओ मे भाग लेने वाले नेताओं और कार्यकर्ताओं में समान भाषा का व्यवहार न होगा तब तक वास्तविक भाईचारा और राजनैतिक एकता की भावना न हो सकेगी।

कौन सी भाषा विश्व-भाषा हो, इस पर बहस करने की जरूरत नहीं है। ससार की भाषाओ मे जो भाषा अन्तर्राष्ट्रीय विचार-विनिमय के लिए सुविधा की हो, जिसे सब देशो के आदमी आसानी से बोल सकें, जिसके उच्चारण में जबान को बहुत कष्ट न उठाना पड़े, जिसे आसानी से सीखा जा सके, उसी से काम चलाया जायगा। खास बात यह है कि हम विश्व-भाषा की बात को अव्यावहारिक या अमल में न आसकने वाली न समझें। यदि यूरोप भर का अन्तर्राष्ट्रीय काम फ्रांसीसी भाषा मे हो सकता है, यदि अंगरेजी समझने वाले थोड़े बहुत आदमी संसार के सभी देशों में मिल सकते हैं. और यदि हम चालीस करोड़ हिन्दुस्तानियो के लिए एक राष्ट्र-भाषा की बात को न केवल मान ही रहे हैं, बल्कि बहुत कुछ पूरी होते हुए भी देख रहे हैं तो मानव जाति के लिए यह आशा करना बहुत ज्यादह नहीं है कि सवा दो सौ करोड़ आदमियो के वास्ते कोई एक विश्व-भाषा हो सकती है। जिस तरह राष्ट्र-भाषा के साथ दूसरी

प्रान्तीय भाषाएँ भली भांति बनी रह सकती हैं, और फलती-फूलती रह सकती है, उसी तरह एक विश्व-भाषा के होने से अलग अलग देशो की अपनी अपनी भाषाओ को कोई डर नही है।

अगरेजी भाषा के इतने ज्यादह प्रचार का एक कारण यह भी है कि यह उन राज्यो की भाषा है जिन्हे ससार में राजनैतिक और आर्थिक प्रभुता हासिल है। उसकी तुलना मे हिन्दी या हिन्दुस्तानी भाषा का, एक पराधीन और पिछड़े हुए देश की भाषा होते हुए भी इतना प्रचार हो जाना वास्तव में बड़ी बात है। यह भाषा केवल हिन्दू और मुसलमानो के भावो के जाहिर करने का ही साधन नही है, इसमे बौद्ध, पारसी, सिक्ख, ईसाई और यहूदी भी अपनी धार्मिक और सांस्कृतिक भावनाओ को जाहिर कर सकते है। यह सच है कि अभी इस जबान मे सायन्स और उद्योग धंधो जैसे विषयो के साहित्य की कमी है। लेकिन हिन्दुस्तान के आजाद हो जाने पर वीस पच्चीस वर्ष मे ही यह कमी अच्छी तरह पूरी हो सकती है।

विश्व-भाषा के साथ विश्व-साहित्य पर भी विचार करने की जरूरत है। विश्व-सहित्य वही है, जो विश्व भर मे शान्ति कायम करने और उसे बनाये रखने मे मदद दे; जिससे राष्ट्रो-राष्ट्रो के बीच सहयोग बढ़े; जिसके पढ़ने और विचारने से विश्वबंधुत्व की भावना का विकास हो; आदमी जाति-भेद, रंग-भेद, सम्प्रदाय-भेद और राष्ट्र-भेद जैसे भेदो को भूल जायँ; आज कल के पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का अन्त करने के लिए सब कमर कस लें, और हिन्सा और कूटनीति से सब परहेज करने लगें। ऐसा साहित्य हर राज्य मे होना चाहिए और एक राज्य से दूसरे राज्य मे बे रोक टोक आता जाता रहना चाहिए। अभी तो शक्ति

और साधनों की लोभी कौमें ऐसे साहित्य को ही प्रोत्साहन देती हैं, जिससे युद्धवादी मनोवृत्तियों को खुलकर खेलने का मौका मिले, और पढ़ने वाले यह समझें कि दूसरे राज्य हमारे शत्रु हैं, उनसे लड़े बिना हमारी गुजर नहीं; हमें उनको लड़ाई में हराने की ज्यादह से ज्यादह तैयारी करनी चाहिए, महायुद्ध से ही हमारे दुखों का अन्त होगा। इस तरह का सब साहित्य निन्दा और घृणा के योग्य है। इसे बन्द करके सब देशों की भलाई करने वाले साहित्य की रचना और उसका प्रचार बढ़ाया जाना चाहिए। मौजूदा हालत में हम ज्यादहतर अपने ही देश, जाति या धर्म के लेखकों की कृतियों से परिचित हैं, इससे हमारी जानकारी बहुत परिमित रहती है। दुर्भाग्य से हममे से बहुत सों ने ज्ञान को भी अलग अलग हिस्सों मे बाँट कर बीच बीच मे दीवारें खड़ी कर दी हैं। सच यह है कि महापुरुष या महान लेखक किसी देश या जाति के नहीं होते। उनका संदेश संसार भर के लिए होता है। गीता का ज्ञान-भंडार केवल भारतवर्ष के लिये ही नहीं है। बाइबल के उपदेश, उसमें 'पहाड़ी पर की शिक्षा' केवल ईसाइयों के लिए ही नहीं है। कुरान और त्रिपिटक से सब आदमी बहुमूल्य शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

म० गाँधी, रवींद्रनाथ ठाकुर, टाल्स्टाय, राधाकृष्णन, इमर्सन, रसकिन, शेक्सपीयर, कालीदास, शेखसादी, कबीर, मौलाना रूम, गुरुनानक, गोर्की, रोमाँरोलाँ, एच० जी० वेल्स, नार्मन एंजल, बर्नार्ड शा, लुई फिशर, श्रीमति पर्लबक, जैसे लेखक सभी देशों के विचारशील पाठको के दिल पर असर करते है। जब हमे उनकी रचनाएँ पढ़ने को मिलती है तो हम यह भूल जाते है कि वे किसी और देश या जाति के हैं, और हम किसी दूसरे के। सभी

देशों के साहित्य में कुछ-न-कुछ सामग्री ऐसी मौजूद है, जो सार्वभौम उपयोगिता की, सारे संसार के भले की, कही जा सकती है। इस सब सामग्री का सब मुख्य मुख्य भाषाओं मे सुन्दर संकलन किया जाना चाहिए। इस तरह विश्व-साहित्य दिन दिन बढ़ता रहना चाहिए, जिसके पढ़ने और मनन करने से पाठकों को व्यापक दृष्टि से सोचने विचारने की आदत हो, और विश्व-नागरिक बनने में मदद मिले।

विश्व इतिहास —शिक्षा के अलग अलग विषयों मे इतिहास की बात खास तौर से विचार करने की है। आज कल एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र की तरफ जो मनोमालिन्य पाया जाता है, उसकी एक बड़ी वजह इतिहास लिखने और पढ़ाने की दूषित पद्धति है।* हम संसार के अलग अलग हिस्सों या कौमों का इतिहास इस तरह पढ़ते हैं कि उससे हमे मानव एकता का बोध नही होता। हमारे मन पर यह बात जम जाती है कि हमारा ही देश, हमारी जाति या हमारा धर्म सब से अच्छा है, दूसरे देश, जाति और धर्म घटिया हैं। हम अहंकारी बन जाते हैं, और दूसरों से घृणा करने लग जाते हैं; यही बात आगे जा कर हमें दूसरे राष्ट्रों का विरोधी बनाती है। बालकों के मन पर जमे हुए संस्कार जल्दी नहीं हटते। और, जब उनको यही शिक्षा मिली है कि अपने देश की सेवा करो, अपने राष्ट्र की उन्नति

* किसी देश की अलग अलग जातियों या सम्प्रदायों मे जो झगड़े होते हैं, उनका भी मूल कारण आम तौर पर यही होता है। खास कर हिन्दुस्तान में साम्राज्यवादियों और उनके समर्थकों ने इतिहास को ऐसा रूप दिया है कि उससे हिन्दू मुसलमानों में एक दूसरे के प्रति द्वेष-भाव बढ़ता है।

करो चाहे दूसरों की कितनी ही हानि हो, तो वे दूसरे देश वालों के प्रति सहानुभूति और सद्भावना कैसे रख सकते हैं ! 'राष्ट्रीय' इतिहास मानव समाज को सामूहिक रूप से नहीं देखता, वह उसका अलग अलग ऐसे टुकड़ों के रूप में विचार करता है, जिनका एक दूसरे से मेल मिलाप न हो सके। इससे राष्ट्रों में एक दूसरे से कलह और संघर्ष बढ़ता है। जरूरत है कि इतिहास मे राष्ट्रों, सम्प्रदायो या वर्गों की भेद भावना पर जोर न दिया जाय, और इनके आपसी आदान प्रदान और इनकी एकता की ओर अधिक ध्यान दिलाया जाय। वास्तव में इतिहास प्राणि-शास्त्र पर आश्रित मानवता का इतिहास होना चाहिए। ऐसा 'विश्व-इतिहास' ही मानव समाज का कल्याण करने वाला होगा।

एच० जी० वेल्ज ने ठीक कहा है—"यूनानी इतिहास, रोमन इतिहास, यहूदी इतिहास, ईसाइयत का इतिहास, अंगरेजी इतिहास, फ्रेंच इतिहास. मध्ययुगीन इतिहास, जर्मन इतिहास, हमारे द्वीप की कहानी, हमारे साम्राज्य की नवलकथा—और इसी तरह और भी न जाने कितने अलग अलग इतिहासो का ससार में अस्तित्व है—इन सब का अन्त कर देना चाहिए। इसकी जगह मनुष्य के इतिहास को हमें मानव प्राणिशास्त्र के पहलू से सिखाना चाहिए। हमे संसार के दूर दूर के कोनो में फैले हुए छोटे छोटे उपमानव के पारिवारिक समूहो से, जो एक दूसरे से अनभिज्ञ थे, शुरू करना चाहिए। भाषा, भाव प्रकाशन, रेखांकन के विकास को खोजना चाहिए। हम देखते हैं कि किस तरह विचारो के आदान प्रदान ने, और एक दूसरे को समझने की शक्ति ने इन छोटे समूहो को वड़े समूहों का रूप दे दिया। प्राणी-शास्त्र की दृष्टि के हम खानावदोशी, गुफाएँ, आश्रय-स्थल, आदि काल के निवास-स्थान और औजारों के आविष्कार—इन

सब की शिक्षा देते हैं, पर एक बार भी हम अपनी मानव जाति की बात नही कहते। लेन देन का इतिहास, विचार विनिमय का इतिहास, औजारो के आविष्कार का इतिहास और इस सब के साथ मानव मनोवृत्ति के फैलाव का विवेक पूर्ण अध्ययन बहुत आसान है, और किसी भी प्राचीन इतिहास से अधिक सत्य है। यह अध्ययन स्वास्थ्य और जीवन देने वाला भोजन है, परन्तु जाति, और राष्ट्र की कहानी विष से सना त्याज्य आहार है।"

जिस तरह संकीर्ण राष्ट्रीय इतिहास से राष्ट्रवाद की मनोवृत्ति पैदा होती है, उसी तरह विश्व-इतिहास के पढ़ने पढ़ाने से अन्तर्राष्ट्रीय भावना का निर्माण होगा। जैसे विश्व-नागरिको को हमे शिक्षा देनी है, उनके मानसिक भोजन के लिए विश्व-सभ्यता का इतिहास जरूरी है। विश्व-इतिहास सब जातियो और राष्ट्रो मे एकता की भावना पैदा करेगा। जिन महान पुरुषो और महान स्त्रियो ने हमे सभ्यता की बहुमूल्य विरासत दी है, उनकी याद और जयन्तियो से बालकों और बड़ो मे विश्वबंधुत्व की भावना जागेगी।

राष्ट्र-राज्य अपने अपने लुटेरे और अत्याचारी विजेताओं या राष्ट्र-निर्माताओ के कारनामो की याद मनाते हैं, परन्तु विश्व-राज्य के नायक और नायिका सब देशो के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक, कलाकार, संत महात्मा और महापुरुष होंगे। वह राम और कृष्ण, मोहम्मद और ईसा, कबीर वाशिंगटन, लिंकन, गौतमबुद्ध, अशोक और अकबर, गांधी, लेनिन, कार्लमार्क्स और अनेक दूसरे महापुरुषो के जन्म-दिन मनायेगा; वह उन उत्सवों को मनायेगा जो मानव समाज की उन्नति के सूचक हैं, और इसी दृष्टि से नये नये उत्सवो की योजना करेगा। जगह जगह के अलग अलग उत्सवो में भी यही विचार-धारा काम करेगी, आज

कल के कितने ही उत्सव तब मनाने जाने योग्य न रहेंगे, और कितने ही उत्सवो का क्षेत्र अधिक व्यापक हो जायगा।

यात्रा—शिक्षा का एक आवश्यक अंग यात्रा या सफर है। यात्रा से मनुष्य का ज्ञान बहुत बढ़ता है, वह दूसरों के सम्पर्क मे आता है, उनका समझने की कोशिश करता है, उसका विचार-क्षेत्र बढ़ता है, और उसकी सामाजिक भावना का उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। बहुत पुराने ज़माने से आदमी यात्रा के साधनो मे तरक्की करता रहा है। पहले वह पैदल ही चलता था। फिर उसने जानवरों की पीठ पर चढ़कर यात्रा करनी शुरू की; फिर गाड़ी, रथ, इक्का, बग्गी बनायी; साइकिल के रूप मे उसने ऐसी सवारी ईजाद की, जिसमें जानवर की ज़रूरत नहीं होती, और थोड़ी मेहनत से यात्रा हो जाती है। भाप, बिजली, पेट्रोल आदि का उपयोग मालूम हो जाने पर मोटर, रेल और जहाज चलने लगे। अब हवाई जहाजों का युग आ रहा है।

हवाई जहाजो की बनावट में सुधार हो जाने, और छोटे छोटे हवाई जहाज तैयार होने पर उनका दाम घट जायगा और इनका प्रचार बढ़ जायगा। हाल में एक नये ढङ्ग का हवाई जहाज बना है, यह एक घूमने वाले पंख के सहारे ऊपर चढ़ सकता है और नीचे उतर सकता है। इसके लिये हवाई अड्डे की ज़रूरत नहीं है। यह आशा की जाती है कि धीरे धीरे इसमें इतना सुधार हो जायगा कि यह ज़मीन पर भी चल सकेगा और हवा में भी उड़ सकेगा। इस तरह हवाई जहाज से यात्रा बहुत ही आसान हो जायगी।

इस समय संकीर्ण राष्ट्रवाद ने यात्रा के शिक्षा सम्बन्धी महत्व को दबा रखा है। आदमी दूर दूर की यात्रा करके भी व्यापक दृष्टिकोण वाला नहीं बन सकता। उसका दिल और

दिमाग़ बहुत कुछ घर में बैठे हुए व्यक्ति की तरह होता है। ऐसे तङ्ग ख्याल राष्ट्रवादियो को नज़र में रखकर ही शेखसादी ने कहा है—"ईसा मसीह का गधा मक्के की भी यात्रा कर आवे तो लौटने पर वह गधा ही रहता है।" किन्तु जब हम विश्व-भाषा बोल सकते होगे, विश्व-इतिहास और विश्व-साहित्य मे हमारी रुचि होगी, तो विश्व-यात्रा मे हमें कुछ और ही आनन्द आयेगा। सब विषयो पर हम विशाल दृष्टि से विचार करेंगे, हम में विश्वबंधुत्व की भावना बढ़ेगी, और हम विश्व-राज्य के योग्य नागरिक बन सकेंगे।

विश्व समाज - अब हम तनिक इस बात पर भी विचार करें कि विश्व-राज्य में जनता का सामाजिक जीवन कैसा होगा। मानव संगठन में एक अंश तक सामाजिक समरसता, एकसी रुचि होना आवश्यक है। यह जरूरी नही कि भोजन वस्त्र या मनोरंजन की चीजें पूरी तरह एक सी हो, फिर भी रीति रस्म या आचार व्यवहार की बहुत ज्यादह भिन्नता मित्रता मे बाधक होती हैं। विश्व-पार्लिमेंट के सदस्यो को गोष्ठी या मित्र-मण्डली की तरह जीवन व्यतीत करने की आदत होनी चाहिए। आजकल दूर दूर के रहने वालो के आपसी सम्बन्ध बढ़ते जा रहे है। इसका नतीजा यह है कि हमारी भाषा, हमारे साहित्य, हमारे रहन सहन, खान पान, आचार व्यवहार, अर्थ-नीति, शासननीति सभी बातो पर दूसरे देशो का प्रभाव पड़ता है। आज दिन एक देश का नागरिक दूसरे देश के नागरिक से पहले की निस्बत कही ज्यादह निकट हैं।

यह ठीक है कि कुछ स्थानो मे आने जाने के साधनो की ठीक ठीक उन्नति न होने और आमदरफ्त कम होने से लोगों का जीवन एक दूसरे से बहुत भिन्न है; वे न एक दूसरे की भाषा

समझ सकते हैं, और न पोशाक आदि में ही एक दूसरे से मिलते हैं। परन्तु हम भेद भावों की ओर से अपनी नजर हटा कर एकता की खोज करें तो उसकी मिसालों की भी कमी न रहेगी। जैसे, कितने ही भारतवासी अंगरेजी भाषा बोलते है, अंगरेजी साहित्य पढ़ते है, अंगरेजी खेल खेलते हैं, अंगरेजी पोशाक पहनते हैं, अंगरेजी ढंग का खाना खाते हैं, और अंगरेजी ढंग के मकानो मे रहते हैं। यह कुछ अंश में अस्वाभाविक है। इसका कारण यह भी है कि भारतवर्ष में अंगरेजो का राज्य है, और कुछ लोग सब जगह शासको का अनुकरण करने वाले हुआ करते है। पर इसमे भी सन्देह नहीं कि अंगरेजी राज्य न रहने पर भी अंगरेजी जीवन का प्रभाव यहाँ से पूरी तरह लोप नहीं हो जायगा, बल्कि जिस तरह की प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ रही हैं, उन्हे देखते हुए यही अन्दाज होता है कि भविष्य मे अंगरेजो से, और इसी तरह दूसरे यूरोप अमरीका वालों से हमारी भिन्नता कम होती जायगी। बात यह है कि जब हिन्दुस्तान आजाद होगा तो दूसरे देश यहां की बातो पर भी ज्यादह निस्पक्ष होकर विचार कर सकेंगे, उनकी ज्यादह कद्र करेंगे, और उन्हे अपनाने मे इस तरह सकोच न करेंगे, जैसा कि अब भारत की पराधीनता की हालत मे करते है। यही बात दूसरे देशो के बारे मे कही जा सकती है।

आज कल ससार के कई देशो के लोगों की अच्छी बातो का ठीक ठीक आदर और अनुकरण नहीं किया जा रहा है, क्योकि वे पराधीन हैं, और शासक देशो मे मिथ्याभिमान भरा हुआ है। यह अवस्था बहुत समय तक रहने वाली नहीं है, सब देशों को स्वतत्र होना है। जब सब देश स्वाधीन हो जायँगे, तो हम अवश्य ही एक दूसरे के ज्यादह नजदीक होगे। हमारे

आपसी सम्बन्ध वढ़ेंगे और वे तरह तरह के होगे।

कुछ अश में तो हमारे आपसी सम्बन्ध इस समय भी वढ़ते जा रहे है। लेकिन विश्व-राज्य के ख्याल से इस दिशा मे काफी प्रगति नही हो रही है। हम साधारण नागरिकों की हालत पर विचार करें तो अभी वहुत कमी है। यूरोप और एशिया के, या अमरीका और अफ्रीक़ा के, गोरे और काले आदमियो मे से जन साधारण की एक गोष्टी वनाना वहुत कठिन है। हिन्दुओ की छुआछूत, अधिकांश एशिया की स्त्रियां की एकान्तता और परदा, और यूरोप वालो की मद्य मांस की जरूरत से ज्यादह रुचि सामाजिक समरसता मे कम या ज्यादह वाधाएँ हैं। इन्हे धीरे धीरे दूर करने या कम करने की कोशिश होनी चाहिए। पोशाक की एकता का लक्ष्य रखने की ज़रूरत नही है, और कुछ परिवर्तन खुद ही हो रहा है। विश्व-राज्य सव आदमियो पर एक ही ढग का पहनावा नही लादेगा, विभिन्नता मे भी सौन्दर्य है।

मनोरंजन की वात यह है कि कुछ खेल—फुटवाल, क्रिकेट, शतरंज और ताश जैसे—व्यापक हो गये है। इनके अन्तर्राष्ट्रीय टूरनामेट या दंगल होते हैं। संगीत पद्धति मे अभी वहुत भेद है। यूरोप वालो को पूरव का सगीत कम पसन्द आता है, और पूर्वी देशो के आदमी पच्छिम के संगीत की सराहना नही करते। सगीत शिक्षा की भी व्यापक पद्धति या पद्धतियो का प्रचार होना चाहिए, जिससे विश्व-नागरिक सव देशो के अच्छे सगीत का आनन्द ले सकें। ऐसी वातो से सामाजिक एकता वढ़ेगी, और इसी तरह विश्व-संघ की वुनियादें मज़वूत होंगी।

पच्चीसवाँ अध्याय

विश्व-धर्म

नया धर्म दुनिया के सब महात्माओं का धर्म होगा। उसमें सदाचार और बलिदान को पहला स्थान दिया जायगा। वह सब देशों के प्रेमियों और वीरों की पूजा सिखाएगा। —*अज्ञात*

'साम्प्रदायिकता' शीर्षक अध्याय में बताया जा चुका है कि अधिकाँश प्रचलित धर्मों ने परस्पर विरोधी सम्प्रदायों का रूप धारण कर रखा है। ये धर्म एक दूसरे के प्रति उग्र हो गये हैं। विश्व-राज्य में यह बात नहीं चल सकती कि उसके नागरिक आपस में घृणा का व्यवहार करें, और एक दूसरे को मलेच्छ, नास्तिक, काफिर आदि कहे। उस राज्य में तो मानव एकता का आदर्श होगा।

मौजूदा हालत को सुधारने के लिए दो तरह के उपाय काम में लाए गए हैं और लाए जा रहे हैं—(१) सब धर्मों का अन्त कर देना, लोगों के दिल से धर्म सम्बन्धी भावना को ही मिटा देना। और (२) सब धर्मों का समन्वय करना, उनके समान गुणों और बुनियादी असूलो की ओर लोगो का ध्यान दिलाना, इन बुनियादी असूलो को मुख्य और ऊपरी कर्मकाँड को गौण मानना; इस तरह धार्मिक मतभेदों को दूर करना और विविध धर्मो के मानने वालो में क़ेवल सहिष्णुता ही नही, समभाव बढ़ाना।

क्या धर्म का अन्त किया जा सकता है? प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर भगवान दास जी ने लिखा है कि यह ऐसा ही है, जैसा रोग का इलाज करने के लिए शरीर को ही खत्म कर देना। जब तक मनुष्य को कष्ट और मृत्यु का सामना करना है और और वह आगे पीछे दोनों ओर देखाता है, तब तक मानव हृदय और मस्तिष्क को उस धैर्य और सान्त्वना की आवश्यकता रहेगी, जो केवल धर्म ही दे सकता है। यदि बुद्धिमान लोग आम लोगो को सच्चा और वैज्ञानिक धर्म न देंगे तो वे नासमझ और स्वार्थी पंडे पुरोहितो के हाथो मे रूढ़ियो और अन्धविश्वासों में ही फँसे रहेंगे। धर्म की आवश्यकता से रहित केवल वे ही हो सकते हैं, जो सोच विचार नही कर सकते। उन महात्माओं को भी किसी अलग धर्म की चाह नहीं रहती, जिन्होंने गहरा चिन्तन किया है, और अपनी असीम आत्मा में ही जीवन के रहस्य का पता लगा लिया है। उन्हें धर्म का तत्व मिल चुका है। मानव विकास की आजकल की अवस्था मे ऐसे पहुँचे हुए लोग कम हैं; ज्यादहतर जन समुदाय को धर्म के किसी वाहरी रूप की भी अवश्यकता रहती है। यही कारण है कि ससार मे धर्म जीवित है। वह एक रूप मे मिटता है, तो दूसरे रूप मे उसका प्रादुर्भाव हो जाता है। रूस के प्रयोग की ओर ही देखें। वहाँ क्या हुआ? जहाँ तक समाचार मिले हैं, अधिकारियो ने देश भर से धर्म को हटा देने की कोशिश की थी, पर अन्त मे जनता का प्रबल विरोध देखकर उन्हे उस मामले को छोड़ देना पड़ा। जो हो, रूस मे लोगो का अपना धर्म है, गिरजे भी है और मसजिदें भी। केवल कही कही हजरत ईसा और मरियम की जगह लेनिन और स्टेलिन आराध्य देव है।

इसलिए धर्मो का अन्त करने की बात छोड़ कर हम धर्म-

समन्वय की ओर ध्यान दें। इस उद्देश्य को सामने रख कर समय समय पर अनेक कान्फ्रेन्स, सभा, सम्मेलन आदि हुए हैं। सन् १८७५ में न्ययार्क (अमरीका) में थियोसीफिकल सोसायटी कायम हुई। उसके तीन उद्देश्य थे—(क) जाति, सम्प्रदाय, रंग आदि के भेद का विचार न कर विश्वबंधुत्व के भाव को फैलाना, (२) धर्मों, दर्शनों और विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहन देना, और मनुष्य की छिपी हुई शक्तियो का पता लगाना। थियोसोफिकल सोसाइटी का प्रधान कार्यालय इस समय अडयार (मद्रास) में है, और पचास से ऊपर देशों में सोसाइटी की शाखाएँ हैं।

सन् १८९३ से अब तक कई देशो के खास खास नगरों में विविध धर्मों की पार्लियामैंटें हो चुकी हैं। सब से पहली पार्लिमैंट उस वर्ष शिकागो (अमरीका) में हुई थी। सन् १९३३ से सब धर्मों का एक विश्व-संघ ('वर्ड फेलोशिप आफ फेथ्स') शिकागो में काम करने लगा है। इसमें सब धर्मों, जातियों, और देशों के आदमियों ने हिस्सा लिया। इस संघ का उद्देश्य युद्ध, अन्याय, द्वेष, बेकारी, संकीर्ण राष्ट्रीयता और अज्ञान आदि आधुनिक समस्याओं का आध्यात्मिक हल खोज निकालना है। भारतवर्ष में खासकर हिन्दू और मुसलमानों के मेल को लक्ष्य में रख कर कई एकता-सम्मेलन हुए हैं। गुरुकुल जैसी कुछ संस्थाएँ अपने सालाना जलसों में सर्व-धर्म-सम्मेलन करती हैं, जिनमें विविध धर्मों के प्रतिनिधि अपने अपने धर्म के सम्बन्ध के निबन्ध पढ़ते हैं, या व्याख्यान देते हैं।

धर्म-समन्वय की दृष्टि से समय समय पर कुछ पुस्तकें भी लिखी गयी हैं, जिनमें डाक्टर भगवानदास की 'दि असेन्श्यल यूनिटी आफ आल रिलीजन्स' और स्वामी कृष्णानन्द

जी की 'ह्यूमेनिज्म' या 'दि ह्यूमन रिलीजन' खास हैं।

धार्मिक मत भेदों को दूर करने के लिए समय समय पर अनेक प्रयत्न किये गये हैं, इन सब उपायो से लाभ हुआ है, पर इनमे से किसी को भी पूरी सफलता नही मिली। हर धर्म के अनुयायी अपने धर्म को ही सब से बढ़ कर, सब से सच्चा या सबसे अधिक विकसित और हितकर मानते हैं। यहाँ तक कि जो कोई उसमे कुछ खास सुधार चाहता है, या दूसरे धर्मों से उसकी तुलना करता है, वह धर्म-द्रोही या नास्तिक बताया जाता है। सुधारको या मेल मिलाप करने वालो का मार्ग कही भी सरल नही है। यह स्वाभाविक ही है कि कट्टर, अज्ञानी और अन्धभक्त लोग इस तरह के काम में रुकावट हों। परन्तु विश्व-हित के चाहने वाले और विश्व-राज्य के अभिलाषी सुधारकों मे इतना धीरज होना चाहिए कि वे ऐसी बाधाओ से विचलित न हों; बल्कि उन्हे अपनी सेवा के बहुमूल्य पुरस्कार के रूप मे स्वीकार करें। तभी हम सकीर्ण 'धर्मगत' सीमाओ को लॉघ सकेंगे, सच्चा धर्म-भाव पैदाकर सकेंगे, और विश्वबंधुत्व के आदर्श को चरितार्थ कर सकेंगे।

विश्व-धर्म कैसा होगा? पहले हम यह देखें कि धर्म किसे कहते हैं। जैसा कि पडित सुन्दरलाल जी ने कहा है * धर्म, मजहब, पन्थ, मार्ग, 'रिलीजन', आदि सबका करीब करीब एक ही अर्थ है। 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसके माने आराम करना या संभालना है। जिस चीज से दुनिया संभली

---

* इस अध्याय की कई बातें पंडित सुन्दरलाल जी के उस भाषण से ली गयी हैं, जो उन्होंने १ जून १९४१ को बारसी (शोलापुर) में सर्व धर्म सम्मेलन के सभापति के नाते दिया था।

रहे उसी का नाम धर्म है। मजहब, पन्थ, मार्ग तीनों के माने रास्ता है। इस दुनिया मे आदमी को जिस रास्ते पर चलना चाहिए, जो उसकी भलाई और तरक्की का रास्ता है, उसी का नाम मजहब है। 'रिलीजन' जिस धातु से बना है, उसके माने 'बांधना' है, जो चीजें मनुष्य जाति को बांधे रखती है, उन्हे टुकड़े टुकड़े होने से बचाती हैं, वह उसका रिलीजन है। हिन्दू शास्त्र बतलाते हैं कि धर्म वह है जिससे मनुष्य का इस जीवन मे और इसके बाद दोनो जगह कल्याण हो।* धर्म के अन्दर अनेक गुणो का समावेश माना जाता है। अलग अलग आचार्यों ने इन्हे अपने अपने ढंग से बताया है। इस सब गुणों का आपस मे सम्बन्ध है, और किसी किसी का दूसरे मे समावेश भी भी हो सकता है। मनु के अनुसार धर्म के दस लक्षण ये हैं—धीरज, क्षमा, संयम, चोरी न करना, (मन और शरीर की) सफाई, इन्द्रियों को वश मे रखना, बुद्धि, ज्ञान, सत्य, और क्रोध न करना।* सक्षेप में मनुस्मृति मे अहिन्सा (दूसरो को शारीरिक या मानसिक कष्ट न देना), सत्य, चोरी न करना, सफाई और इन्द्रियो को वश में रखना इन को चारों वर्णों का सामाजिक धर्म बताया गया है।† मनु का यह भी कहना है कि 'आचारः परमो धर्मः' यानी सबसे ऊंचा धर्म मनुष्य का सद्व्यवहार (नेकी) है।

---

* यतोऽभ्युदय निश्रयससिद्धि स धर्म।

† धृति, क्षमादमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकम् धर्म लक्षणम् ॥—मनु० ६।६२
अहिन्सा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
एत सामासिक धर्मंचातुवर्ण्येऽब्रवीन्मनु ॥—मनु० १०।६३

दूसरे धर्मों में भी इसी तरह की बातें कही गयी हैं। अगर हम ऋग्वेद, जेन्द अवस्ता, त्रिपिटक, इंजील, जैन सूत्र, और क़ुरान को बराबर बराबर रख कर ध्यान से पढ़ें तो हमें सब धर्म-ग्रन्थो में आश्चर्यजनक समानता दिखाई देगी। ऋग्वेद के वाक्य के वाक्य और ऋचाएँ ज्यो की त्यो जेन्द अवस्ता मे पाई जाती हैं। केवल यही नहीं; वेद, स्मृति, अवस्ता. बौद्ध और जैन ग्रन्थ, इंजील के नये और पुराने अहदनामे और क़ुरान इन सब मे न केवल भाव और विचार ही बल्कि वाक्य के वाक्य इस तरह मिलते चले जाते हैं कि साफ मालूम होने लगता है कि या तो इन सब धर्म-ग्रन्थों ने एक दूसरे से लिया है और या कम से कम इन सब का एक ही सोता या सरचश्मा है।

मनु के धर्म के दस लक्षणो और हज़ारों मील दूर के हज़रत मूसा की मशहूर दस आज्ञाओ में गहरी समानता है। मनु ने दस के पाँच करके उन्हे मनुष्य मात्र का सामाजिक धर्म बताया है। बुद्ध ने भिक्षुओ के लिए दस 'शीलो' की आज्ञा दी है। पातजलि ने अपने योग सूत्रो में इन्हीं मे से पांच को 'यम' और पांच को 'नियम' बना दिया है। बुद्ध ने जिन पांच 'नेक कामो' पर ज़ोर दिया है, वे ये हैं—(१) किसी के प्राण न लेना, (२) झूठी बात न कहना, (३) धोखे या ज़बरदस्ती से किसी की चीज़ न लेना, (४) शराब वग़ैरह कोई चीज़ इस्तेमाल न करना, और (५) व्यभिचार न करना।

जैन सूत्रों में लिखा है—हिन्सा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, दुनिया के किसी माल को अपना बनाकर बैठ जाना—इन पांच पापो से बचना, यही सच्चा व्रत है।

ठीक यही चीज़ें इसी तरह महात्मा ज़रथुस्त के उपदेशो, हज़रत ईसा के उपदेशों, और क़ुरान मजीद में मिलती हैं। देखने

की बात यह है कि पहली तीन चीजें—किसी की जान न लेना, झूठ न बोलना, और चोरी न करना—इन सब में इसी तरह सब से शुरू में और इसी तरतीब में मिलती हैं।

संसार के बड़े बड़े धर्मों मे हिन्दू धर्म सब से पुराना और इसलाम सब से हाल का है। भारतवर्ष में इन्हीं दोनो धर्मों के मानने वालों की तादाद ज्यादह है। इन सब से नये और सब से पुराने धर्मों मे विलक्षण समानता है। कुरान का 'ला इलाह इल्लल्लाह' उपनिषद् का 'एकमेवाद्वितीयम' दोनो एक दूसरे का लफज़ी तरजुमा हैं। 'अनलहक़' का ठीक वही अर्थ है जो 'अहब्रह्मास्मि' का है। गीता में कहा गया है—

ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'

अर्थात् ईश्वर सब के दिल में रहता है। इसी तरह इसलाम कहता है—

'कलबुल इन्सान वैतुर्रहमान'

अर्थात् आदमी का दिल रहमान के रहने की जगह है। कुरान मे ईश्वर के नामों मे सब से ज्यादह 'इलाह' या 'अल्लाह' नाम आया है। ऋग्वेद में ईश्वर के अनेक नामों में से एक नाम 'इला' भी है। यह शब्द 'इल' धातु से बना है, जिस का अर्थ स्तुति या उपासना करना है।

इस तरह की सैकड़ों मिसालें विविध. धर्म-ग्रन्थों से दी जा सकती हैं। खास कर गीता और कुरान इन दोनो को आमने सामने रखकर पढ़ने वालो को क़दम कदम पर इस तरह की सैकड़ों समानताएँ दिखायी देंगी। जरूरत केवल पढ़ने वाले में प्रेम और निष्पक्षता की है। वास्तव मे दुनिया के ये सब धर्म-ग्रन्थ एक ही आवाज़ की गूंज है, और सब एक ही सोते से निकले हैं।

निस्सन्देह इन सब धर्मो मे फरक़ भी है, लेकिन फरक़ मूल सिद्धाँतो या सदाचार के असूलो मे नही है। फरक़ है पूजा के तरीको, रूढ़ियो और रस्म रिवाजो मे। और. ये सव वातें गौण हैं। जो आदमी अज्ञान वश इन ऊपरी गौण वातो को ही मुख्य मान लेते है, और इनके पालने को अधिक महत्व देते है, वे धर्म को झगड़े की चीज़ बना देते है। फरक इसलिये है कि वे बातें अलग-अलग देशो और अलग-अलग ज़मानो मे शुरू हुईं। विचारशील आदमी को चाहिए कि इस रहस्य को अच्छी तरह समझ ले। सव धर्मो के महापुरुषों ने रूढ़ियो के गौण होने पर, और विश्वास, हृदय की शुद्धता, प्रेम, सच्चाई, ईमानदारी और परसेवा के मुख्य होने पर ज़ोर दिया है। गीता मे कहा गया है—

'जो जिस विधि विधान के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करना चाहता है, उसे ईश्वर उसी रास्ते से मिलता है अलग अलग रास्तो से चलकर भी सब लोग एक ही ईश्वर तक पहुँचते हैं।*

गीता ने साफ साफ कह दिया है कि ईश्वर के दर्शन वही कर सकता है, जिसने अपने आप को जीत लिया है, जो अपने और पराये के भेद भाव से ऊपर उठ गया है, जो (चिकीर्षु लोक सग्रहम) सव का भला चाहता है, (सर्व भूत हित रतः) सव की भलाई के कामो मे लगा रहता है, और (आत्मवत् सर्व भूतेषु) सव को अपने समान समझता है। दूसरे धर्म-ग्रन्थो मे भी इसी तरह की वातें कही गयीं है।

---

* ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यह।
मम वर्त्मानुवर्तंते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

इन में किसी खास जाति या रंग के आदमियो के लिये ही शिक्षा नहीं है, बल्कि सब के हित की बातों का समावेश है। निस्सन्देह सार्वभौम धर्म का आधार ऐसे ही नियम हो सकते हैं। इनमें किसी भी विचारशील आदमी को आपत्ति नहीं हो सकती।

जिस विश्व-धर्म का हम विचार कर रहे हैं, उसमें ऐसे ही व्यापक, सब के मानने योग्य, और सब के लिए हितकर सिद्धान्तो का समावेश होगा। वह हमे हर महापुरुष का आदर करना सिखाएगा; राम और कृष्ण को मानने वाला, और मोहम्मद और ईसा के गुण गाने वाला, बुद्ध और ज़रथुस्त्र को नहीं भुलावेगा। विश्व-धर्म का मूल मंत्र मानवता की सेवा होगी। मै हिन्दू हूँ, तुम मुसलमान, और वह ईसाई—इन भेदभाव सूचक वाक्यों का तब अन्त हो जायगा। सब के लिए एक संज्ञा होगी—'मैं इनसान हूँ' और 'मेरा धर्म इनसानियत है।' ईश्वर है या नहीं, और है तो क्या और कैसा; उसकी तरफ से विशेष दूत, अवतार, पैगम्बर आदि आते है या नहीं, वह कौन कौन से तीर्थों मे या मंदिर, मसजिद या गिरजा में रहता है— इन प्रश्नों पर वादविवाद करना अनावश्यक होगा। इस तरह के विश्वासो और विचारो मे सब को पूरी आज़ादी होगी। विश्व-राज्य के नागरिक की हैसियत मे, इन बातों के कारण कोई फरक नहीं पड़ेगा। विश्व-राज्य केवल यह चाहेगा कि हर आदमी नैतिक गुण सम्पन्न हो, ईमानदार और सच्चा हो, वह समस्त मानव जगत के साथ प्रेम करे, और सब की सेवा और सहायता करता रहे।

क्या विश्व-राज्य में मंदिर आदि होंगे? यह बात व्यक्तियों की इच्छा पर निर्भर रहेगी। बहुत से लोगों के लिए उनका मन

ही मंदिर का काम दे देगा, उन्हे अलग किसी मंदिर की जरूरत न होगी। कुछ लोग ऐसे होने सम्भव हैं, जो अपने निजी या या सामूहिक उपयोग के लिए किसी पूजालय की जरूरत अनुभव करें। इस विचार से जहाँ तहाँ पूजालय बन सकेंगे, परन्तु कोई पूजालय किसी भी देश में हो, उसका स्वरूप और उद्देश्य आज कल की तरह भेद भाव पैदा करने वाला न होकर प्रेम बढ़ाने वाला होगा। वह किसी सम्प्रदाय विशेष का न होकर मनुष्य मात्र का होगा, और मनुष्य मात्र के लिए होगा। वह विश्व-मदिर का नमूना होगा। हम पहले कह चुके हैं कि विश्व-राज्य के नागरिक इतने उदार और विचारवान होंगे कि उनमे यह बात नहीं पायी जायगी कि कोई आदमी किसी ख़ास महापुरुष, देवता या अवतार का तो भक्त हो, और दूसरे का निन्दक। वे इतने ज्ञानवान होंगे कि उन्हे यह बहस करने की जरूरत न रहेगी कि उस मन्दिर पर शिखर हो या गुम्बद, उसकी शकल मसजिद की तरह हो, या गिरजा से मिलती हुई। ऐसी तुच्छ बातों को कौन सोचने बैठेगा!

विश्व-मंदिर मे हरजाति और देश के महात्माओ, लोकसेवको और सन्तो की सुन्दर यादगारें होगी, जिन्होने मनुष्य-जाति की खास सेवा की है और उसके लिए त्याग और कष्ट सहन किया है, ऐसे मदिर मे जाने पर आदमी के हृदय मे ऊँची भावनाएँ जागेंगी और विश्व-नागरिकता के अधिक से अधिक गुणो के विकास मे मदद मिलेगी। वहाँ धर्म-ग्रन्थो के रूप में सब महानुभावो के जीवन-चरित्र और उनकी बड़ी बड़ी रचनाएँ रहेगी। विश्वबंधुत्व के ऊँचे धरातल से लिखी हुई अन्य सुकृतियो का भी वहाँ संग्रह रहेगा। ऐसे साहित्य को अवलोकन करने से कौन धन्य न होगा!

ऐसे विश्व-मंदिरों के निर्माण के लिए, लोकमत तैयार करना हमारा अभी हाल का कर्तव्य है। इस दिशा में कुछ काम हम अब भी कर सकते हैं। हमारा हर मन्दिर, मसजिद या गिरजा सब धर्म वालो के लिए समान रूप से खुला हो। उसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी सभी धर्म वाले आजादी के साथ जा सकें; वहाँ पूर्वी पच्छमी, काले गोरे, एशियाई, यूरोपियन और अमरीकन आदि का कोई भेदभाव न हो। ऐसा होने पर ही कोई मंदिर वास्तव में परमात्मा का मंदिर कहा जा सकता है।

धर्म कहता है कि मनुष्य ईश्वर (ब्रह्म) का अंश है और मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मत्व को प्राप्त करना है। हमारे लिए यह विशाल संसार ईश्वर का ही रूप है, जिसमे अनेक जातियो, अनेक धर्मों और अनेक रंगो के लोग रहते हैं। जब तक हम उन सब को अपनाने यानी अपना समझने में समर्थ नहीं होते, जब तक हम किसी भी वर्ग या समूह के लोगों को पराया या ग़ैर मानते हैं, तब तक हम ब्रह्म को प्राप्त करने की ओर नही जा सकते। परमात्मा का व्यक्त रूप मानव जाति है, धर्मात्मा बनने का सच्चा मार्ग मानव जाति से प्रेम करना, सब के साथ सहानुभूति रखना, भेद-भाव का विचार मन से दूर करके सबका भला चाहना, और सब की सेवा के लिए तत्पर रहना है।

निस्सन्देह ईश्वर के निकट पहुँचने और उसकी सच्ची भक्ति करने का तरीका यही है कि हम आदमियो की सेवा सहायता करें, भूखे नंगों को खाना कपड़ा दें, और रोगियों की सेवा सुश्रुषा करें। आगे की पंक्तियाँ* कितनी शिक्षा देने वाली हैं मोहम्मद

*'विश्ववाणी' जून १९४१

साहब ने एक बार कहा—मरने के बाद अल्लाह पूछेगा—'ऐ मनुष्य के बेटे! मै बीमार था और तू मुझे देखने नहीं आया।' मनुष्य कहेगा—'ऐ मेरे रब्बा! मै तुझे देखने कैसे आसकता था। तू तो सारी दुनिया का मालिक है।' अल्लाह जवाब देगा—'क्या तुझे मालूम नही था कि मेरा अमुक बन्दा बीमार था? और तू उसे देखने नही गया। क्या तुझे मालूम नही था कि यदि तू उसे देखने जाता तो निस्सन्देह मुझे उसके पास पाता?'

पूर्ण भक्ति भाव से तन्मय होकर सेवा करनेवाले महान पुरुषो और स्त्रियो से समय समय पर संसार को बहुत लाभ पहुँचा है। एक ताजा मिसाल मिस मेरी रीड की है। ये एक अमरीकन महिला थी। इन्होने सन् १८६१ ई० मे चंडग (अलमोरा) के कुष्टाश्रम यानी कोढ़ियो के अस्पताल का काम संभाला। एक दो नहीं, दस, बीस नही, पूरे बावन वर्ष इन्होने कोढ़ियो की सेवा की। सैकड़ो स्त्री पुरुषो को इन्होने आशा और सुख प्रदान किया। ८ अप्रैल १९४३ को ८८ वर्ष की उम्र मे इनका देहावसान हुआ। इन्होने अपनी दोनो मातृभूमियो (अमरीका और भारतवर्ष) की शोभा बढ़ायी। जुदा जुदा देशों के बीच में जो खाई बनी हुई हैं, उन पर पुल बाँधने के लिए हर देश के निवासियो मे मिस मेरी रीड की भावना भरी होनी चाहिए।

विश्व-राज्य चाहता है कि ऐसे महान पुरुष और स्त्रियाँ अधिकाधिक तादाद मे हों, जो दूसरो की सेवा सच्चे प्रेम और निस्स्वार्थ भाव से करें—सेवा करने में वे अपने दिलो को देश, जाति, रग या सम्प्रदाय की दीवारो के अन्दर बन्द न रखें; मानव जाति और विश्व भर को समान दृष्टि से देखें। यही सच्चा धर्म है, और, यही विश्व-धर्म है।

प्राचीन काल में इस धर्म का पालन करना इतना आसान न

था। यद्यपि हर धर्म ने विश्वबन्धुत्व, मनुष्य मात्र के भ्रातृभाव, वसुधैवकुटुम्बकम् आदि का आदर्श हमारे सामने रखा और इस भावना का प्रचार किया, और इससे उसके अनुयाइयो में उदारता भी आयी, पर उस समय आने जाने के साधनो की कमी थी, लोगो का जीवन छोटे छोटे समूहों में बँटा था, एक आदमी अपने गांव या नगर-राज्य से बाहर के आदमियों से वास्ता न रखता था, और अगर यह मालूम भी हो जाता कि उन्हे हमारी सहायता की ज़रूरत है तो भी काफ़ी साधन न होने के कारण सहायता देना कठिन था। अब विज्ञान ने दूर दूर के आदमियो को एक दूसरे के नज़दीक कर दिया है, अमरीका वाले अगर चाहे तो चीन, भारत या अफ्रीका आदि के आदमियो की खूब सेवा कर सकते है। इसी तरह भारतवासी विश्व-शांति और भाईचारे का संदेश देश देश मे पहुँचा सकते हैं। विज्ञान ने धर्म-प्रचार की बाधाओ को दूर करके विश्व-धर्म का मार्ग और अधिक प्रशस्त कर दिया है। यह जरूरी है कि आदमी विज्ञान का दुरुपयोग न करे। विज्ञान की सहायता से अब मनुष्य ज्यादह आसानी से विश्व-धर्म का अनुयायी हो सकता है।

छबीसवाँ अध्याय

विश्व-अर्थनीति

आदमी अपनी हालत और ज़रूरतो के अनुसार अपनी रीति नीति आदि में परिवर्तन या सशोधन किया करता है। हमे देखना है कि जबकि हमारी बदलती हुई परिस्थिति हमे विश्व-सघ बनाने को मजबूर रही है तो आर्थिक क्षेत्र मे हमारी नीति क्या

होगी, या क्या होनी चाहिए।

यदि कुल, मानव जनता की दृष्टि से विचार करें तो संसार में भोजन वस्त्र और दूसरी जरूरतो को पूरा करने के लिए सामान की कोई कमी नहीं है। इस समय पृथ्वी की कुल आवादी सवा दो सौ करोड़ है, और खाने पीने आदि का सामान इनसे दुगने आदमियो के निर्वाह लिए काफी है। यदि वैज्ञानिक साधनो का ठीक उपयोग किया जाय, और पूँजीवादी अपने और नफे के लिए। और साम्राज्यवादी अपने युद्धो मे। वहुत सी सामग्री नष्ट न करें तो पृथ्वी की पैदावार इस समय की आवादी के आदमियो के लिए खूब काफी हो सकती है। यही वात जगह की है। आस्ट्रेलिया का फैलाव तीस लाख वर्ग मील है —हिन्दुस्तान से बहुत अधिक; और वहाँ की आबादी सत्तर लाख से भी कम। इस पर भी आस्ट्रेलिया वाले वाहर वालो को अपने यहाँ नही रहने देते। फिर ससार मे वहुत से आदमियो को जगह की कमी हो तो क्या आश्चर्य! जब हर राज्य केवल अपने ही भले और ऐश्वर्य की वात सोचे, और वलवान अपनी जरूरतों से अधिक जगह और सामग्री पर अधिकार जमाये तो सब का निर्वाह कैसे हो!

एक मिसाल लीजिए। एक घर मे दस आदमी है, यदि सब मिल कर रहे तो सब के लिए काफी से ज्यादह जगह है, भोजन वस्त्र आदि सामान की भी कोई कमी नही। खूब आराम से सब का निर्वाह हो सकता है। परन्तु जब हर एक आदमी अपने निजी सुख और सुविधा की सोचता है, भोजन अलग बनाना चाहता है, और उसके लिए रसोई-घर भी अलग रखता हैं, नहाने धोने के लिए अलग कमरा रखता है, और उसमें अलग पानी का नल लेता है, तो ऐसी बातो से

कितनी असुविधा होगी, इसका सहज ही अनुमान हो सकता है। घर जायदाद आदि का बँटवारा होने पर गृहस्थों की हालत की कितनी खराब हो जाती है, यह समय-समय पर अनुभव होता रहता है।

यही बात राज्य की है। नगर-राज्यो से तरक्की करके हम राष्ट्र-राज्यो पर आये। पर हमारी पुरानी संकीर्णता ने हमारा पिंड न छोड़ा। विज्ञान ने उन्नति की, मनुष्य के मस्तिष्क के विकास का परिचय मिला। परन्तु मनुष्य का हृदय उसके साथ न बढ़ा, वह प्रगति मे पीछे रह गया। इसका दुष्परिणाम हमारे सामने है, हर आर्थिक क्षेत्र मे कुव्यवस्था है, मानव जाति भयंकर कष्ट उठा रही है। इसका अन्त करना आवश्यक है।

अर्थनीति के मुख्य भेद ये हैं—(१) उपभोग या खपत, (२) उत्पत्ति या पैदावार, (३) विनिमय, व्यापार और मुद्रा,(४) वितरण या बँटवारा। पहले खपत के सम्बन्ध मे विचार करें।

खपत—आश्चर्य का विषय है कि अधिकांश अर्थशास्त्री पैदावार पर तो खूब विस्तार से लिखते है, पर खपत की चर्चा बहुत कम करते है—यद्यपि खपत और पैदावार मे. कारण और कार्य का सम्बन्ध है। मनुष्य तरह तरह के पदार्थों का उपभोग करना चाहते है, इसीलिए उन्हे पैदा किया जाता है। जिन चीजो का आदमी इस्तेमाल नहीं करते, उन्हे पैदा भी नही किया जाता। इससे खपत का महत्व साफ जाहिर है। परन्तु जब कि चीजो को पैदा करने के उपाय सोचने के लिए बहुत मेहनत की जाती है, खपत के उद्देश्य और विधि की ओर विशेष ध्यान नही दिया जाता। अध्ययन किये बिना ही लोग अपने को इस विषय का पूर्ण ज्ञाता समझ लेते हैं। अनेक

आदमी थोड़ी देर के स्वाद के लिए खट्टी, मीठी, चटपटी, मसालेदार चीजें खाते है, चटकीले, भड़कीले वस्त्र पहिनते है जो उनकी तन्दरुस्ती के लिए हानिकर होते हैं। कितने ही युवक या विद्यार्थी अपनी दूसरी जरूरतो को पूरा करने मे कंजूसी करते हुए भी सिनेमा, नाटक आदि मे पैसा लुटाते रहते है; बहुत से मजदूर अपना और अपने परिवार का पेट काट कर मादक वस्तुओ के उपभोग मे, अपनी गाढ़ी कमाई का खासा भाग नष्ट कर डालते है। स्त्रियाँ मेले तमाशो मे जाकर चटक-मटक की निकम्मी चीजें खरीद लाती हैं, फिर चाहे गृहस्थी की दूसरी जरूरतें पूरी हो या न हो, या उनके लिये ऋण लेना पड़े। इससे हमारी खपत सम्बन्धी अविवेकता स्पष्ट है।

आजकल आदमी खपत का उद्देश्य विषय-सुख और विलासिता मानते हैं। विषय-सुख का मतलब यह है कि इस समय सुख मिल जाय, चाहे पीछे उससे कष्ट ही क्यों न हो। इसके लिए गरीब लोग अपने खाने पीने मे तगी करके फैशन और शौकीनी मे फंस जाते हैं। आज कल जनता मे प्राय: यह विचार-धारा फैली हुई है कि नित्य नयी आवश्यकताओ की वृद्धि होती रहनी चाहिए। यही कारण है कि अनेक मादक और दूसरे अनावश्यक और अनुपयोगी पदार्थों की माँग बढ़ती जाती है—शराब, तमाखू, चाय, कहवा, अफीम, पान, तरह-तरह के मसालो आदि का ससार भर में बहुत अधिक इस्तेमाल किया जाता है। कितनी भूमि, कितना श्रम, कितनी पूँजी इनकी पैदावार मे लगती है। इसका नतीजा होता है, जनता के स्वास्थ्य, शक्ति, और आयु का ह्रास। अगर आदमियों का रहन सहन सादा हो, उनकी जरूरतें कम हो तो वे उस हानि से सहज ही बच सकते हैं, जो विषय-सुख के लिए उठानी पड़ती है।

जब विषय-सुख के कारण आदमी ऐसी चीज़ को पसन्द करता है, जो वहुत कीमती हो तो उस उपभोग को विलासिता कहते हैं। ऐसा उपभोग धनवान लोग करते हैं। कीमत अधिक होने से साधारण वस्तु भी विलासिता की वस्तु बन जाती है। भारतवर्ष में आम को साधारण फल माना जाता है, लेकिन जब इंगलैण्ड के आदमी उसे अपने यहाँ मंगाते हैं तो उसकी कीमत बहुत वढ़ जाती है। धनवान लोगो को कीमत की क्या परवाह! वे ऐसे पदार्थों के उपभोग में ही अपनी शान समझते है, जो दूर देशों से आते हो, जो बेमौसमी हो, जो मंहगी होने के कारण आम लोगों को सुलभ न हो। इगलैण्ड अमरीका आदि की तो बात ही क्या, भारतवर्ष में कितने ही खाने पीने तक के पदार्थ दूर देशो से डिब्बों में वैज्ञानिक प्रद्धति से रखे हुए आते हैं। यहाँ विवाह शादी आदि अनेक दावतों में चालीस चालीस तरह के पदार्थ देखे गये हैं। पहनावे का भी विषय कम चिन्त-नीय नहीं। एक एक साड़ी या सूट कई कई सौ रुपये तक के होते हैं। शौकीन धनी लोगो के साज शृङ्गार का क्या ठिकाना! उनका अधिकतर समय है ही किस बात के लिए! बहुत सी जगह लोगों के भोजन और कपड़े के लिए बेशुमार प्राणियों की हर रोज हत्या की जाती है, और कितने ही आदमी केवल इस काम में लगे रहते हैं कि वे अपने यहाँ के या दूर दूर के थोड़े से विलासिता-प्रेमियो की जीभ के स्वाद या उनकी सजधज के लिए पशु पक्षियो को मारते रहे।

हमें खास विचार यह रखना चाहिए कि चीजो के इस्तेमाल से हमें अधिक से अधिक टिकाऊ सुख, संतोष और तृप्ति मिले। इस लिए हमे विषय-सुख और विलासिता के पीछे न पड़ना चाहिए। दिखावे, शौकीनी या फैशन की चीज़ो का इस्तेमाल

छोड़ दिया जाय, और ऐसी चीजो का इस्तेमाल भी जहाँ तक हो कम किया जाय, जिनसे हमारी कार्य-कुशलता तो कम बढ़ती है और खर्च बहुत अधिक होता है, जैसे मामूली मजदूर के लिये साइकल। कुछ चीजो का इस्तेमाल अनावश्यक होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से किया जाता है, जैसे विवाह-शादी और जन्म-मरण सम्बन्धी बहुत सा खर्च। इसे जहाँ तक हो घटाने की कोशिश करनी चाहिये। मादक पदार्थों का सेवन आदमी देखा देखी करने लगते हैं; फिर उनकी आदत पड़ जाती है। हर देश मे सरकरी और गैर सरकारी प्रयत्न ऐसा होता रहना चाहिए कि नागरिको की आदतें बचपन से ही अच्छी पड़ें, और इन बातो में धन नष्ट न हो।

सारांश यह कि आर्थिक आवश्यकताओ पर रोक थाम रहनी चाहिए। जीवन-रक्षा और निपुणतादायक पदार्थों का उपयोग काफी किया जाना चाहिए, बनावटी चीजो का इस्तेमाल कम करना चाहिए। हम दूसरो के हित की अवहेलना न करे, समाज मे सब को सुखी बनाते हुये हम सुखी रहे।

उत्पत्ति या पैदावार—ऊपर बताया जा चुका है कि बहुतसे आदमियो के रहन-सहन मे दिखावा, कृत्रिमता या शौक़ीनी अधिक होती हे। उन्होने अपनी ज़रूरतें बहुत बढ़ा रखी हैं। इसलिये राष्ट्रो कीबहुत सी ताकत ऐसी चीजें पैदा करने मे लगती हैं, जो जरूरी या उपयोगी नहीहोती। आदमियो के जीवन मे समय और सादगी हो तो यह ताक़त बचाई जा सकती है, और इससे दूसरे हितकर या फायदे के काम किये जा सकते हैं।

ख़ासकर इस समय विविध राष्ट्रों के आपस में मुकाबले या

प्रतियोगिता के कारण पैदावार के काम मे बड़ी बाधा पड़ रही है। कितने ही देश ऐसी ऐसी चीजें बनाने की फ़िक्र में रहते हैं, जिनके लिए उनके पास कुदरती साधन या सुविधाएँ नहीं होतीं। मिसाल के तौर पर इगलैण्ड और जापान कपड़े का धन्धा चलाते हैं, हालाँकि उनकी हद में या उनके नज़दीक के किसी देश में भी रूई पैदा नहीं होती; स्काटलैण्ड जूट की बोरियाँ बनाता है, और वह जूट बंगाल (भारतवर्ष) जैसे दूर के देश से मंगाता है। आज दिन ससार की इस अर्थ-व्यवस्था में कोई ठीक क्रम या योजना नहीं है। हर राष्ट्र को गरम देशों से कच्चा माल झपट लेना है, और अपनी पूँजी लगाने के लिये नये नये बाज़ार या मडियाँ ढूढ़नी हैं, और इसलिए उसे उपनिवेश और अधीन राज्य प्राप्त करने है। कभी कभी कुछ चीज़ों की ज़रूरतसे ज़्यादह पैदावार हो जाती है, और मूल्य गिर जाता है। कभी आदमियों को चीज़ो की कमी और मंहगायी का कष्ट उठाना पड़ता है। पैदावार केवल नफ़े के लिये की जाती है। अगर किसी चीज़ के पैदा करने मे नफ़ा नहीं रहता तो उसे बनाया ही नहीं जाता, चाहे वह कितनी ही ज़रूरी क्यो न हो। अक्सर दूर दूर के धनी लोगो के लिए विलासिता का सामान तैयार किया जाता है, जबकि देश के ग़रीब आदमी ऐसी चीज़ो के लिये भी बिलखते रहते हैं, जो जिन्दगी क़ायम रखने के लिए ज़रूरी हैं। उत्पत्ति के लिए आवश्यक होने पर भी पूँजी हमेशा अपने स्थान पर नहीं ठहरती; जब उसे दूर देशों से नफ़े की गन्ध आती है, वह वहाँ की सस्ती और असङ्गठित मज़दूरी से लाभ उठाने के लिए उड़ जाती है।

मौजूदा हालत मे कई कोठियाँ या कम्पनियाँ एक ही चीज़ तैयार करती हैं। इसका नतीजा होता है—प्रतियोगिता या

मुक़ाबला, सामान की बरबादी; ऊपरी खर्च का बढ़ना, कभी रोज़गार की भरमार और कभी रोजगार की इतनी कमी कि बेकारी फैल जाय; बेईमानी का व्यवहार, झूठ, विज्ञापनबाज़ी, मिलावट, आर्थिक सघर्ष और संकट, मुकदमेबाजी, धोखेबाज़ी, निराशा और आत्महत्या। पूँजीपति अपने नफे के वास्ते कोकेन और अफीम पैदा करते है जिनसे लोगो का स्वास्थ्य नष्ट होता है; वे युद्ध का सामान बड़े पैमाने पर तैयार करने में संकोच नहीं करते, जिससे राष्ट्रो के जन धन का नाश होता है।

इन सब बातो का अन्त होना चाहिए। हमे केवल उन्हीं चीज़ो की उत्पत्ति करनी चाहिए जो समाज के लिए हितकर हो; हमे अपना हित सारे समाज के हित से अलग न समझना चाहिए। यही नही; ज़रूरत है कि अधिकाधिक आदमी अपने निजी स्वार्थ को छोड़ कर अपनी मेहनत, पूँजी या भूमि का लाभ मानव समाज को पहुँचावें; वे ऐसी चीज़ें बनायें, और ऐसे आविष्कार या अनुसंधान करें जिनसे चाहे उन्हे कुछ आमदनी न हो पर समाज की मौजूदा ज़रूरतें पूरी हों। अनेक देशो में थोड़े से साधु-सत, महात्मा, लेखक, शिक्षक, चिकित्सक आदि अपना जीवन मानव समाज के अर्पण करते रहते है; अच्छा हो, हम अपने सब साधन विश्व-राज्य को सौप दें, और विश्व-राज्य के निरीक्षण और नियत्रण मे समस्त मानव समाज की ज़रूरतो को नज़र मे रख कर माल पैदा किया जाय; संसार भर के खेतो, बग़ीचो, खानो, जगलो, और कारख़ानो आदि का प्रबन्ध व्यापक दृष्टि से हो, जिस से सभी नागरिकों को भोजन वस्त्रादि मिले, जिसके लिए आज दिन करोड़ो आदमी चिन्तित रहते हैं, और जिसे कितने ही पर्याप्त मात्रा मे नही पासकते।

उत्पादन मे सहकारिता के सिद्धान्त का ज्यादह से ज्यादह

उपयोग किया जाय। बिजली आदि की शक्ति खूब बड़े परिमाण मे पैदा करके उसे जगह जगह पहुँचाया जाय। ऐसा होने पर बड़े बड़े कारखाने कायम करने की ख़ास ज़रूरत न रहेगी, मज़दूरो के तंग, गदे अस्वास्थ्यकर स्थानो मे रहने, धन के हँटवारे की विषमता, नगरो की संख्या और उनकी आबादी बढ़ने आदि की समस्याएँ पैदा न होगी, छोटे छोटे घरेलू उद्योग धंधो के बढने और फैलने के लिए मैदान बढ़ेगा, और दुनिया के सब आदमी स्वतंत्रता पूर्वक अपना काम करते रहेंगे।

विनिमय और व्यापार—यहाँ तक हमने चीज़ो की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार किया है। जो माल पैदा किया जाय, उसे लोगों को उचित्त मूल्य में और शुद्ध रूप में देना, जिससे उन्हे किसी तरह का धोखा या हानि न हो, और उनकी आवश्यकताओ की अच्छी तरह पूर्ति हो, कुछ कम महत्व का काम नही है। यह एक बड़ा सेवा-कार्य है। पर आजकल की अवस्था में व्यक्तियो के समान राष्ट्र भी इस दिशा मे अपने कर्तव्य का पालन नहीं करते। वे अपने अपने स्वार्थ-साधन मे लगे रहते हैं। व्यापार के नाम पर धोखाधड़ी और लूट-खसोट होती रहती है। माल बेचने वाले आदमी दूसरे लोगो को तरह तरह से धोखा देते हैं, उसी तरह राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों की आँखों में धूल झोकने में कुछ बुराई नहीं समझते। हर राष्ट्र चटकीला भड़कीला, कम टिकाऊ, माल तैयार करके दूसरे देशो का धन अपहरण करना चाहता है। वह दूसरे देश वालो को शौकीन, नशेबाज़ और लड़ाकू बनाने मे ही अपना लाभ समझता है, क्योंकि इस तरह वह उनके हाथ अपनी विलास-सामग्री, मादक पदार्थ और शस्त्रास्त्र बेच सकता है।

इस समय राष्ट्रो को दूसरो के हिताहित से कुछ प्रयोजन नही।

हर राष्ट्र अपने पड़ोसी का कुछ विचार किये विना ही अपने आपको धनवान वनाने की कोशिश करता है। यदि वह दूसरो के वारे मे कुछ सोचता है, तो उन्हे गरीव वनाने, और उन्हे चूसने की ही वात सोचता है। हर राष्ट्र औद्योगिक और उन्नत विदेशो से आने वाले माल पर टैक्स वैठाता है, जिससे उसकी 'विदेशी' वनी वस्तुओ को सरक्षण मिले; इस तरह वह व्यापार के स्वतंत्र क्रम मे वाधा डालता है। हर राष्ट्र अधिक से अधिक माल दूसरे देशो के हाथ वेचता है, और दूसरो का कम से कम खरीदता है। कोई यह नहीं सोचता कि यदि सभी माल वेचने वाले हों, तो खरीदेगा कौन! वेचने और खरीदने का सग-साथ है, परन्तु इन राष्ट्रों की वुद्धि भ्रष्ट हो गयी है। ये अपनी माल वेचना चाहते हैं, दूसरे का खरीदना नही चाहते। यह स्वार्थपूर्ण नीति साम्राज्यवाद की सगी वहिन है, जिसका नतीजा यह है कि युद्ध, महायुद्ध और विश्व-युद्ध होकर रहते है। इस विषय में पहले भी लिखा जा चुका है।

विनिमय और व्यापार के सिलसिले में मुद्रा या सिक्को के वारे मे भी कुछ विचार होना जरूरी है। जव कि राज्य छोटे-छोटे हो, और हर राज्य का अपना अलग सिक्का हो तो व्यवहार मे कितनी कठिनाई होती है, यह सव जानते हैं। एक यात्री ज्यो ही अपने राज्य की सीमा पार करके दूसरे राज्य मे दाखिल होता है. उसे अपने सिक्को का विनिमय दूसरे राज्य के सिक्को मे कराना होता है; तव ही वह वहाँ जरूरी चीज़े खरीद सकता है। इस राज्य से आगे वढ़ने पर फिर उसके सामने सिक्के की समस्या खड़ी होती हैं। ऐसे राज्यो के व्यापारियो और सरकारो को भी निरंतर मुद्रा सम्वन्धी कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। परन्तु यदि इन सव राज्यों का एक संघ वन

जाय या सब राज्य एक बड़े राज्य के अंग बन जायँ तो यह कठिनाई हट जाती है। भारतीय पाठक अपने देश की मिसाल से इस विषय को भली भांति समझ सकते है। यहाँ कुछ देशी राज्य अपना अलग सिक्का रखते हैं, फिर भी सब अपने यहाँ अंगरेजी रुपये को वही स्थान देते हैं, जो उसका ब्रिटिश भारत में है। इस से देश भर के सब आदमियो को अपने लेन-देन या क्रय-विक्रय का सुविधा रहती है फिर, आजकल कागजी मुद्रा का चलन बढ़ जाने से रुपये आदि का उपयोग बहुत ही कम रह गया है। अधिकांश काम नोटो से जाता है। हाँ, जब हिन्दुस्तान को किसी दूसरे देश का रूपया देना लेना होता है तो यह काम सोने के पौंडो से किया जाता है, जो प्रामाणिक स्टेंडर्ड सिक्का होने के कारण दूसरे देशो के सिक्कों से बदला जा सकता हैं।

एक राज्य चाहे जितना बड़ा हो, उसमे मुद्रा की विभिन्नता से होने वाली कठिनाइयाँ नहीं रहतीं। कुछ राज्यो के आपसी समझौते से भी समस्या हल हो जाती है। पाठक नीचे लिखा समाचार पढ़ें, यह जनवरी १९४४ मे प्रकाशित हुआ था; इसका शीर्षक था, 'अमरीका में छपे हुए नोट' —

"आर० एल० स्टिफेन्स लिखते हैं कि यह बात अब प्रकट की गई है कि सयुक्तराज्य अमरीका मे बहुत से स्वतंत्रता, 'फोर फ्रीड़म नोट्स' छापे गए हैं। चार स्वतंत्रताओ—भाषण-धार्मिक स्वतन्त्रता, अभाव से स्वतंत्रता और भय से स्वतन्त्रता—के प्रतीक ये नोट विभिन्न देशों में भेजे जाने के लिए अमरीका मे जमा है। जिस देश मे इस्तेमाल के लिए ये नोट भेजे जायगे उन पर उस देश का नाम अंकित रहेगा। एक ही तरह का नोट विभिन्न देशों मे इस्तेमाल होगा। यह फरक होगा कि किसी पर

लिखा रहेगा—'फ्रान्स में जारी किया गया', और किसी पर रहेगा—'नारवे मे जारी किया गया' इत्यादि। नोटों पर लिखा रहेगा—'एलाइड मिलिटरी करेन्सी' जिसका अर्थ हुआ मित्र राष्ट्रों के सैनिक नोट। चारों तरह कीस्वतंत्रताओ का नामोल्लेख पुश्त के चार कोनो पर किया रहेगा। ये नोट खास कर सेना के लिए होगे।"

इससे पाठको को विश्व-मुद्रा के सम्बन्ध मे अनुमान करने मे बहुत कल्पना शक्ति लगानी नही पड़ेगी। ये नोट अमरीका मे छपे है, भावी नोट विश्व-राज्य की राजधानी मे छपेंगे, जिसके सम्बन्ध मे हमने अपना विचार दूसरी जगह प्रकट किया है। इन नोटों का नक्शा उस समय के कलाकार तय करेंगे। फिर भी यह कहा जा सकता है कि एक ही तरह के नोट संसार भर मे चलेंगे। उन मे यह फरक तो होगा कि जिस जिस देश मे वे काम आवेंगे, उस उस का नाम उन पर अंकित रहेगा, पर उस समय के देश (विश्व-राज्य के प्रान्त) बड़े बड़े होगे। इन नोटो पर चार स्वतंत्रताओं की बात छपी है, किन्तु आजकल की व्यवस्था के अनुसार इन शब्दो का अर्थ सब देशो की जनताओ के लिए बराबर नहीं है, यह स्वतंत्रताएँ केवल गोरे रंग वालो के लिए, या प्रबल राष्ट्रो या उनके साथियो के लिए हैं, दूसरे राष्ट्र इनसे वंचित हैं। भावी नोटो के समय यह हालत न रहेगी। सम्भव है उनमे एक तरफ बीच मे एक शब्द 'मानवता' अंकित रहे, और दूसरी ओर चार कोनों पर लोकतंत्र, आज़ादी, बराबरी और बंधुत्व छपा रहे, जो विश्व-राज्य के चार आदर्शों के प्रतीक हों। इन नोटो पर जो 'मित्र-राष्ट्रो के सैनिक नोट' छपा है, वह उस समय अनावश्यक हो जायगा, क्योंकि वे नोट ससार भर के सब देशो के निवासियो के लिए होंगे, और वे सभी आपस मे मित्र होगे, शत्रु या अमित्र कोई होगा ही नहीं।

फिर, जनता अहिन्सा का व्यवहार करने वाली होगी, और उसे सैनिकों की ज़रूरत न रहेगी। इसलिए वे नोट इन नोटों की भांति खासकर सेना को देने के लिए न होकर सारी जनता के व्यवहार के लिए होगे।

बँटवारा—बँटवारे का मतलब धनोत्पत्ति के विविध साधनो के मालिकों में उनकी आमदनी या प्रतिफल बाँटना है। इस समय भूमि वाले को लगान, मेहनत करने वाले को वेतन या मज़दूरी, पूँजी वाले को सूद, और व्यवस्था करने वाले को मुनाफा मिलता है। आजकल की अवस्था मे भूमि, पूँजी और व्यवस्था तीनों का अधिकारी एक वर्ग है, और दूसरे वर्ग के पास केवल अपनी मेहनत रहती है। भूमि और पूँजी पर कुछ लोगो का व्यक्तिगत अधिकार होने से धन के बँटवारे मे बड़ा अनर्थ हो रहा है। ज़मींदार, तालुकेदार, पूँजीपतियों और कारख़ाने वालों के अनुचित कारनामे और अन्याय जग-ज़ाहिर है। बड़े बड़े धर्मात्मा बनने, दान पुण्य करने और हरिकीर्तन कराने वाले साहूकारों के यहां जगह जगह चरबी के घी का व्यापार होते पाया गया है। उन्हे कसाईखाने और वेश्यालय चलाने में भी कोई संकोच नहीं होता। वे गरीब विधवाओं, बेकारों और मज़दूरों से गंदे और तङ्ग मकानों का भी किराया खूब कसकर वसूल करते हैं। वे अपने ख़राब जहाजों को इसलिए चलता कर देते हैं कि उन्हें बीमे की भारी भारी रक़में मिल जायँ, बेचारे नाविको की जान भले ही जाय।* वे लगान या कर्ज़ की क़िश्त न चुका सकने वाले

*ऐसी भी घटनाएँ सुनने में आयी हैं कि पुरुष ने अपनी स्त्री का एक भारी रक़म का बीमा करा दिया, और पीछे कुछ रहस्यपूर्ण उपायों से उसे मरवा दिया, जिससे बीमे की रक़म अनायास ही मिल जाय।

गरीब किसानों की फ़सल और पशु तक नीलाम करवा डालते है। वे हज़ारो और लाखों मज़दूरो को सता सता कर उनसे इतना अधिक काम लेते है कि वे बेचारे जल्दी ही अपनी जान से हाथ धो डालते हैं। वे अपनी सरकारो को राष्ट्रीय युद्ध के समय रुपया भी, सूद की निर्धारित दर पर, उधार देते है, जब कि उनके कितने ही देश-बन्धु अपनी जान होम देते है। वे दूसरे देशो को खुले आम या लुक छिप कर हथियार और दूसरी युद्ध-सामग्री बेचते हैं, चाहे वे यह भी जान लें कि शस्त्रास्त्र ख़रीदने वाला देश निकट भविष्य मे उनके ही राष्ट्र से युद्ध छेड़ने वाला है।

इस तरह का पूँजीवाद मानव जाति की बहुत सी योग्यता और प्रतिभा का अपहरण करता और सभ्यता की प्रगति को रोकता है। आज कल साहित्य, विज्ञान या कला आदि की उच्च शिक्षा पाने के लिए रुपया ज़रूरी है, योग्यता या बुद्धि नहीं। पैसे वाले परिवारों के बालक कूढ़मगज होते हुए भी दूर दूर के विश्व-विद्यालयो मे पहुँचते हैं, और निर्धनो के हज़ारो होनहार लड़के ऐसे अवसरो से वंचित रहते हैं। प्रकृति देवी अच्छे अच्छे मस्तिष्क बहुत काफी तादाद मे पैदा करती है, पर पूँजीवाद उनमे से बहुत कम का उपयोग होने देता है। इस तरह यह पद्धति आध्यात्मिक और मानसिक हत्या की दोषी है।

पूँजीवाद समाज की आर्थिक ज़रूरतों को पूरा नहीं कर सकता। इसका फल व्यापक बेकारी होती है। संयुक्तराज्य अमरीका नया महाद्वीप है; वहाँ भूमि और मेहनत दोनों सुलभ हैं। यह आशा की जा सकती है कि वहाँ लोगों को रोटी

कपड़े की कमी न होगी। परन्तु पूँजीवाद ने प्रकृति के इस भंडार को भी बेकारों और भूखों की वस्ती बना डाला है। वहाँ की बेकारों की तादाद डेढ़ पौने दो करोड़ तक पहुँच जाती है। *

लाखों नागरिक इतनी दरिद्रता का जीवन व्यतीत करते हैं कि उनकी मामूली ज़रूरतें भी पूरी नहीं हो पाती, या उन ज़रूरतों को पूरा करने के लिए उन्हे राज्य की ओर से कायम किये हुए दरिद्रालयों ('पूअर-हाउस') या समाज के दान धर्म आदि का आसरा तकना पड़ता है। इस तरह दूसरो को चूसने वाली श्रेणी के आदमी मज़दूरों और किसानों की मेहनत पर फलते फूलते रहते हैं; उनमें से कुछ की आमदनी तो अपने श्रमजीवी भाइयों से हज़ारों गुनी होती है। पाठक किसी भी देश में मिल-मालिकों और मज़दूरों की आमदनी की तुलना करके देख सकते हैं।

इस विषमता और शोषण का नतीजा यह होता है कि जब कि मुट्ठी भर आदमी विलासिता और ऐयाशी का जीवन वसर करते हैं, अधिकांश जनता घोर दरिद्रता और गंदगी में दिन काटती है। श्रमजीवियो के परिवार, उनकी स्त्री बच्चे कैसे तंग और अंधेरे मकानों मे गुज़र करते हैं, सर्दी से बचने के लिए उनके पास कितना कम सामान होता है, उनका भोजन कितना अशुद्ध, मिलावटदार, और घटिया होता है, और इन बातो के फल स्वरूप उन्हे किस तरह एक के बाद दूसरे भयंकर

---

* यह बात उस देश की है, जो स्वाधीन है, फिर भारतवर्ष जैसे पराधीन देशों में इस तरह के पूजीवाद से कितनी हानि हो सकती है, यह आसानी से समझ में आ सकता है।

रोगो का शिकार होना पड़ता है, यह यहाँ विस्तार से लिखने की जरूरत नहीं। उनकी हालत किस्से कहानियो की कल्पना से भी अधिक आश्चर्यजनक है।

आजकल की आर्थिक व्यवस्था ने व्यक्तियो के ही भ्रातृभाव और समता को नष्ट नही कर रखा है, राज्यो मे भी विषमता का भयंकर प्रचार कर रखा है। कुछ राष्ट्रो का बड़े बड़े उपनिवेशो और अधीन देशो पर अधिकार है। वे उनके धन से बहुत अधिक धनवान हो गये है। कुछ राष्ट्र अपनी प्राकृतिक सुविधाओ के कारण भी सम्पत्तिवान होते हैं। इसके विपरीत, दूसरे देश अपनी भौगोलिक प्रतिकूलता से, या दूसरे राष्ट्रो से चूसे जाने के कारण बहुत अधिक निर्धन हैं। संसार धनी और निर्धन देशो मे बँटा हुआ है। एक देश मे हर आदमी की औसत सालाना आमदनी ६००) रु० या इससे अधिक है, और दूसरे देश मे सिर्फ चालीस रुपये। यह कैसी घातक विषमता है!

धन के बँटवारे के सही सिद्धान्त समानता और बंधुत्व है। समानता का अर्थ यांत्रिक या कृत्रिम समानता नहीं है, जैसे सब की बराबर आमदनी हो। सामाजिक समानता का अर्थ यह है कि सब को अपना व्यक्तित्व अपने उच्च आदर्श के अनुसार विकसित करने का, और जैसा सुखमय और पूर्ण जीवन व्यतीत करने के वे योग्य हों वैसा जीवन विताने का, समान अवसर मिले। परिवार मे इस नियम का पालन होता है; हर बालक, बालिका को उसकी आवश्यकतानुसार भोजन वस्त्र और शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाता है। इसी तरह हर व्यक्ति को राज्य से अपने विकास के लिए सब जरूरी चीजें और मदद मिलनी चाहिए।

पिछले वर्षों की आथिक स्थिति ने सब देशो मे आजकल की

पूँजीवादी पद्धति की व्यर्थता और बेहूदगी अच्छी तरह साबित कर दी है। ब्राजील से कहवा और अंगरेजी बन्दरगाहों से संतरे और मछलियाँ नष्ट करने का समाचार आता है। संसार मे करोड़ों लोगो को भर पेट भोजन न मिलते हुए भी अरीका में गेहूँ की फसल घटाने की कोशिश की जा चुकी है। क्यों? इसलिए कि भाव चढ़ जाय। यह क़ीमत, मजदूरी, और मुनाफे के दाव पेंच हमे कहीं का न छोड़ेंगे। इस आर्थिक विषमता को दूर करना ही होगा।

बर्तमान पूँजीवाद का अन्त कैसे हो? पहले बताया जा चुका है कि इस पूँजीवादी व्यवस्था का ख़ास दोष यह है कि इसमे पैदावार केन्द्रित हो जाती है; पैदावार के साधनों के स्वामी राष्ट्र के कुछ इने गिने व्यक्ति होते हैं। ऐसी आर्थिक व्यवस्था का अन्त करने के दो ही उपाय हैं—(१) छोटे-छोटे घरेलू उद्योगो को बढ़ाया और फैलाया जाय (२) उत्पादन का काम व्यक्तियों द्वारा न होकर राज्य का स्वामित्व हो। कुछ सज्जन इनमें से पहले उपाय को महत्व देते हैं, कुछ दूसरे को। इस विषय पर बहस करने का यहाँ स्थान नहीं है। दोनो विचार-धाराओ का समन्वय हो सकता है, और गृहोद्योगवाद और समाजवाद दोनों का ठीक ठीक उपयोग करके आजकल के पूँजीवाद को समाप्त किया जा सकता है। विश्व-अर्थनीति के लिए यह करना बहुत ज़रूरी है।

—o—

सत्ताइसवाँ अध्याय

विश्व-संघ का शासन

"स्वराज्य उसको कहते हैं जिसमें बहुत मनुष्यो की सम्मति से राष्ट्र का पा ।न किया जाता है और जिसका राज्य-शासन उदार और व्यापक वृत्ति से चलाया जाता है। इस स्वराज्य-शासन के लिए विशाल दृष्टि वाले, सब के साथ मित्रवत् व्यवहार करने वाले और दिव्य ज्ञान से युक्त ये तीन प्रकार के लोग ही योग्य हैं।" —ऋगवेद ५।६६।६

सब से अच्छा राज्य वह है, जिसमें कम से कम शासन हो।

पाठको को इस अध्याय के पढने मे जल्दी न करना चाहिए। इसके लिए उन्हे अपनी मनोभूमि तैयार करनी चाहिए। जिन्हों ने पिछले अध्यायों को ध्यान से पढ़ा है, वे सहज ही उन बातों को समझ लेंगे, जिन पर हमे यहाँ विचार करना है। विश्व-राज्य या विश्व-सघ की बातें सोचने के लिए हमे अपने वर्तमान धरातल से ऊचा उठना चाहिए, और, विश्व-राज्य के योग्य बनने की कल्पना करनी चाहिए। अपने नगर या प्रान्त की तो बात ही क्या, हम किसी भी राज्य या राष्ट्र के नागरिको को पराया या गैर न समझें। हम सब के हितो और उचित स्वार्थों का पूरी तरह ध्यान रखें। इसका यह मतलब नहीं कि हमारा अपने पास वालो के प्रति कुछ कर्तव्य न रहे। मतलब केवल यह है कि हमारा स्थानीय प्रेम (अपने परिवार, जाति, नगर या राज्य का प्रेम) विश्व-प्रेम मे बाधक न हो।

विश्व-राज्य को सरकार—विश्व-राज्य की सरकार कैसी

होगी, यानी उसके मंत्रिमंडल के सदस्य, और सभापति (विश्व-पति) कैसी काबलियत वाले होंगे, इस पर विचार करने के लिए यह ध्यान में रखना ज़रूरी है कि विश्व-राज्य को कैसे काम करने हैं। आज कल शासन का मतलब दमन, हिन्सा और कूटनीति है, भावी विश्व-राज्य में उसका मतलब सेवा, सहानुभूति, सहयोग और प्रेम होगा। विश्व-राज्य अपने नागरिकों की शिक्षा और सुधार की तरफ सब से ज्यादह् ध्यान देगा। उसका उद्देश्य यही नहीं होगा कि नागरिक ज़िन्दा रहे, बल्कि यह होगा कि वे सुख और शान्ति से रहे। वे ऐसा जीवन व्यतीत करें. जो मनुष्यों के योग्य हो। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए स्वाभाविक है कि राज्य के मंत्री और प्रमुख अधिकारी उच्च कोटि के त्यागी और परोपकारी हों, और सब कर्मचारी विवेकी, गम्भीर और वैज्ञानिक। विश्व-राज्य में सब से अधिक योग्यता उस मनुष्य में मानी जायगी, जिसमे यथेष्ट ज्ञान के अलावा सेवा और प्रेम की भावना भरपूर हो। ऐसे लोग नागरिकों के उत्तम और पूर्ण जीवन व्यतीत करने में हर तरह सहायक होंगे।

विश्व-राज्य का शासन लोकतंत्र तो होगा ही, जिसका अर्थ है, जनता का शासन, जनता द्वारा और जनता के लिए। लोकतंत्र से जनता को तरह् तरह् के नागरिक गुणो का अभ्यास होता है। जानकारी, आज़ादी, आत्म सम्मान, सहिष्णुता,, लोकसेवा की भावना, और राजनैतिक निर्णय की शिक्षा के लिए लोकतत्र सब से अच्छा विद्यालय है। इससे लोगो की बुद्धि का विकास होता है, और उन्हें जनपद या पचायती राज्य के लिए त्याग करने की शिक्षा मिलती है। अच्छे शासन की सब से अच्छी कसौटी धन जन की वृद्धि नहीं है, बल्कि लोगो में चरित्र और व्यक्तित्व है। सब से अच्छा शासन वह् है जिससे

पुरुष और स्त्रियाँ सब से अच्छी बनती है। इस नैतिक कसौटी से लोकतन्त्र सब तरह की शासन-पद्धतियो में सब से अच्छा ठहरता है।

लोकतंत्र मे शासन जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा होता है। चुनाव के तरीके में इस समय कई दोष है, इसलिए लोकतंत्र का असली मतलब पूरा नहीं हो रहा है। इन दोषों के मुख्य कारण ये हैं—(१) धन का गलत बँटवारा; यानी कुछ लोगो का बहुत अधिक धनी होना, और चुनाव मे या कानून बनाने मे गरीब लोगो का मत खरीद सकना। (२) शिक्षा की कमी, खासकर नागरिकता के भावो की कमी, जिससे बहुत से आदमी अपना फर्ज और जिम्मेवारी नहीं समझते। (३) नैतिक भावो की कमी; लोगो मे स्वार्थत्याग और लोक-सेवा की भावना काफी प्रबल न होना; विश्व-बंधुत्व की भावना का विशाल मानव जाति की भलाई के लिए अपने गांव, शहर या राष्ट्र के स्वार्थ की परवाह न करने की तैयारी कम होना। इन बातों पर पहले विचार किया जा चुका है। विश्व-संघ में इस तरह के दोष उसी तरह हट जायँगे; जैसे सूरज के उदय होने पर अँधेरा मिट जाता है।

विश्व-राज्य के हिस्से— विश्व-राज्य में शासन की दृष्टि से हर देश को एक प्रान्त मान लिया जायगा। हिन्दुस्तान, चीन, जापान, इंगलैण्ड, जर्मनी, रूस सब विश्व-राज्य के एक एक प्रान्त होगे। शुरू मे, कोई प्रान्त बहुत बड़ा होगा, और कोई बहुत छोटा। कुछ समय बाद प्रान्तो का नया निर्माण होगा। तब उनका आधार राष्ट्रीयता न होगी, बल्कि आर्थिक या राजनैतिक सुविधा होगी। इस समय के, आपस मे लड़ने वाले, कई कई राष्ट्र उस समय आपस मे मिल कर विश्व-राज्य का एक एक प्रान्त

बनावेंगे। उस समय बहुत छोटे छोटे राष्ट्रों का प्रान्तों के रूप में भी अलग अस्तित्व नहीं रह सकेगा, छोटे छोटे टापुओं की तो बात ही क्या। प्रान्तो का नाम और संगठन सुविधा के अनुसार बदल दिया जायगा। हर नागरिक अहंकार भाव छोड़ कर इस विषय पर उदार और व्यापक दृष्टि से विचार करे।

शासन और व्यवस्था—विश्व-संघ का हर प्रान्त खासकर प्रान्तों प्रान्तों के बीच के सब मामलों में संघ के अधीन होगा। मुख्य सत्ता ('सावरेनटी') संघ की ही होगी। अपने भीतरी शासन में हर प्रान्त स्वाधीन या खुदमुखत्यार होगा। उसे अपने सब नागरिकों में मानवता और विश्वबंधुता का प्रचार करना होगा, और दूसरे प्रान्तो से सहयोग का भाव रखना होगा। हर प्रान्त का शासन वहाँ के सब बालिग पुरुष स्त्रियों के वोट (मत) से चुने हुए प्रतिनिधियों की व्यवस्थापक सभा के फैसले के अनुसार होगा, और यही प्रान्तीय सभा अपने योग्य त्यागशील सेवा-भावी प्रतिनिधि चुन कर संघ की केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा के लिए भेजेगी। जिस तरह अब बम्बई, मदरास जैसे प्रान्तों के प्रतिनिधि भारतवर्ष की केन्द्रीय यानी सेन्ट्रल व्यवस्थापक सभा में लिये जाते हैं, वैसे ही तब भारतवर्ष के प्रतिनिधि विश्व-संघ के केन्द्रीय व्यवस्थापक मंडल में लिये जायँगे। इस केन्द्रीय व्यवस्थापक मंडल में इस समय के प्रान्तो को प्रधानता न दी जायगी। यह नहीं होगा कि पांच करोड़ की आबादी वाले इंगलैण्ड का भी एक प्रतिनिधि हो और चालीस करोड़ वाले हिन्दुस्तान या पैंतालीस करोड़ वाले चीन का भी एक ही प्रतिनिधि हो; बल्कि संसार भर मे हर एक करोड़ आबादी की तरफ से बराबर की तादाद में प्रतिनिधि रहेंगे। कम आबादी वाले हिस्सो को इस तरह मिला दिया

जायगा कि पास पास के हिस्सो के समूह का कम से कम एक प्रतिनिधि लिया जा सके।

प्रतिनिधियों और अधिकारियों का योग्यता—विश्व-संघ मे कोई भी प्रतिनिधि या अधिकारी अनुदार राष्ट्रीय भावो वाला न होगा। सब मानव जाति के सामूहिक हित का ध्यान रखना अपना कर्तव्य समझेंगे। हर प्रतिनिधि के लिए सब से बड़ी योग्यता उसकी विश्वबंधुत्व की भावना होगी; वह यह अनुभव करे कि मैं मनुष्य हूँ और विश्व-नागरिक हूँ, न कि यह सोचता रहे कि मै अंगरेज़ हूँ, मैं जर्मन हूँ; मै गोरा हूँ, मैं भूरा हूँ। सारे विश्व के नागरिको को अपने परिवार के लोगो की तरह प्रेम करने वाला, और उनमें भेद भाव न रखने वाला, उदार महामना आदमी ही विश्व-राज्य का शासन-भार संभालने योग्य हो सकता है। जरूरत पड़ने पर उसे अपने देश या जाति वालो के खिलाफ फ़ैसला देने या काम करने में कोई संकोच या हिचकिचाहट न होनी चाहिए। वह मानवता के बीच में खड़ी हुई बनावटी दीवारो—रंग, सम्प्रदाय आदि—की परवाह करने वाला न हो। वह सब से समान सहानुभूति रखने वाला, निरपक्ष और सत्य-प्रेमी हो।

न्याय-कार्य—विश्व-राज्य का हर प्रान्त अपने आन्तरिक शासन मे स्वाधीन होगा। पर कुछ बातें ऐसी होगी, जो सब प्रान्तो को माननी होगी। सब का मूल मंत्र सहयोग और प्रेम होगा। न्याय या अदालत का काम बहुत सरल होगा। मुकदमेबाज़ी का प्रायः अभाव रहेगा; कारण इनकी बुनियाद जायदाद या रुपया पैसा है। सम्पत्ति सामूहिक हो जाने पर, और उदार शिक्षा की व्यवस्था होने पर, बहुत

सा झगड़ा बखेड़ा खुद बखुद शान्त हो जायगा। कोई वसीअत करने वाला और वसीअत का धन पाने वाला, चोर, डाकू, लुटेरा, पूँजीपति, कंगाल, हत्यारा, क़र्ज़ लेने वाला और क़र्ज़ देने वाला, या ग़बन करने वाला, न होगा। इसलिए जेलखाना, वकील, कैद, फांसी, जज और पुलिस की भी ज़रूरत न होगी।

आजकल तरीक़ा यह है कि जिस आदमी के बारे में अपराध करने की आशंका होती है, उसे पुलिस द्वारा गिरफ्तार कराया जाता है, और अदालत में पेश किया जाता है। जिस किसी को अपराधी द्वारा हानि पहुँचती है, वह उसे दंड दिलाने की व्यवस्था करता है। इस में बदला लेने की भावना होती है। अपराधी को अपराध करने की प्रेरणा किन कारणों से हुई, उन कारणों को किस तरह दूर किया जा सकता है, और अपराधी का सुधार करने के लिए किन किन उपायो को काम मे लाना चाहिए, इन बातो की तरफ़ ध्यान नही दिया जाता। इसलिए एक बार दंड पाया हुआ आदमी बार बार अपराध करता और दंड पाता हुआ पाया जाता है। श्याम ने मनोहर का खून किया तो श्याम को फाँसी की सज़ा मिलकर उस का खून समाज की न्याय-व्यवस्था द्वारा किया जाता है। एक की जगह दो की हत्या हो जाती है। लाभ किसी को नहीं होता। अपराध-रोग के रोगी की हत्या से अपराध-रोग का निवारण नहीं हो सकता। जब तक रोग के कीड़े मौजूद रहेंगे, रोग बना रहेगा और मौका पाकर बढ़ता जायगा। इसलिए ज़रूरत है कि रोग का इलाज किया जाय। विश्व-संघ में इस ओर काफी ध्यान दिया जायगा। हमें अपराध-रोग को नष्ट करना है, ऐसा होने पर दंड या सज़ा खुद ही उठ जायगी। दंड देने की हालत

में उसे देने वाले और पाने वाले दोनो का ही पतन होता है। दोनो में पाशविकता या हैवानियत बढ़ती है। निर्दयता का नतीजा कभी अच्छा नहीं होता। जेल, कालापानी और फांसी ने जनता का सुधार न करके भारी हानि ही पहुँचाई और पहुँचा रहे है।*

सेना और पुलिस—राज्य के साथ सेना और पुलिस का सम्बन्ध अटूट माना जाता है। राज्य जितना बड़ा होता है, उतनी ही अधिक सेना की ज़रूरत होती है। राज्य मे नागरिकों की शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की कमी कर के भी सेना की ज़रूरत पूरी करने की ओर ध्यान दिया जाता है। आजकल का पाठक राज्य सम्बन्धी किसी योजना को ठीक नहीं समझता, जब तक उस मे सेना की पूरी पूरी व्यवस्था न हो। पर यह कहाँ तक ठीक है?

आज कल सेना की ज़रूरत इसलिए होती है कि या तो हमें दूसर राष्ट्र के हमले का डर होता है, जिसे हमारे देश के धन दौलत का लोभ हो, अथवा, हम खुद लोभवश किसी दूसरे देश पर हमला कर के उसे अपने अधीन करने की फिक्र मे होते हैं। विश्व-संघ कायम हो जाने पर, जब उस के विविध भागो मे आर्थिक विषमता न होगी, लोभ या हिन्सा की भावना न होगी और सब एक ही राज्य के अंग होगे तो कौन हमला करेगा, और किस पर हमला होगा? द्वैत भाव या गैरियत का भाव न होगा, इसलिए मारने वाली सेना न होगी, फिर मुकाबला करने वाली सेना की भी क्या ज़रूरत रहेगी?

---

* इस विषय पर विस्तार पूर्वक श्री० केलाजी की 'अपराध चिकित्सा' पुस्तक में लिखा गया है।

विश्व-राज्य हिन्सा द्वारा या हिन्सा के आधार पर क़ायम न होगा। प्रकृति ने मनुष्य को काम करने योग्य हाथ पाँव दिये हैं, लेकिन पैने नख, पंजे आदि नही दिये। इससे प्रकृति का मनुष्य को आदेश है कि काम करो, लड़ो नही; एक दूसरे को जख्मी न करो, किसी की हत्या मत करो। हिन्सा हमेशा न्याय और समानता की दुशमन रही है। जब सब आदमी मेहनत करें और धन पैदा करें तो कुछ लोगो को मेहनत से अलग रख कर उन्हें घातक या हिंसक हथियार क्यो दिये जायँ! यह हथियारबन्द श्रेणी अन्त में सारे समाज को सताती और उसका शोषण करती है, चाहे उसकी स्थापना किसी भी गरज़ से क्यो न हुई हो। आजकल की सी पुलिस और सेना कभी उपयोगी संस्थाएँ नहीं हो सकतीं। यदि सब आदमी और औरतें ईमानदारी से काम करें और शान्ति से रहें, तो चोरी या ठगी करने वाला ही कोई न होगा, जिससे रक्षा करने के लिये पुलिस जरूरी समझी जाती है। जब पुलिस होती है तो उसकी धाँधली और ज्यादती से लोगो की रक्षा करने के लिये हमें उसका नियंत्रण करने वाली संस्थाएँ चाहिएँ, और फिर उन नियन्त्रक सस्थाओ का नियंत्रण करने वाली संस्था चाहिए इस तरह कहीं अन्त ही होने में नहीं आता।

वर्तमान समय मे पुलिस की जरूरत ज्यादहतर धनी लोगों की सम्पत्ति की रक्षा के लिए होती है, क्योंकि गरीब ईमानदार आदमियो के पास ऐसा कुछ नही होता जिसे चोर चुराना चाहे। यदि सम्पत्ति और श्रम का ठीक ठीक बँटवारा हो जाय तो चोरो का अस्तित्व मिट जायगा। कोई बच्चा चोर पैदा नहीं होता। चोर और गठकतरे पूँजीवाद से पैदा होते हैं। सोना और चाँदी, जवाहरात और नकदी, हीरे और मोती चोर और डाकुओ का साहस बढ़ाते हैं। इसलिए व्यक्तिगत या निजी

मिलकीयत के हट जाने से, और ठीक ठीक नैतिक शिक्षा से, यानी हर आदमी के अपनी जायदाद को सब के लिए खर्च करने से, चोर डाकू न रहेंगे, तब पुलिस की भी ज़रूरत न होगी।

नागरिकता—अब हम विश्व-राज्य या विश्व-संघ की नागरिकता के बारे में विचार करें। आदमी के तरह तरह के समूह होते हैं। वंश और नाते रिश्ते के आधार पर कुटुम्ब, कबीला, जाति आदि बनती हैं। इस तरह के समूहो से मनुष्य का सम्बन्ध अपने जन्म से होता है। दूसरे समूह आदमी अपनी इच्छा या जरूरत के अनुसार बना लेता है। इन समूहों के अनेक भेद हैं—धार्मिक या साम्प्रदायिक, व्यवसायिक या औद्योगिक, साहित्यिक, प्रादेशिक इत्यादि। इन तरह तरह के समूहों में एकता या सामञ्जस्य कायम करने वाला मुख्य सूत्र है, नागरिकता। नागरिकता की भावना का क्षेत्र दिन दिन बढ़ रहा है, लेकिन अभी तक उसका पूरा पूरा विकास नहीं हुआ है। पहले कहा जा चुका है कि पुराने जमाने में राज्य आम तौर पर छोटे छोटे होते थे। कुछ तो एक एक नगर तक ही परिमित थे। इसलिए उनकी नागरिकता का क्षेत्र बहुत सीमित था। फिर इन नगर-राज्यो मे भी आम तौर पर स्त्रियो को नागरिक नही माना जाता था। इसके अलावा उस समय अनेक दास होते थे, जिन्हे नागरिक अधिकारो से वंचित रखा जाता था। कालान्तर में यह बात नहीं रही, इससे नागरिकता का क्षेत्र बढ़ने लगा।

धीरे धीरे राज्यो का विस्तार बढ़ा; न केवल प्रधान नगर के नजदीक के गाँव ही, बल्कि आस पास के दूसरे नगर भी एक ही राज्य के महत्वपूर्ण हिस्से बनने लगे। राज्य के क्षेत्र के बढ़ने का नतीजा नागरिकता का फैलाव था ही। आज कल एक

एक राज्य का क्षेत्रफल लाखों वर्गमील, और आबादी करोड़ों है। इसलिए नागरिकता का क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया है।

कुछ राज्यो ने बढ़कर साम्राज्य का रूप धारण कर लिया है। इससे नागरिकता का क्षेत्र कुछ और बढ़ा है; परन्तु मानव जाति के दुर्भाग्य से, उस अनुपात में नही. जिसमें साम्राज्य का आकार-प्रकार बढ़ा है; क्योंकि साम्राज्य के केवल थोड़े से ही हिस्से स्वाधीन होते हैं कितने ही हिस्से अर्द्ध स्वधीन और पराधीन होते हैं। स्वाधीन हिस्से के निवासियों को जो अधिकार साम्राज्य में रहते हैं, वे दूसरे हिस्सों के निवासियो को नहीं होते। सम्राज्य की नागरिकता का अर्थ लोगों के लिए उनके अपने देश की स्वाधीनता या पराधीनता के अनुसार होता है, जैसे ब्रिटिश साम्राज्य की नागरिकता का जो अर्थ केनेडा या आस्ट्रेलिया के नागरिकों के लिए है. वह भारतवासियों के लिए नहीं। परन्तु कल्पना करो कि हर साम्राज्य के सभी हिस्सों को बराबर की स्वाधीनता प्राप्त हो तो भी असली उद्देश्य सिद्ध न होगा। क्योंकि एक साम्राज्य का नागरिक दूसरे साम्राज्य के नागरिक को पराया, गैर या शत्रु समझता है। उन्हे दुखी देखकर खुश होता है; यहाँ तक कि उहे नुकसान पहुँचाने में अपना गौरव या बड़प्पन मानता है। इसलिये साम्राज्य की नागरिकता का आदर्श भी मानव जाति के लिये अभिशाप है।

हमने एक नगर की नागरिकता संकीर्ण समझी, हम आगे बढ़े, राज्य और साम्राज्य की नागरिकता का भी अनुभव करके देख लिया। अब इससे आगे बढने की जरूरत है। समय की पुकार है कि हर आदमी, चाहे वह किसी भी देश का हो, संसार भर का नागरिक माना जाय। वह कहीं जाय, कहीं रहे, उसके उचित अधिकारो की सब जगह रक्षा हो। नागरिको में गोरे

काले का, यूरोपियन या एशियाई का, कोई भेद भाव न हो। नागरिकता राज्य की नही, साम्राज्य की भी नही, विश्व की होनी चाहिए। इस सिद्धान्त को मानने का आशय यह है कि हमें नीचे लिखी बातें मंजूर हैं—संसार के सब मनुष्य भाई भाई हैं; रंग जाति, धर्म, या देश आदि का भेद भाव ग़लत या बेजा है। ऊँच नीच या स्पृश्यास्पृश्य की कल्पना निंदनीय है। किसी भी व्यक्ति, संस्था, समूह या देश को किसी भी बहाने अपने अधीन करना घोर अपराध है। परस्पर प्रेम, समानता और सहयोग हमारे जीवन के मूल मंत्र हैं। ऐसे भावो से युक्त नागरिकता निस्सन्देह विश्व का कल्याण करने वाली होगी।

अधिकार और कर्तव्य—नागरिकता मे अधिकारो और कर्तव्य दोनों का समावेश होता है। आज कल के राज्यो मे नागरिक अपने लिए ज्यादह से ज्यादह अधिकार हासिल करने की फ़िक्र मे रहते हैं, फल स्वरूप तरह तरह के आन्दोलन होते रहते हैं। कर्तव्यो की बात प्राय: गौण रहती है, यहाँ तक कि भावी विश्व-व्यवस्था की योजना बनाने वालो के सामने भी मुख्य विषय यही होता है कि भविष्य मे लोगो के अधिकार क्या होगे। मिसाल के तौर पर सन् १९४० मे इंगलैण्ड के मशहूर विद्वान एच० जी० वेल्ज़ ने 'लोगो के अधिकारो' के बारे में कुछ विचारपूर्ण लेख प्रकाशित कराये थे। उन्हों ने कहा था कि इन अधिकारो को संसार भर के सब राज्यो मे कानून का रूप मिल जावे तो विश्व-व्यवस्था बहुत सुन्दर होजायगी। हर आदमी को अपनी शारीरिक, आर्थिक और मानसिक उन्नति के लिए काफी साधन मिलेंगे, और वह सुख और शान्ति से जीवन बिता सकेगा। वह सब काम करने के लिए स्वतंत्र होगा, राज्य उसकी स्वतंत्रता में किसी तरह की बाधा न

डालेगा। श्री० वेल्ज़ ने, वहुत से और महानुभावों से, इन अधिकारों के वारे में, राय मांगी थी। उन्हे जो जवाब मिले, उनमें से महात्मा गांधी के उत्तर की ओर हम पाठको का ध्यान ख़ास तौर से दिलाना चाहते है। वह उत्तर विश्व-संघ की भावना के अनुकूल है। महात्मा जी ने लिखा था—

"आपका तार मिला। आपके पांचों लेख मैंने ध्यान से पढ़े हैं। मै समझता हूँ कि आप बिलकुल ग़लत रास्ते पर है। मुझे विश्वास है कि मै मनुष्यो के अधिकारो का. आपसे अच्छा नक्शा बना सकता हूँ। लेकिन वह किस काम का? उसका संरक्षक कौन बनेगा? यदि आपका उद्देश्य प्रचार या लोकशिक्षण है, तो आपने उलटे सिरे से काम शुरू किया है। मै सच्चा रास्ता बताता हूँ। आप मनुष्य के कर्तव्यो का एक नक्शा बनाइये और मै निश्चय के साथ कहता हूँ कि अधिकार तो अपने आप उसी तरह प्राप्त हो जायेंगे, जिस तरह सर्दी के वाद बसंत आता है। यह मेरा अनुभव-सिद्ध अभिप्राय है। एक युवक की हैसियत से मैंने अपने अधिकार जमाने की शोशिश की, पर तुरन्त ही मैंने पाया कि अधिकार जैसी कोई चीज़ मेरे पास नही। मुझे खुद अपनी पत्नी तक पर कुछ अधिकार हासिल नहीं, इसलिए मैंने अपनी पत्नी, बच्चों, मित्रों साथियों और समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य खोजना और उसे पूरा करना शुरू किया। फलस्वरूप आज देखता हूँ कि मेरे हक़ इतने विशाल हैं कि संसार में शायद ही किसी आदमी के हो। यदि यह मेरा वहुत बड़ा दावा है तो मै कहूँगा कि मै किसी ऐसे व्यक्ति को नही जानता, जिसके अधिकार मेरे अधिकारो से बढ़चढ़ कर हो।"

वास्तव मे विश्व-राज्य का काम तभी ठीक तरह चलेगा, जब लोगो मे कर्तव्य पालन की भावना भरपूर होगी। इस समय न

सर्वसाधारण को, खासकर अन्याय के सन्मुख, अपने ठीक ठीक 'कर्तव्य' की शिक्षा दी जाती है, और न जिन व्यक्तियो या समूहो को आर्थिक या राजनैतिक सत्ता प्राप्त है, वे अपने असली कर्तव्य पालन की ओर ध्यान देते हैं। नतीजा आपसी कलह और कुव्य-वस्था होने वाला ही ठहरा। इसका उपाय यही है कि शुरू से ही लोगो मे कर्तव्य-पालन की भावना पैदा की जाय। घर मे और वाहर वालको की शिक्षा का यह आवश्यक अंग हो। इस विषय में विशेष पहले लिखा जा चुका है। जब हम अपने जीवन मे ससार भर के प्रति अपने कर्तव्य को पूरा करने का कार्यक्रम रखेंगे तब विश्व-राज्य के शासन मे वे कठिनाइयाँ या उलझनें आने का प्रसग ही न रहेगा, जिनका आजकल सब तरह के राज्यों को सामना करना पड़ रहा है। विश्व-राज्य एक महान परिवार होगा, जिसके सदस्य एक दूसरे के प्रति प्रेम और सहयोग का भाव रखेंगे। सुसंस्कृत परिवार मे हर व्यक्ति दूसरे की आवश्यक-ताओ का ध्यान रखता है। विश्व-राज्य रूपी परिवार मे भी ऐसा ही होना चाहिए।

विश्व-राजधानी—राज्य होगा तो उसकी राजधानी भी चाहिए। पर विश्व-राज्य की राजधानी आजकल की राजधानियों से उसी तरह अलग ढंग की होगी, जैसे विश्व-राज्य आजकल के राष्ट्र-राज्यों से अलग ढंग का होगा। विश्व-राजधानी मे ऊंचे ऊंचे और विशालकाय राजभवनों की जरूरत न होगी, जिनमे जनता की गाढ़ी कमाई की असख्य सम्पत्ति लगी हो, न वहाँ पुलिस और सेना का ही आतंक होगा, जिससे नागरिको के मन मे भय भरा रहे; शासको के ऐश्वर्य का प्रदर्शन वहाँ न मिलेगा। वह राजधानी त्यागशील सेवा-भावी कार्यकर्ताओ के अनुरूप शान्त वातावरण में होगी। वहाँ जाने

वाले आदमी के मन में विलासिता या वैभव के भावों का उदय न होगा, बल्कि उसमें संयम और सादगी के विचार जागेंगे, उसका हृदय राग द्वेष आदि से मुक्त होकर विश्व-सेवा के लिए तत्पर होगा। इसलिए वहाँ के कार्यकर्ताओं को यह तो कभी शिकायत ही न होगी कि राजधानी का स्थान हमारे देश से बहुत दूर है, या यहाँ हमारे भाई बंधु नहीं रहते। वे कार्यकर्ता सभी जगह अपनेपन का अनुभव करेंगे, और, विज्ञान की सहायता से आने जाने के साधनो की उन्नति होने से दूरी की समस्या तो ससार से बहुत कुछ उठ ही जायगी।

रहा यह कि वह राजधानी होगी किस जगह। राष्ट्र-संघ ने अपने प्रधान कार्यालय के लिए जेनेवा (स्विटजरलैंड) का चुनाव किया था। पर यह जरूरी नहीं कि विश्व-राज्य की राजधानी वहाँ ही हो। यह तो सब देशो के सुभीते और सब की पसन्द की बात है। लाला हरदयाल के विचार से इसके लिए यूनान का एथन्स नगर अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि आजकल की सभ्यता दूसरे नगरो की निस्बत एथन्स की अधिक ऋणी है; संस्कृति की ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से यह नगर सब से पवित्र यात्रा-स्थान है; यह पूरब और पच्छिम के बीच में है; और यह न ज्यादह ठंडा न ज्यादह गरम, बीच की आबहवा वाला है। इस विषय पर मत भेद भी हो सकता है। श्री० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने 'राष्ट्रीयता के मूल मंत्र' में सारे मनुष्य-समाज का शासन एक ही केन्द्र से होने की बात कह कर लिखा है— "आइए! हम मिलकर आशा करें कि वह केन्द्र जगद्गुरू आर्यावर्त के अन्दर मन्वंतर पुराण दिव्यमूर्ति हिमाचल की उपत्यका में कहीं पर होगा, जहां से एटलांटिक महासागर के इस और उस पार के भूखंडो पर अखंडित राज्य होगा।" लेकिन जैसा हमने

ऊपर कहा है,राजधानी के विषय पर हमे कोई आग्रह नहीं है; यह तो समय आने पर सब देशो के प्रतिनिधि मिल कर. अपने अपने पक्षपात और अपनी अपनी श्रेष्ठता के संकीर्ण भावो से पूरे तौर से ऊपर उठ कर, प्रेम के रंग मे रंग कर, सबकी सुविधा को देखते हुए, तय कर लेंगे।

अट्ठाइसवाँ अध्याय

विश्व-संघ और अहिन्सा

समाज की प्रगति में तीन हालते होती हैं। पहली हालत में जंगल-कानून का—हिन्सा और स्वार्थ का—दौरदौरा होता है; दूसरी में कानून और निष्पक्ष न्याय का; तीसरी में अहिन्सा और निस्स्वार्थ भाव का आधिपत्य होता है। सभ्य मानव जाति का सर्वोच्च उद्देश्य यही है।

—राधाकृष्णन

हिन्सा और पशुबल के आधार पर क़ायम हुए राज्यों का अनुभव हम खूब कर चुके हैं; उनका हज़ारो वर्ष का इतिहास हमारे सामने है। उससे हमें जान लेना चाहिए कि हिन्सा से केवल हिन्सा का ही जन्म होता है, शान्ति का नहीं। और, जब तक शान्ति की सच्ची व्यवस्था नही की जाती, तब तक विश्व-राज्य की स्थापना नामुमकिन है।

विश्व-राज्य क़ायम करने के लिए ही नही, उसे बनाये रखने के लिए भी अहिन्सा और प्रेम की ज़रूरत है। इस बात को अभी बहुत से लोग नही समझ पाये है। यह स्वाभाविक ही है। जो लोग हिन्सा के वातावरण मे जन्मे, जो

हिन्सा में पाले पोसे गये, जिन्होंने हिन्सा के विद्यालयों मे शिक्षा-दीक्षा पाई, और जो हिंसा के राज्य में रहे, उनसे यह आशा कैसे की जा सकती है कि वे जल्दी ही अहिन्सा की महान क्षमता को समझ लें, और इसे अपनाने लगें। इस बात को कुछ और अधिक साफ कर देने की जरूरत है, ताकि विश्व-राज्य की सब बाधाएँ दूर हो जायँ।

संसार की अधिकांश आबादी अविद्या के अंधकार मे डूबी है। माता पिता बाल-मनोविज्ञान से, और बालको को घरों में दी जाने वाली शिक्षा के सिद्धान्तो से अपरिचित हैं। निर्धन होने के कारण उनके पास बालकों के भरण पोषण के आवश्यक साधनो का भी अभाव है। वे अपनी सतान की स्वाभाविक भावनाओ और शक्तियो का विकास नहीं कर पाते। उन्हें कदम कदम पर अपनी इच्छानुसार ही चलाना चाहते हैं, और, जब कभी इसमें कुछ प्रतिकूलता दिखाई देती है तो वे जबर-दस्ती से काम लेते हैं। बालक यदि कम खाता है तो मा उसे डरा धमका कर ज्यादह खिलाना चाहती है। मा अपने धंधे में लगने वाली है, और बालक को नींद नहीं आती, तो मा उसे मार पीट कर सुलाएगी। बालक से खेल कूद में कोई चीज़ टूट फूट जाय तो मा का थप्पड़-घूँसा उस पर पड़े बिना न रहेगा। बात-बात मे बालक को मा बाप के क्रोध और हिन्सा-भाव का शिकार होना पड़ता है।

बालक कुछ बड़ा हुआ, पाठशाला में जाने लगा। उसके अध्यापकों ने चाहे शिक्षण-कला की ट्रेनिंग भले ही पायी हो, और, चाहे सिद्धान्त से यह भी जानते हों कि बालको को डराना धमकाना या शारीरिक दंड देना बुरा है, पर व्यवहार में आम तौर पर अध्यापक इस असूल को भूल ही जाते है। उस समय

उनके मस्तिष्क मे यही भाव होता है कि बालको को ताड़ना देने मे बहुत गुण हैं, और लाड़-प्यार मे बहुत दोष हैं, इसलिए बालको की ताड़ना करते रहना चाहिए। उन्हे अगरेजी कहावत का भाव याद रहता है, जिसका अर्थ यह है कि 'छड़ी को विश्राम देना, बालक को विगाड़ना है।' बस, अगर विद्यार्थी का किसी निरस विषय मे मन नहीं लगता तो अध्यापक अपनी बुद्धि का सहारा न लेकर छड़ी का सहारा लेता है। यदि विद्यार्थी की समझ में कोई पाठ नही आता तो उसे छड़ी से याद कराया जाता है; अथवा, कभी कभी उस पर कुछ जुरमाना कर दिया जाता है, यदि विद्यार्थी कोई ऐसी बात करता है, जिससे अध्यापक की अयोग्यता सूचित होती हो तो गुरू जी आगे पीछे विद्यार्थी को दंड दिये बिना न मानेंगे। विद्यार्थी-जीवन में हमे बुद्धि, विवेक और प्रेम के बजाय दड और जुरमाने के शासन मे रहना पड़ता है, जो सब हिन्सा के अनेक रूप हैं।

विद्यार्थी स्कूलों कालिजो से छुट्टी लेकर सार्वजनिक कर्तव्य के पालन करने के लिए समाज के आश्रय मे आता है। आज कल का समाज पहले से बहुत बदल गया है, पर उसकी नीति अस्पष्ट या छिपी हुई होने पर भी उसका मूल मत्र 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' ही है। ज़मींदार, तालुकेदार या जागीरदार अपने अधीन किसानो को सताते हैं; पूँजीपति श्रमजीवियो को चूसते हैं; जिसका जहाँ बस चलता है वह जबरदस्ती करने से बाज़ नही आता। यहाँ तक कि दया धर्म का दावा करने वाले अनेक धर्माधिकारी भी अपने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए लोगो को तरह-तरह के प्रलोभन देने के अलावा कभी-कभी डराने धमकाने या मार पीट करने से नहीं चूकते। सफलता-प्राप्ति के लिए बल और हिन्सा अन्तिम शस्त्र माने जाते हैं।

सबसे बड़ी और व्यापक संस्था, जिससे आदमी को काम पड़ता है, वह राज्य है। राज्य यह एलान करता है कि मैं नागरिकों के लिए क़ानून और न्याय का शासन क़ायम करूँगा, 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' की नीति न चलने दूँगा। परन्तु उसके इस दावे में क्या तत्व है, जब कि उसका संगठन ही ऐसा हो कि व्यवस्थापक सभाओं आदि में जमींदारों, जागीरदारों और पूँजीपतियों का बोलबाला हो; शासन में कूटनीति से काम लिया जाता हो, दूसरे राज्यों का जन धन हड़पने में हिन्सा से परहेज न किया जाता हो, जब कि युद्ध करने में उसे गौरव मालूम होता हो, और जब कि नित्य नयी संधि करना, और प्रतिज्ञाएँ करना और नित्य ही उन्हें तोड़ना मामूली बात समझी जाती हो।

ऐसे चौमुखी हिन्सा के वातावरण में जीवन व्यतीत करने वालों को अहिन्सा और प्रेम की शक्ति में श्रद्धा या विश्वास होना बहुत कठिन है। परन्तु वे तनिक विचार करें तो हिन्सा की असफलता उन्हें साफ नज़र आ जायगी। संसार का इतिहास देखिए। मानवता युद्धों के कारण कराहती रही है, सुख शान्ति हमसे दूर दूर ही रहे हैं; बारबार जन धन की कुर्बानी करते रहने पर भी मनुष्य को शान्ति नहीं मिल पायी।

हम यह भूलते नहीं हैं कि इतिहास में कभी कभी पीड़ित वर्ग ने हिन्सा से भी अपने अत्याचारियों के विरूद्ध सफलता प्राप्त की है; पर ऐसी मिसालों से तो इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं, जिनमें सशस्त्र युद्ध में न्याय और सत्य की पराजय हुई, और अन्यायी का बल, संगठन और अत्याचार और भी अधिक बढ़ा। फिर, सशस्त्र युद्ध में, जिसकी पराजय होती है, वह तो पराजित

होता ही है; असल मे देखा जाय तो जीतने वाले को भी वहुत नुकसान पहुँचता है, भले ही अपनी जीत के नशे मे वह उसका विचार न करे। हमारा आशय यहाँ उस नैतिक पतन से है, जो शस्त्र-धारण और हिन्सा के साथ अनिवार्य है। अनेक वार यह देखा गया है कि जिन लोगो ने जनता की रक्षा के नाम से हथियार उठाये थे, वे ही विजयी हो जाने पर, जनता की रक्षा का ध्येय छोड़ कर, उसके भक्षक वन वैठे। जनता ने अनुभव किया कि उसके नेता, धोखा देने वाले सावित हुए और उसी समय से जनता दूसरी क्रान्ति की तैयारी करने लगी। फ्रांस ने अठारहवीं सदी के अन्त में शासको के अत्याचार से तंग आकर वोरवोन वंश को हटाने के लिए नेपोलियन का स्वागत किया था। नेपोलियन ने हिन्सा के जोर से लोगो की इच्छा पूरी की, वाद मे वह खुद ही उन्हे तकलीफ देनेवाला वन गया। यह है हिन्सा का नतीजा। हिन्सा ने पहले सफल होकर भी अखिर मे असफलता दी। इसके विरुद्ध अहिन्सा या शान्तिवाद कभी असफल नही होता। जव उसे प्रत्यक्ष सफलता नही मिलती तव भी वह अहितकर नहीं होता। वह अपने पीछे द्वेष, दुर्भावना, या वदला लेने की विरासत नहीं छोड़ता। और, अगर वह प्रत्यक्ष मे सफल हो जाय तो कहना ही क्या है!

इन वातो को ध्यानमे रखते हुए हमें अपना कर्तव्य निश्चित करना चाहिए, और ठीक ठीक तय की हुई नीति से फिर विचलित न होना चाहिए। शक्ति, लोभ और घृणा से भरे हुए इस अपूर्ण समाज मे हिन्सा कभी-कभी आंशिक विजय प्राप्त कर लेती है। परन्तु हमें उसके प्रलोभन में फँसकर पूर्ण और स्थायी सफलता के आदर्श को नही भुला देना चाहिए। हमें दूर तक की वात सोचनी है, हमें कल के वाद आने वाले

दिन, परसों, और उसके बाद आने वाले दिनों के लिए, बिना हिंसा के, निर्माण-कार्य करना है।

संसार में कुछ आदमी वह कार्य करते हैं, जो उनके दल के लिए अच्छा दिखाई देता है, कुछ उसे पसन्द करते हैं जो इससे बेहतर हो। हमें तो दूर तक देखकर सर्वोत्तम से प्रेम करना चाहिए, और चाहे जो हो, उस पर दृढ रहना चाहिए।

सब अन्यायों की जड़ सगठित हिन्सा है। युद्धों और विजयो ने मानव जाति को स्वामी और दासों में, सामन्तों और किसानों में, पूँजीपतियों और मजदूरो मे, और साम्राज्य-शासको और प्रजाजनों में बाँट दिया है। शुरू में कुछ आदमी विरोधी क़बीलों या उपजातियों से लड़ने के लिए अलग कर दि येगये थे। ये लोग योद्धा या सिपाही कहलाने लगे। शान्ति के समय ये अपने ही समूह के आदमियो में लूट मार करने लगे। धीरे धीरे इनका अलग दल या जाति बन गयी। मामूली जनता इनकी गुलाम हो गई, वह इनकी अधीनता मे रहने लगी। कुछ योद्धा दूसरे कबीलो को पराजित कर उनमें शासक, भू-स्वामि या सेनापति बन कर रहने लगे। इस लूटमार की पद्धति का मूल हिन्सा थी। सैनिको ने किसानो और मजदूरो को टेक्स देने के लिये मजबूर किया। इस तरह ज़ाहिर है कि हिन्सा श्रम की, यानी किसानों और मज़दूरों की, स्वाभाविक शत्रु है। इन दोनो का कभी मेल नहीं हो सकता। हिन्सा के बल पर, साधारण जनता अपने अंतिम उद्धार की आशा नही कर सकती! यदि हिन्सा सगठित शक्ति से पूजीवाद को हटा भी दे तो वह जनता का नये नये उपायो से शोषण करेगी। सैनिक लोग क्यो मेहनत करने लगे! वे तो काम करने वालो को, जिस तरह हो, लूटने का आसान रास्ता ही पसन्द करेंगे।

इसलिए हमे सब तरह की सेनाएँ हटानी हैं, और नयी सेनाओ का संगठन नहीं करना है। युद्धवाद को पूरी तरह हटाकर ही आमजनता का शोषण रोका जा सकता है।

यह ठीक है कि कभी कभी युद्धवाद से कुछ विजय होती दिखाई देती है, लेकिन इसके बाद दूसरा संकट आ जाता है। इतिहास में इसकी मिसालें भरी पड़ी हैं। यहाँ एक मिसाल देना काफी होगा। अठारहवीं सदी के आखरी हिस्से में फ्रांस की सैनिक शक्ति ने जर्मनी को सताया और नीचा दिखाया था। उससे जर्मनो को अपना राष्ट्र-बल बढ़ाने की उत्तेजना मिली, जिसका सबूत उन्होने, अलसेस-लारेन पर अधिकार जमा कर, दिया। इस पर फ्रांस के मन मे बदला लेने का भाव जागा। फ्रांस और जर्मनी का मनमोटाव बढ़ता गया। फलस्वरूप १९१४-१८ का महायुद्ध आया। उसमें विजयी पक्ष ने जर्मनी को सदा के लिए ठंडा करने का आयोजन किया। पर हिन्सक मनोवृत्ति से शान्ति का जन्म नहीं हो सकता। जर्मनी मे बदला लेने की भावना बढ़ती गयी। सन् १९१९ में शान्ति के नाम पर लगाया हुआ हिन्सा का वृक्ष सन् १९३९ मे फल लाया। हम लोगो को अपनी एक ही पीढ़ी में दूसरा विश्व-व्यापी महायुद्ध भोगना पड़ा, जो पहले से कहीं अधिक विकराल, विनाशकारी और अधिक फैला हुआ है। इस तरह एक युद्ध का परिणाम दूसरा युद्ध, दूसरे का परिणाम तीसरा, और तीसरे के बाद चौथा। यह सिलसिला आगे बढ़ता रहता है। इसका अन्त कैसे हो?

समय समय पर कुछ आदमियों ने इस युद्धवाद का विरोध किया है। शुरू में ईसाइयो को यह शिक्षा दी जाती थी

कि रोम कीं सेना मे नौकरी न करें। पादरी आरीजन ने साहस के साथ कहा था—"हमारे धर्म के शत्रु चाहते हैं कि हम राज्य के लिए शस्त्र धारण करें और आदमियो का वध करें......सम्राट को हमारी जरूरत हो तो भी हम उसकी अधीनता मे युद्ध नही करते।"

वह सच्ची घटना कितनी शिक्षाप्रद है। रोम की विशाल रंगभूमि मे दर्शको की भीड़ थी। सम्राट् तमाशा देखने वाली जनता को खुश करने के लिए कुछ योद्धाओ की, अखाड़े में, आमरण लड़ाई करा रहा था। लड़ने वालो में अपूर्व जोश था, नशा था। यह खूनी द्वन्द रोजमर्रा का तमाशा हो चला था। इसे कौन रोके! इसके विरुद्ध आवाज उठाना भी अपना उपहास कराना, लोगो की घृणा का पात्र बनना था। बड़े बड़े आदमियो में इस साधारण प्रवाह के विरुद्ध जाने का साहस न था। टेलमेकस नाम का एक पादरी अपने स्थान से उठा और झपट कर योद्धाओ के बीच में जा पहुँचा। दोनो ओर के शस्त्रो से उसका शरीर छलनी छलनी हो गया। उसके प्राण पखेरू उड़ गये, पर वह अपने बलिदान से उस राक्षसी खूनी तमाशे को बन्द कर गया। भारतीय पाठक जानते हैं कि राणा प्रताप और शाक्तसिंह के बीच घातक द्वन्दयुद्ध रोकने का काम उनके पुरोहित ने अपनी जान पर खेल कर किया था।

पिछले यूरोपीय महायुद्ध में 'सोसायटी आफ फ्रेंडस' (मित्र-समाज) और कई श्रमजीवी संस्थाओं ने सिपाही की वर्दी पहिनने से हिम्मत के साथ इनकार कर दिया था—पागलो की दुनिया में ये ही थोड़े से आदमी अपनी बुद्धिमानी का परिचय दे सके और उस पर अमल कर सके। इस तरह शान्तिवाद बिल्कुल नयी बात नही है, पर इसकी ठीक ठीक परीक्षा नहीं

हुई। इसे और अधिक अवसर मिलने की जरूरत है। हिन्सक सैन्यवाद या युद्धवाद से छुटकारा पाने का और कोई मार्ग है ही नहीं। यह ठीक है कि शान्तिवाद के समर्थकों को अक्सर गिरफ्तार करके खूब सताया जाता है, परन्तु उनके त्याग और कष्ट-सहन से लोगो को बुद्ध, महावीर और ईसा की शिक्षा याद आ जाती है, जिसे वे भूले हुए है। संसार को आधुनिक नरमेधो से बचाने के लिए ऐसे आत्मबली, त्यागी पुरुषो की जरूरत है।

वर्तमान युद्ध ने दिखा दिया कि वैज्ञानिक और आर्थिक शक्ति-सम्पन्न देश युद्ध कार्य मे कहां तक बढ़ गये हैं। कितने ही देशों ने युद्ध के अधिक से अधिक विकसित साधनो से काम लिया और मरने मारने मे किसी तरह कमी नहीं की। फिर भी वे देश अपनी स्वाधीनता खो बैठे। यूरोप के छोटे छोटे राष्ट्रो ने एक-एक दिन में दस-दस पंन्द्रह पन्द्रह करोड़ रूपये से अधिक खर्च कर डाला या फूँक डाला। जब कोई देश सैनिक तैयारी की बात करे तो इन बातो को याद रखे। कोई गरीब देश इतना धन हिन्सक सामग्री मे कैसे खर्च कर सकता है! यह भी विचार करना है कि हम हजारो लाखो आदमी की हत्या करें और, इतने पर भी देश की रक्षा और स्वाधीनता को गारंटी नही। हमारी हिन्सा को देख कर विपक्षी मे प्रतिहिन्सा की भावना बढ़ती जायगी। इस का अन्त कौन करे!

यह महान कार्य हमारे ही करने का है। उपाय भी सरल ही है। मनुष्य यह पक्का इरादा करले कि हम कभी हथियार न उठायँगे, कभी नही लड़ेगे, और न लड़ने का व्यापार सीखेंगे। यदि हम इतना काम करलें तो उद्देश्य सिद्ध हो जायगा। हमें व्यापक निशस्त्री-करण की, या स्थायी शान्ति के लिए विश्व-संधि की, इन्तजार

करने की जरूरत नहीं है। वह सब अपने समय पर हो जायगा। पर उसके होने के लिए यह जरूरी है कि हम इस समय व्यक्तिगत रूप से पहले अपने आपको निशस्त्र करदें। हम किसी के लिए भी न लड़ें। हमारा मन सदैव शान्ति की बातो को सोचे, युद्ध का कभी विचार न करें। जब कुछ आदमी इस काम मे अग्रदूत बन जायँगे तो वे दूसरों को भी इस काम के लिए बुला सकते हैं; जनता उनका अनुकरण करेगी। इसलिए क्यो न हम अहिन्सा का निश्चय करें! हाँ, हमारी अहिन्सा निर्बलो या कायरो की अहिन्सा न हो, वह वीरो की अहिन्सा हो। शत्रु यह जानले कि हम उसकी अधीनता कभी स्वीकार न करेंगे। उसे यह विश्वास हो जाय कि हमारे कुछ आदमियों को मारने या हमारी भूमि के किसी भाग पर अधिकार करने से उसे कोई लाभ न होगा। इस तरह वह हम पर विजय पाने की कल्पना न करे; हम हिन्सा से बचें और उसे भी हिन्सा से बचावें। निस्सन्देह इसके वास्ते सच्चे कष्ट सहने वाले, और त्यागशील सत्याग्रहियो की जरूरत है।

शान्ति-सेना के महत्व और शिक्षा के विषय मे कुछ विचार-सामग्री देनेके लिए यहाँ महात्मा गाँधी के एक लेख के कुछ अंश का आशय दिया जाता है।* हिन्सक सेना के सैनिक को सब से बड़ी आवश्यकता शारीरिक बल की होती है, जिस से वह दूसरो को मारने की सामर्थ्य बढ़ा सके। इसलिए बुड्ढे, छोटी उम्र वाले, और रोगी उस से अलग रखे जाते हैं। परन्तु शान्ति-सैनिक मे मुख्य गुण यह होना चाहिए कि वह अपने विश्वास के लिए प्राण न्यौछावर कर सके। यह सेना बुड्ढो, औरतो, बच्चो,

---

* यह लेख अमरीका के 'दि कोलिअर्स वीकली' के २६ जून १९४३ के अंक में छपा था।

अंधों, लगड़ों और रोगियों का भी स्वागत कर सकती है। इस से स्पष्ट है कि इस सेना मे अधिक जनता भाग ले सकती है। इस सेना को अस्त्रो की आवश्यकता नहीं होती, इसके सैनिको को यह सीखना होता है कि रोगियो की सेवा किस तरह की जाय, अपनी जान जोखम मे डाल कर भी दूसरो की रक्षा कैसे की जाय। शान्ति-सैनिक किसीको भी शत्रु नहीं मानता; जो आदमी उसे शत्रु समझें, उनके लिए उसके हृदय मे प्रेम और दया होती है। वह उनके सुधार या उत्थान का इच्छुक रहता है। शान्ति-सैनिको में बूढ़े और रोगी आदि सम्मिलित होने की बात ऊपर कही गयी है, फिर भी उन्हें जहां तक हो सके, अपना शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य सुधारना और ठीक रखना चाहिये। अनेक बार ऐसा प्रसग आसकता है कि उन्हे भूख प्यास, सर्दी गरमी, वर्षा, मार पीट या दूसरी तकलीफें सहनी पड़ें। उन में यह साहस और चतुराई भी होनी चाहिए कि लोगो को आग या बाढ़ आदि से बचा सकें और लड़ाई दंगे के बीच में पड़ कर लड़ने वालो से शान्त रहने के लिए अनुरोध कर सकें।

हम ऐसे वातावरण मे पले हैं, और हमारी विचारधारा और दृष्टिकोण ऐसे हो गये हैं कि हमे इन बातो में विश्वास नहीं होता। इनमे हमारी रुचि नही है। आवश्यकता है कि हम इन पर गम्भीरता के साथ विचार करें। युद्ध मानव जाति के लिये अभिशाप रूप है, इसके निवारण के लिये हर विवेकशील आदमी को भरसक उद्योग करना चाहिए। युद्ध का अन्त युद्ध के द्वारा न होगा, बल्कि हिन्सा से सर्वथा असहयोग करने और मानव प्रेम को अपनाने से ही होगा, जिसके अन्तर्गत एक आवश्यक बात यह है कि ऐसा करने में जो भी कष्ट हम पर आवे, उसे शान्ति और गम्भीरता से सहन किया जाय। यदि

मृत्यु का भी स्वागत करना पड़े तो वह सहर्ष किया जाय। विश्व-राज्य की स्थापना तथा सुरक्षा केवल इच्छा से या कहने मात्र से न होगी, इसके लिए ठीक ठीक कृति चाहिए।

हर युग की कोई एक ज्वलन्त समस्या और एक सर्वोच्च प्रगतिशील आन्दोलन होता है। ससार के भिन्न भिन्न देशो मे कभी बौद्ध, ईसाई या हिन्दू कहलाने वालों पर संकट आया, कभी नास्तिको का जीवन दूभर रहा, कभी मादक द्रव्य निषेध करने वालो को कष्ट झेलने पड़े, कभी अपने को प्रजातन्त्री या समाजवादी कहना एक मुसीबत मोल लेना रहा। इन लोगो को विद्रोही कह कर इन्हे किस तरह सताया गया, उसकी रोमांचकारी कथाओ से इतिहास के पन्ने रँगे पड़े हैं। आज दिन प्रगति और प्रतिक्रिया के बीच की स्पष्ट रेखा शान्तिवाद है। युद्ध मानव जाति का सबसे अधिक घातक और भयकर शत्रु है। यदि हम इस सम्बन्ध में अपना कर्तव्य पालन न करें तो चाहे हम और कई छोटे मोटे कार्य कर गुज़रें, हम मानवता के अग्र भाग से पीठ दिखाने वाले ही रहेंगे।

उन्तीसवाँ अध्याय

हमें क्या करना चाहिए

अगर कोई आदमी अपने स्वप्नों की दिशा मे विश्वास के साथ आगे बढ़ता रहे, और ऐसा जीवन व्यतीत करने की कोशिश करता रहे, जैसा कि उसने सोच रखा है तो उसे वह सफलता मिलेगी, जिसकी मामूली समय में आशा नहीं की जा सकती। —थोरो

हमने इस किताब को पढ़ लिया। हम विश्व-राज्य के लिए क्या करें ? जिन असूलो से विश्व-राज्य का निर्माण होता है, उन्हे फैलाने और उन्नति देने के लिए हमारा क्या कर्तव्य है ?

पहली बात तोयह है कि हमारे अन्दर आशा, विश्वास और उमंग होनी चाहिए। विश्व-राज्य का निर्माण उसी तरह निश्चित या तय है, जैसे आधी रात के घोर अंधकार के बाद सुबह की रोशनी। हाँ, उसकी कल्पना ऐसे लोग नही कर सकते, जो रात के अंधकार से घबरा गये हो। आम लोगो का उसमे विश्वास नही होता। जिस युग मे हम रह रहे हैं, वह साम्राज्यों के आपसी महायुद्धों की भयंकर घटनाओं और उनके दुष्परिणामों से ओत प्रोत है! संसार की जनता बेहद कष्ट भुगत रही है। जब कि लोगो के प्रिय जनों और प्रिय वस्तुओं का विनाश हो रहा हो तो लोगो का दुखी और परेशान होना स्वाभाविक है। पर यह ठीक नही है। विचारवान आदमी को धीरज और गम्भीरता से काम लेना चाहिए। चहुँ ओर की निराशा के वातावरण में भी आशा का परित्याग न करना चाहिए; और, चाहे जैसी परिस्थिति हो, हमें अपने कर्तव्य-पथ पर दृढ़ता के साथ आगे बढ़ते रहना चाहिए।

विश्व-राज्य के काम मे एक बड़ी बाधा साम्राज्यवाद है, जो युद्धो के बल पर जिन्दा रहता है। संसार हिन्सा कांड से त्राहि त्राहि कर रहा है। इसका अन्त करने की बहुत सख्त जरूरत है। इसके लिए मानवता-प्रेमी हृदय चाहिएँ, जो खुशी खुशी अपना बलिदान करने को तैयार हों, उत्सुक हों। दुनिया की सब सरकारें एक दिन निशस्त्र होगी, पर अभी दुविधा में पड़ी हैं। यही मौक़ा है कि हम लोग व्यक्तियों की हैसियत से

अपना कर्तव्य पालन कर दिखावें। किसी को आगे बढ़ना होगा। वह आगे बढ़ने वाले हमही क्यों न हों ? हमे अपने निजी जीवन पर पूरा अधिकार और आज़ादी है। कोई हमें खेत और खलिहान में, दफ्तर और कारखाने में, जेल और फांसी के तख्ते पर भी शान्तिवाद के असूल पर अमल करने से नहीं रोक सकता, हम नम्रता से, पर दृढ़ता और अभिमान से यह कह सकें कि हमारे दिल से, और हमारे घर से युद्ध सदा के लिये उठ चुका है; परमात्मा करे, यह सब के दिलो और सब के घरों से निकल जाय। बस, विश्व-राज्य का रास्ता साफ हो जायगा।

बहस करने वालो का यह सवाल बना ही रहता है कि विश्व-राज्य का निर्माण कब होगा। इसका जवाब यही है कि इसके लिये कुछ परिस्थितियाँ ज़रूरी हैं। उन परिस्थितियों का ज़ल्दी या देर में आना हमारी कोशिशों पर निर्भर है। मानव समाज की प्रगति का हिसाब अंकगणित के प्रश्नो के उत्तर की तरह झटपट और गिन कर नहीं दिया जा सकता। उसमे कमी बेशी की गुँजायश रहती है। यदि सब विचारशील लोग इस काम मे जुट जाँय, दूरदर्शी और व्यापक दृष्टिकोण वाले महानुभावों के आदेशो का पूरा पूरा लाभ उठाया जाय, उनके नेतृत्व और पथप्रदर्शन का ठीक ठीक उपयोग किया जाय तो हज़ारों वर्ष में होनेवाला काम कुछ दशाब्दियों में ही पूरा हो सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चाहे जब हो, विश्व-राज्य का कायम होना लाजमी है। कुछ लोग कह दिया करते हैं कि अगर कोई काम निकट भविष्य मे होने वाला नहीं है तो हम उसका विचार, या उस दिशा में कोशिश क्यो करें। परन्तु यह दृष्टि क्षुद्र दृष्टि है। हम उस माली का दृष्टान्त अपने सामने रखें, जो पेड़

लगाता रहता है, यह जानते हुए भी कि इन से छाया और फल उसके जीवन काल मे न मिलेंगे, पर अगली पीढ़ी के काम आयेंगे। हम निष्काम भाव से विश्वबंधुत्व और विश्व-राज्य के पौधो को सीचते रहे, समय आने पर मानव समाज उनके फलों और छाया से लाभ उठाएगा।

हम यह अच्छी तरह समझ लें कि हमारे लिये विश्व-राज्य का निर्माण करने के लिए कोई देवता या फ़रिश्ते नहीं आवेंगे। दूसरे लोक के प्राणी आकर यह काम कर भी जायँ तो हमे उससे फ़ायदा नही होगा। व्यायाम या वायु-सेवन दूसरा आदमी करे, और स्वास्थ्य हमारा सुधरे, यह कैसे हो सकता है। अपने लिए कल्याणकारी विश्व-राज्य का निर्माण हमें ही करना है। जिन परिस्थितियों मे उसकी स्थापना होगी, उन्हे पैदा करना हमारा ही काम है। हम सोचें कि क्या हमने इस दिशा मे आगे बढ़ना शुरू कर दिया है। कुछ महानुभावो ने हमें समय समय पर मार्ग दिखाया है, और इस समय भी कुछ विभूतियाँ हमारे कार्यक्रम का साफ़ साफ़ चित्र हमारे सामने रख रही हैं। दुर्भाग्यवश हमने उनकी बात सुनने और विचारने से बहुत दरजे तक इनकार कर रखा है, और कही कहीं उनकी आवाज़ आम लोगों तक न पहुँचने देने की भी व्यवस्था कर रखी है। पर समय आ रहा है, हमे अपनी भूल स्वीकार करनी होगी, इस तरह के विचारको का संदेश सुनने के लिए उनके पास दौड़ना पड़ेगा। हम सच्चे हृदय से उनके आदेश का पालन करें, और विश्व-शान्ति और विश्व-राज्य का निर्माण करने में सहायक हों।

हम यह समझ लें कि विश्व-राज्य के अभाव मे जो स्थिति है; वह असह्य है। उसमें परिवर्तन होना ज़रूरी है। यह बात

छोटे और बड़े, पुरुष और स्त्री, बच्चे और बूढ़े, किसानों और मज़दूरों, दूकानदारों और कारीगरो सब के दिल में बैठाई जाय और लोकमत तैयार किया जाय। हर मनुष्य अपने आपको विश्वबंधुत्व और विश्व-राज्य की भावना का प्रचारक समझे।

विद्यार्थियों को चाहिए कि वे ज्ञान-प्राप्ति के साधनों में यात्रा का भी पूरा पूरा महत्व समझें; संसार के विविध देशों की यात्रा करें, उनकी भाषाएँ सीखें, विश्व-साहित्य का अवलोकन करें, दूसरे देशों के निवासियों से मेलजोल बढ़ावें, और इस तरह अपने आपको और अपने साथियों को विश्व-नागरिकता के योग्य बनावें। विद्यार्थियों को इतिहास पढ़ते समय विशेष सावधान रहने की ज़रूरत है। वे ऐसे इतिहास की भूलभुलैयों में न पड़ें, जो संकीर्ण राष्ट्रवादी लोगों ने लोभ या मोहवश तैयार किये हैं। वे विश्व-इतिहास का मनन करें। वे पिछली शताब्दियों की उन महान क्रान्तियों और संस्थाओं का हाल पढ़ें और सोचें, जिन्होंने भिन्न भिन्न क़ौमों का कायाकल्प करके मानवता के लिये कोई विशेष आदर्श प्रदान किया है। हम उन महापुरुषों का जीवनचरित्र पढ़ें, जिन्होंने मनुष्य-जाति के उत्थान में अपने आराम, स्वास्थ्य और जीवन तक को बलिदान कर दिया है। उन्होंने अपने त्याग के बल से बड़े बड़े सिंहासनों को हिला दिया है। त्याग की अनुपम शक्ति के सामने साम्राज्यों और पूँजीपतियों की सेनाएँ काम नहीं कर सकतीं। त्याग सब अत्याचारों का अंत कर सकता है। बस, त्याग की माँग है, धन का त्याग, स्वास्थ्य का त्याग, प्रिय जनों का त्याग और जीवन का त्याग।

आवश्यकता है कि विश्व-शान्ति और विश्व-राज्य हमारे जीवन का लक्ष्य हो। हम इसके लिए मरने को तैयार रहे, इससे बढ़

कर बात यह है कि हम इसी के लिए जीवित रहे। इसके आधारभूत सिद्धान्तो का हम अपने दैनिक जीवन में अभ्यास करें। हम सब को अपना भाई और साथी मानें; यह न हो कि अपने आपको दूसरों से ऊंचा समझें। हम न धनवानो की खुशामद या चापलूसी करें, और न ग़रीबो से घृणा करें। विलासिता और शौकीनी से हम दूर रहें। हमारा रहन सहन सादा हो, सब के प्रति हम सहनशील हो, और अपनी राय दूसरो पर ज़बरदस्ती न लादें। धर्म या राजनीति में जिनसे हमारा मत-भेद है, उनके भी अधिकारो का हम आदर करें। हम में अपनी ही स्वतंत्रता के लिए उत्साह न हो, हम सब की स्वतंत्रता की चिन्ता करें, तभी हम विश्व-राज्य की पताका फहराने वाले अग्रदूत हो सकेंगे।

लेखकों और कवियों को भी उनका कर्तव्य याद दिलाने की आवश्यकता है। अनेक लेखको को अपनी शक्ति का पता नही होता, वे धनवानो या सत्ताधारियो के इशारे पर कलम चलाते हैं, घृणा द्वेष और कायरता का वातावरण बनाये रखने में सहायक होते हैं, वे अपने पाठकों और श्रोताओ को नवयुग का सदेश नही सुनाते, वे इस सृष्टि मे कोई गहरा परिवर्तन करने की बात कहते हुए झिझकते हैं। लेखक-भाइयो! तुम पूँजीवाद और सम्राज्यवाद की चाकरी मे कब तक निमग्न रहोगे? तुम्हारे लिए विश्व-राज्य के निर्माण का महान कार्य प्रतीक्षा कर रहा है। इधर-उधर की अनावश्यक और हानिकर बातो को छोड़ कर, विश्वबन्धुत्व का संदेश सुनाने मे लग जाओ, अपने लेखो और पुस्तको मे इसी भावना को ओतप्रोत कर दो। तुम कहानीकार हो या उपन्यासकार, नाटककार हो या काव्य-रचयिता, तुम्हारी हर रचना का मूल मंत्र किसी न किसी रूप मे

विश्व-राज्य की चर्चा हो। तुम बालकों के लिए लिखो या बूढ़ों के लिए, पुरुषों के वास्ते लिखो चाहे स्त्रियो के लिए; याद रखो तुम्हें अपने पाठकों के लिए विश्व-राज्य का महान आदर्श पेश करना है।

यही बात हर अध्यापक, हर उपदेशक, और हर सुधारक को करनी है।

तीसवाँ अध्याय

आत्म-निर्माण

जब व्यवहारों और विचारों में हमारे नेता समाज के पुनर्निर्माण की कोशिश करें तो होशियारी से उन सब प्रणालियों को नष्ट कर देना चाहिए, जो आत्माओं को तुच्छ बनाती हैं, और उनका विनाश करती हैं। उन्हें सब से पहले मनुष्य की आत्मा की उन्नति में पूरी सहायता देनी चाहिए। —*सर्वपल्ली राधाकृष्णन*

व्यक्ति अपना आत्म-निर्माण करे, संस्था उसमें से आप फूटेगी, और ऐसी ही संस्था स्थायी होगी। —*वीरेन्द्र कुमार*

पिछले अध्याय में इस बात पर विचार किया गया है कि विश्व-राज्य का निर्माण करने के लिए हमें क्या करना चाहिए, उससे भी अधिक महत्त्व का विषय यह है कि उसके लिए हमें खुद कैसा बनना चाहिए।

यह बात हृदय में भली भांति धारण करने की है कि हमें संस्थाओं को बनाने से अधिक ध्यान स्वयं अपने आपको बनाने की ओर देना चाहिए। आजकल के युग को संस्था-युग कह सकते हैं। नित्य नयी संस्थाएँ बनती हैं। जो आज बनती है,

वह कल टूट जाती है। कोई स्थिर नहीं रहती। बात यह है कि इन संस्थाओं के निर्माण करने वालों में संस्था के प्रति यथेष्ट श्रद्धा, भक्ति, धुन या लगन नहीं होती; वे उसके नहीं हो रहते। वे बहुधधी होते हैं, उन्हें अनेक काम करने की चिन्ता होती है, उनमे से कोई एक काम यदि न भी चला तो उन्हें विशेष परवाह नहीं होती, उन्हे उसका अभाव असह्य नहीं होता। जब संस्थापक का यह हाल हो तो सहायक और सहयोगियों की तो बात ही क्या!

इमर्सन ने कहा है कि 'हर बड़ी संस्था और कुछ नही, केवल किसी एक व्यक्ति की लम्बी परछाई है।' संस्थापक का ही चरित्र सस्था मे दिखाई पड़ता है। उसके गुण अपने सजातीय गुण वाले दूसरे लोगों को उसकी ओर आकर्षित करते हैं। इस तरह एक प्रकार के गुण, कर्म, स्वभाव वाले कुछ व्यक्तियो का संगठन होता है, और ये अपने प्रभाव से दूसरे ऐसे ही कार्यकर्ताओं का सहयोग प्राप्त करते हैं। यह क्रिया उत्तरोत्तर आगे बढ़ती है, और संस्था का निर्माण हो जाता है। अब यदि केन्द्र में ठीक ठीक प्रकाश और दृढ़ता नहीं है; हिचकिचाहट, संकोच, शिथिलता, धुंधलापन आदि विद्यमान हैं तो ज्यो-ज्यो केन्द्र से आगे बढ़ते जायँगे, अवस्था अधिकाधिक चिन्तनीय होती जायगी। यदि राजधानी मे काम क्रोध लोभ मोह का आधिपत्य है, तो दूर दूर के प्रान्तो में जो भी अन्धकार हो, सो कम है। जिन जीवाणुओ के अपने अन्दर जीवन और ओज नही, वे उर्वरा या उत्पादक जीवाणुओं के जन्मदाता कैसे हो सकते है!

हमें सस्था बनाने का चाव होता है। हम चाहते है कि किसी तरह हमारा भी नाम पाँच सवारों मे लिखा जाय। लोग जान लें

कि हम में भी कुछ है। बस, हमें यह दिखाने भर की ही फिक्र होती है; किसी आदर्श, उद्देश्य या सिद्धान्त-पालन की हमे चिन्ता नहीं होती। हम दूसरो को धोखा देने का प्रयत्न करते रहते हैं। यदि हम सच्चे हृदय से अपनी जाँच करें तो स्पष्ट है कि हमारी इच्छा काम करने की नहीं होती, केवल यह होती है कि हमारी गिनती काम करने वालों में होने लगे। हम साहित्यिक बनना नहीं चाहते; उसके लिए जो साधना या तपस्या का जीवन चाहिए, उस से हम कोसों दूर रहते हैं, हम तो चाहते है कि किसी दूसरे की कृति या दूसरे के श्रम के सहारे हमारे नाम से चीज छप जाय, और हम लेखक गिन लिये जायँ। हम कवि के रूप मे प्रसिद्ध होना अवश्य चाहते हैं, और इसलिए ऐसे कवि-सम्मेलन मे भाग लेने को तैयार रहते हैं जहाँ हमें ख्याति या अच्छी दक्षिणा मिले। वहाँ हम कृषकों या अकाल-पीड़ितों का क्रन्दन भी खूब सुर ताल से सुनावेंगे। परन्तु वास्तव में हम कविहृदय नहीं चाहते; कवि बनकर दिन रात अपनी आँखो के सामने आनेवाले दीन दुखियो के कष्टो से पीड़ित होते रहना हमे पसन्द नहीं। हम धर्मात्मा बनना नहीं चाहते, क्योंकि यदि वास्तव में धर्मात्मा होंगे तो हमें अपने दीन हीन भाइयों के दुख दारिद्र्य को दूर करने मे अपनी समस्त सम्पत्ति लगा देनी होगी, और हमें उनसे अधिक सुखमय जीवन का व्यतीत करने का अधिकार न होगा। यह बात हमारे वश की नहीं। हम तो किसी मंदिर, अनाथालय, आदि में कुछ चन्दा दे देना चाहते हैं, बशर्ते कि वहाँ हमारे नाम का पत्थर लगजाय, या रिपोर्टों या पत्रो मे हमारे दान धर्म की विज्ञप्ति की जाय।

खास तरह की पोशाक पहन कर, चिन्ह धारण कर, या खास नारे लगाकर, हम समाजवादी 'कामरेड' कहलाना पसन्द

करते हैं, पर क्या हम कभी सोचते हैं कि समाजवादी को अपने पास धन सम्पत्ति जोड़ कर रखने की इजाज़त नहीं होती, जब कि देश मे अनेक आदमियो को अपने जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक भोजन वस्त्र का भी अभाव हो। समाजवादी की कोई व्यक्तिगत पूँजी, भूमि, जायदाद आदि नही होती।

हम विश्व-निर्माण की बातें करने मे पीछे नहीं रहते, पर सच पूछो तो हमे अपने घर बनाने की ही फिक्र रहती है। किस प्रकार हम अधिक से अधिक कीर्ति, यश, सम्पत्ति और सुविधाएँ प्राप्त कर सकें, यही हमारा एकमात्र लक्ष्य होता है। हम अच्छे से अच्छे सिद्धान्तो की चर्चा करते रहेंगे, पर उससे हमारे किसी स्वार्थ पर आंच न आनी चाहिये।

भला, ऐसे आदमियो से विश्व-निर्माण कैसे होगा ? विश्व-राज्य को वातूनी और पाखंडी, घमंडी या अहंकारी व्यक्तियो की आवश्यकता नही। ये उसके नागरिक होने के योग्य नही होते। विश्व-राज्य को ज़रूरत है, उन शुद्ध निष्कपट सच्चरित्र हृदयवान सज्जनो की, जिन्हो ने काम क्रोध लोभ मोह को जीत लिया हो, या जो जीतने का हृदय से प्रयत्न कर रहे हो, जिन्हो ने केवल प्रमाणपत्र प्राप्त करने के लिए ही पुस्तको को कंठ करने या परीक्षाएँ पास करने का कष्ट न उठाया हो, बल्कि जो सांसारिक माप दंड के अनुसार अशिक्षित कहे जाते हुए भी वास्तव मे सुशिक्षित हो, जिन्होने ने दूसरो पर या प्रकृति पर विजय पाने की अपेक्षा स्वयं अपने ऊपर विजय प्राप्त करने की साधना की हो, और जिन्हों ने अपनी इन्द्रियो को वश में रखने का निश्चय किया हो।

जिन लोगों का चरित्र-निर्माण ठीक रीति से नहीं हुआ है, और जिन्हों ने इन्द्रिय-संयम का अभ्यास नहीं किया है, उन

की सब शिक्षा दीक्षा व्यर्थ है। वे अपने ज्ञान विज्ञान और शक्ति का सदुपयोग करेंगे, इसका कोई भरोसा नहीं रहता। नीतिकार के शब्दों में उनकी विद्या विवाद के लिए, धन मद या अहंकार के लिए, और शक्ति दूसरो को पीड़ा पहुँचाने के लिए होती है।* ऐसे लोग किसी भी संस्था या विधान का अनर्थ कर डालते हैं। ऐसे लोगों के कारण ही जनतंत्रवाद असफल कहा जा रहा है, इन्हो ने साइन्स अर्थात् विज्ञान को हिन्सा का साधन बना डाला है, यं समाजबाद को भी ठीक तरह काम न करने देंगे। इसलिए इद्रिय-संयम और साधुस्वभाव की अत्यन्त आवश्यकता है, जिससे विद्या का उपयोग विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हो, धन दूसरों की सहायता के लिए हो, और शक्ति दूसरों की रक्षा के काम में आए।

विश्व-राज्य का नागरिक बनने में चरित्र सम्बन्धी थोड़ी सी त्रुटि भी बहुत घातक हो सकती है।

महाभारत-युद्ध के मूल में यह छोटी सी बात थी कि जब दुर्योधन को पाँडुओं के विलक्षण महल मे जल की जगह स्थल का, और स्थल की जगह जल का भ्रम हुआ तो द्रौपदी ने व्यंग पूर्वक कह डाला कि अंधे की संतान अंधी ही होती है। चरित्र की छोटी-छोटी बातों का कैसा भयंकर दुष्परिणाम होता है! तनिक सी चिंगारी बड़े बड़े भवनों को भस्म कर डालती है! वास्तव मे इन बातों को छोटी समझ कर इनकी अवहेलना करना बड़ी भूल है। श्री० शिवनन्दन प्रसाद जी एम० ए० ने ठीक लिखा है—"किसी एक द्रौपदी के कुछ असावधान शब्द, किसी एक मंथरा की प्रतिशोध भावना, किसी एक शूर्पनखा की उद्दाम

---

* विद्या विवादाय, धनं मदाय, शक्ति परेषां पर पीड़नाय।
साधोरसाधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय, दानाय च रक्षणाय॥

वासना, ऐसी घटनाओं को जन्म देने मे समर्थ हैं, जो संसार भर पर अपना प्रभाव डाल सकती हैं; मानव जाति का संहार कर सकती हैं। यदि हम चाहते हैं कि युद्ध न हुआ करें, विश्व-शान्ति के उन्मुक्त आकाश में संग्राम के काले बादल न छाया करें तो हमें भौतिक जीवन की समस्याओ की ओर ही नहीं, अन्तर्जगत् की ओर भी दृष्टि डालनी होगी; क्योंकि इस बाह्य विश्व की सारी घटनाएँ आन्तरिक संसार की छाया मात्र हैं; निराकार भावनाओ, धारणाओ और विचारों के साकार रूप हैं। आज के महायुद्ध का दानव विज्ञान और कल कारखानों द्वारा प्रसूत नहीं है—इन जड़ वस्तुओं मे इतनी क्षमता नहीं कि विश्वव्यापी युद्धों को जन्म दें। वर्तमान महायुद्ध के मूल में मानव हृदय की वह अतृप्त लालसा है, वह दुर्दमनीय धन-लिप्सा और अधिकार की प्यास है, जो अपना भीषण रूप पूंजीपतियो की संगठित संस्थाओ के द्वारा (जिसे साम्राज्य कहते हैं) दिखला रही है।*

इससे आत्म-निर्माण और चरित्र गठन का महत्व स्पष्ट है। व्यक्तियो मे यह बात जितनी अधिक होगी, उतना ही उनकी संस्थाएँ अधिक सुन्दर, महान और स्थायी होगी। विश्व-राज्य के लिए इसकी आवश्यकता और उपयोगिता और भी अधिक है। जो व्यक्ति काम क्रोध आदि मन के विकारों को वश मे कर लेता है, वह तीनो लोको मे विजय प्राप्त कर सकता है; अर्थात् कोई कार्य उसकी शक्ति से बाहर नहीं रहता। ऐसे ही व्यक्तियों से विश्व-राज्य संगठित होगा। इस लिए स्वामी राम के शब्दो को जरा बदल कर, हमे यह कहना है—

---

*'मानव धर्म' अक्तूबर १६४३।

विश्व राज्य के लिए आवश्यकता है।

निर्माताओं की—दूसरों का निर्माण करने वालों की नहीं, वरन् स्वयं अपना निर्माण करने वालों की।

योग्यता—जिन्होने प्राप्त किया है, विश्वविद्यालय की डिगरियाँ नहीं, परन्तु अपने अहंकार और काम पर विजय।

आयु—ब्रह्मानन्द की युवावस्था (सांसारिक गणना के हिसाब से वह चाहे पन्द्रह वर्ष की हो, या पिछत्तर अस्सी वर्ष की ही क्यों न हो)

वेतन—आत्म-संतोष।

शीघ्र प्रार्थना पत्र भेजो—'भिक्षांदेही' के शब्दों में नहीं, परन्तु अधिकारपूर्ण फैसले के साथ।

विश्व के स्वामी को—अर्थात् अपने आप को।

अन्त में निवेदन है कि इस रचना के पाठक और श्रोता आत्म-सुधार और आत्म-निर्माण करते हुए विश्व-राज्य के नागरिक बनने के लिए अधिकाधिक योग्यता का परिचय दें। चाहे उन्हे राष्ट्र-राज्य में रहना पड़ रहा हो, परन्तु वे अपने विविध कर्तव्यों के पालन में भावना विश्व-राज्य की ही रखें। वे यह समझलें कि हम तो अभी से विश्व-राज्य या विश्व-संघ के नागरिक हैं, और हमारा लिखना, पढ़ना, शिक्षा, व्यापार, राजनीति आदि सब कार्य इस दृष्टि से होगा कि वह विश्व-नागरिक द्वारा, विश्व-राज्य के लिए है। जिस प्रभु, परमात्मा, खुदा; 'गाड' या किसी दूसरी बड़ी शक्ति या सत्ता मे हमे विश्वास है, वह हमें इस सत्कार्य के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन दे। शुभम्

परिशिष्ट

विश्व-संघ में पशु पक्षी

इस पुस्तक मे हमने विश्व-व्यवस्था पर विचार मनुष्य की दृष्टि से किया है। मनुष्य इस सृष्टि का सब से श्रेष्ठ प्राणी है, और उस पर इस बात की जिम्मेवारी है कि वह न केवल अपने सामूहिक और व्यापक हित का विचार करे, बल्कि दूसरे प्राणियो के बारे मे भी उदारता और न्याय की भावना का परिचय दे। इसलिए इस बात पर विचार करना जरूरी है कि विश्व-राज्य या विश्व-संघ में पशु पक्षियों की दशा कैसी होगी। ध्यान रहे कि पशु पक्षियो के साथ मनुष्य जो व्यवहार करेगा, उसका असर केवल उन पर ही नहीं पड़ेगा बल्कि स्वयं मनुष्य पर भी पड़ेगा।

क्या पशु पक्षी भी मनुष्य के प्रेम के अधिकारी होगे? विषय कुछ जटिल और वादग्रस्त है, फिर भी विचारने योग्य है। सभ्यता के शुरू मे आदमी ने जब जंगलो को काट कर भूमि साफ की, तो उसने अनेक पशुओं को मारा। उस समय उस के सामने भोजन की बड़ी समस्या मौजूद थी, उसे खेती करने का ज्ञान नही था। कन्द मूल फल सब जगह और सदैव काफी नहीं मिलते थे। इसलिए जिन पशु पक्षियो का मांस वह खा सकता था, खा लेता था; और जिनका चमड़ा ओढ़ कर अपनी सर्दी का बचाव कर सकता था, उनकी खाल काम मे ले आता था। पशुओं का इस से अधिक और कुछ उपयोग वह करना ही नही

जानता था। कुछ पशु पक्षी तो बहुत ही भयानक, ज़हरीले और हानिकर हैं; आदमी उनका उपयोग अभी तक नहीं जान पाया, जैसे शेर, भेड़िया, सॉप, मक्खी, मच्छर, दीमक आदि। जब तक आदमी की जानकारी आज कल के परिमित क्षेत्र से आगे नहीं बढ़ती, साधारण आदमी से इन प्राणियो के प्रति विशेष उदारता के व्यवहार की आशा नहीं है। परन्तु कुछ पशुओ के बारे मे तो वह जान गया है कि उन्हे मार कर खाने की अपेक्षा, पाल कर रखना अधिक उपयोगी है, किसी से दूध आदि मिल सकता है, और कोई सवारी या माल ढोने आदि के काम आ सकता है। इस विचार से आदमी ने उनको पालना शुरू किया।

प्रश्न यह है कि जो पशु प्रेम से पाले जा सकते हैं, और आदमी को किसी तरह की हानि न पहुॅचा कर उसकी बहुमूल्य सेवा करते हैं, उनके प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए। उदारता न सही, क्या न्याय की भी आशा न की जाय? बेचारे प्राणी हमारी शरण में आना स्वीकार कर लें, और हम उनके साथ विश्वासघात करके अपने स्वार्थ या क्षणिक आनन्द के लिए उनके प्राण लेने की ताक में रहे। क्या यह काम मनुष्य को शोभा देता है? गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि की हत्या करना, क्या उनकी निर्बलता या सुशीलता का अनुचित लाभ उठाना नही है। वे हमें अमृत जैसा दूध दें, और हम उनके खून के प्यासे बने रहे! कैसी कृतघ्नता है! इसका तो अन्त होना चाहिए। घोड़े, गधे, खच्चर, ऊँट, कुत्ते, बैल से हम अपनी रोजी कमाते हैं तो भी इनके भोजनादि की हम यथेष्ट चिंता नही करते, बोझा लादते समय हम उनकी शक्ति का विचार नहीं करते, हम उन्हें बुरी तरह मारते पीटते हैं, और उनके बीमार पड़ने पर उनकी दवा-दारू का ठीक ठीक प्रबन्ध नही

करते। क्या इनसान को ऐसा व्यवहार करना शोभा देता है?

और हम अपने मनोरंजन के लिए ही कितने निर्दयी हो हो जाते हैं! हिरण, खरगोश या लोमड़ी का शिकार, घुड़दौड़, बैलों की दौड़, सांड़ो की लड़ाई, मुर्गों या बटेरों की लड़ाई, आदि मनुष्य के काले कारनामे हैं। कितने ही आदमी ऐसी पोशाक पहनते हैं जिस में पर, बाल या चमड़ा लगाने के लिए बेशुमार जानवरों की हत्या करनी पड़ती है। भारतवर्ष मे भी कितने ही आदमी मृगछाला और रेशमी कपड़े का, 'पवित्रता' की आड़ मे, उपयोग करते हैं।

पशु पक्षियो के प्रश्न का, मांसाहार से बहुत सम्बन्ध है। इस समय संसार के अधिकांश आदमी मांसाहारी है; कुछ आदमी सभी तरह का मांस खाते हैं, और दूसरे आदमियो मे से कुछ एक तरह के मांस से परहेज करते है, और कुछ दूसरी तरह के मांस से। जिन स्थानों की जलवायु या मिट्टी ऐसी है कि अन्न और फल काफ़ी पैदा नहीं होते, वहाँ आदमियो को मंजबूर होकर मांस पर गुजारा करना पड़ता है। परन्तु विज्ञान की उन्नति हो जाने से अब अन्न और फल ऐसे बहुत से स्थानो मे पैदा किये जा सकते हैं, जहाँ पहले पैदा नहीं होते थे। और यह आशा है कि धीरे धीरे उन जगहों मे से भी बहुत सो मे इनकी पैदावार हो सकेगी, जहाँ अब नही हो पाती। इसके अलावा माल ढोने के साधनो की उन्नति हो जाने से यह बात तो अब भी मुमकिन है कि जहाँ ये चीजें पैदा नहीं हो सकती, वहाँ दूसरे स्थानो से पहुँचाई जा सकती हैं। आगे ज्यो ज्यो आने जाने के साधनो मे अधिक उन्नति होगी, इन चीजो को लाने ले जाने का काम और भी आसान हो जायगा, तब उसमें इतनी मेहनत और समय न लगेगा जितना अब लगता है।

तव यह काम बहुत ही जल्दी हो जाया करेगा, और लोगों को इस बात से कोई असुविधा न होगी कि कोई चीज़ उनके यहाँ पैदा नहीं होती, और दूसरी जगह से मँगायी जाती है। इस तरह भविष्य में आदमी को इन चीज़ो की कमी के कारण माँस खाने की ज़रूरत न रहेगी। फिर, इतिहास बतलाता है कि मांसाहार की ओर मनुष्य का रुझान घट रहा है और मनुष्य की रुचि में सुधार हो रहा है। एक समय था, आदमी दूसरे आदमियो को मारकर उसका माँस वड़े शौक से खाता था, और ताजा खून पीने में वड़ी शान समझता था। अव भी इस तरह के आदमियो के कुछ नमूने मिल सकते है, परन्तु वे आदमी ऐसे ही हैं जो सभ्य जनता से दूर एकान्त मे या तो घने जगलो में रहते हैं या पहाड़ी इलाकों में। साधारण तौर से आदमी उस जंगली हालत को छोड़ कर बहुत आगे वढ़ चुका है। आज कल का 'सभ्य' आदमी ऐसी बातो से नफरत करता है। इसी तरह आदमी का ज्ञान बढ़ जाने से अब वह बहुत से पशुओ के पालने के फायदे जान गया है; वह उन्हे मारने के बजाय उनको पालता है, और प्यार से रखता है।

आदमी को और आगे वढ़ना है। अभी वह प्रायः पशुओ का पालन इसलिए करता है कि उसे उनसे दूध मिलता है या वे खेती या सवारी करने या माल ढोने आदि के काम आते हैं। ज़रूरत है कि आदमी इस स्वार्थ के विचार को छोड़ कर पशुओं के प्रति अपने सच्चे प्रेम का परिचय दे।

पशु पक्षियो को पाल कर रखना भी कहाँ तक और किन हालतों मे ठीक है? हम पशुओ को खाने पीने की चीजें दें और उनके भूख प्यास के कष्ट को दूर करें, यह तो ठीक है, पर क्या किसी को रस्सी या जंजीर से बाँध कर या पींजरे मे

वंद करके रखना ठीक है ? रस्सी सन की हो या सूत की, और जंजीर या पींजरा लोहे का हो या चांदी का, और चाहे सोने का ही क्यो न हो, वन्धन आखिर बंधन ही है। जो आदमी पशु पक्षियों को बंधन मे रखते हैं, वे ज़रा विचार करें कि क्या वे खुद ऐसे वन्धन मे रहना पसन्द करेंगे। हम उस आदमी को कैसा समझेंगे जो हमे कैद या बन्धन मे रखता है ? क्या हम अपनी रोटी कपड़े के लिए या दूसरे सुख के लिए पराधीन होना स्वीकार करेंगे ?

आदमी आज़ाद रहना चाहता है और स्वतन्त्रता-प्रेमी होने का दावा करता है। क्या वह यह नही जानता कि पशु पक्षियों को भी अपनी स्वतन्त्रता प्यारी है, और जहाँ तक उनका वश चलता है, वे मनुष्य के अधीन होना नहीं चाहते। मिसाल के तौर पर मथुरा वृन्दावन के बीच जँगल मे कुछ वन-गायें यानी जँगली गायें रहती है। जब कभी आदमी उन्हे पकड़ने की कोशिश करते हैं तो वे दौड़ जाती है, और अगर कोई आदमी उनके पास पहुँच जावे तो उसे सींगो से बुरी तरह मारती है। आदमियो ने धोखा देकर और बहुत मुश्किल से कभी कभी किसी बनगाय को पकड़ने मे सफलता प्राप्त की है, इस तरह धीरे धीरे उनकी संख्या अब बहुत कम रह गयी है. तो भी, सैकड़ो वर्ष के घोर सघर्ष के बाद भी, कुछ वनगायें पायी जाती हैं, यह उनके स्वतन्त्रता-प्रेम का अच्छा सबूत है। इसी तरह की जँगली गायें कानपुर ज़िले और दूसरी जगहो मे भी पायी जाती हैं।

एक और घटना पर विचार कीजिये। एक आदमी को एक पक्षी का रंग रूप तथा आवाज़ बहुत पसन्द आई, और उसने तरह तरह की कोशिशें करके जैसे तैसे उसे पकड़ लिया। पक्षी

को पींजरे में रखा गया, और उसे खाने के लिये कई तरह के पदार्थ दिये गये। परन्तु पक्षी ने कोई चीज न खायी और भूखा ही रहा। उसके मालिक को बड़ी फिक्र थी; कहीं ऐसा न हो कि यह भूख से मर जाय। उसे बड़ी खुशी हुई, जब उसने देखा कि उसी पक्षी की जाति का दूसरा पक्षी वहाँ आने लगा और वह उस पक्षी को खाना खिलाने लगा। परन्तु अगले दिन मालिक को यह देख कर आश्चर्य और दुख हुआ कि उसका पींजरे का पक्षी मर गया है। उसने एक पक्षी-विशेषज्ञ से इस विषय में पूछ-ताछ की। अन्त में मालूम हुआ कि जो पक्षी खाना खिलाने आया था, वह पींजरे के पक्षी की मा थी; उसे यह सहन न हुआ कि उसका बच्चा पराधीनता का जीवन बिताये, इसलिए उसने उसे ज़हरीली वस्तु खिलाकर मार डाला। यह है पक्षियों का स्वतंत्रता-प्रेम! वे अपनी संतान को पराधीन रूप मे देखने के बजाय उन्हें मार डालना पसन्द करते हैं। इस से ज़ाहिर है कि पराधीनता उनके लिए कितनी कष्टदायी है।

कई बार देखा गया है कि जो पक्षी कुछ समय पींजरे में रह चुकता है, उस में अच्छी तरह उड़ने की शक्ति नही रहती। इसके अलावा, स्वतंत्र पक्षी गुलामी का जीवन व्यतीत कर चुकने वाले पक्षी को अपने समूह में रखना पसन्द नहीं करते, वे उसे जाति-बाहर कर देते है, और मार मार कर उसे अपने पास से भगा देते हैं। आदमी को चाहिए कि किसी पशु पक्षी को अपने अधीन न करे, सब को स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन व्यतीत करने का पूरा आनन्द लेने दे। अपने स्वार्थ या मनोरञ्जन के लिए किसी को बंधन में रखना उचित नहीं। जो पालतू पशु पक्षी स्वयं अपनी इच्छा से हमारे पास रहना चाहते हैं, या जिनको छोड़ देने से उनकी जान के लिये कोई जोखम मालूम हो, उन्हे हम

भले ही अपने पास रखें। पर और किसी को हम पालने की भी कोशिश न करें, जब कि पालने का अर्थ उन्हें उनकी स्वाभाविक स्वतन्त्रता से वंचित करना है।

कहा जा सकता है कि यदि हम गाय, भैंस आदि को न पालेंगे और बॉध कर न रखा करेंगे तो हमे दूध, दही और घी और इनसे बनने वाली तरह तरह की स्वाद और पुष्टिकारक चीजें कैसे मिलेंगी? और बैल, घोड़े, भैंसे या ऊंट से माल ढोने या सवारी का जो काम लिया जाता है, वह कैसे होगा। इस बारे मे हमें अपने मन मे साफ साफ विचार करना चाहिए। हम उनकी स्वतंत्रता के पक्ष मे हैं या नहीं। यदि हम उनकी स्वतंत्रता सच्चे हृदय से चाहते हैं तो उसके लिये हमे अपने स्वार्थ का त्याग करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। दूध दही के अभाव में हमे इन चीजो का काम, विज्ञान की सहायता लेकर, दूसरी चीजो से निकालना चाहिए, या इनके बिना ही अपना निर्वाह करना चाहिए; इसी तरह सवारी या माल ढोने के दूसरे ढग निकालने चाहिएँ। इस में विज्ञान से अच्छी सहायता मिल सकती है, और भविष्य मे और उन्नति होने पर वह सहायता और अधिक मिल सकेगी।

हम तो उस सुन्दर भविष्य की आशा करते हैं, जब आदमी को पशु पक्षियो के पकड़ने के लिए उन्हे तरह तरह के कष्ट देने न पड़ेंगे, और न उन्हें बॉध कर रखने की जरूरत होगी। आदमी उन्हे प्रेम से अपनी ओर आकर्षित कर सकेगा। कोई पशु जब चाहे हमारे पास आवे. जब तक चाहे ठहरे, और जब चाहे चला जावे, हमे उसकी स्वतन्त्रता मे बाधक न होना चाहिए। यदि हमने अपने मन मे प्रेम की भावना खूब विकसित कर ली है तो पशु पक्षियो को स्वतंत्र रहते हुये भी हमारे पास आना जाना

और रहना अच्छा लगेगा। अगर वे अपनी इच्छा से खुशी खुशी हमारे पास रहे, और हम उन्हे प्यार करें तथा खिलावें पिलावें तो उनसे कुछ लाभ उठाने मे भी हर्ज नहीं है; बशर्ते कि हमारा उनका सम्बन्ध एक परिवार क सदस्यो की तरह का हो, मालिक गुलाम का नहीं। हम ऐसे चित्र देखते हैं और ऐसी कथाएँ सुनते है कि शेर और बकरी एक घाट पर पानी पीते हैं, या शेर और गाय किसी साधु के पास एक साथ रहते है। ये बातें चिर काल तक केवल कल्पना मे ही न रहेगी। मनुष्य को इन्हें कार्य रूप में लाना है, इन्हे सच्ची करके दिखाना है। वर्तमान अवस्था में, जब पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के कारण आदमी दूसरे आदमियों को आर्थिक या राजनैतिक दासता में जकड़ रहे हैं, पशुओं की स्वतंत्रता की बात कुछ अनहोनी या अजीब मालूम होगी। परन्तु हम कुछ गहरी दृष्टि से और उदारता से सोचें तो यह ऐसी बात नही है। सच्चे मन से प्रेम करने वाले जब इन बातो का प्रचार करेंगे तो सहज ही और थोड़े ही समय में इसके लिए अनुकूल वातावरण हो जायगा।

यहाँ हम एक घटना का जिक्र करना जरूरी समझते है। कुछ समय हुआ, एक स्वयंसेवक गाँव मे गया। एक घर में वह देखता है एक स्त्री अपने स्तन से एक बकरी के बच्चे को दूध पिला रही है। स्वयंसेवक के पूछने पर उस महिला ने कहा कि बकरी मर गयी है, और अपने पीछे यह बच्चा छोड़ गयी है; अब मै ही इसकी मा हूँ, जैसे कि मै अपनी गोद के दूसरे बच्चे की मा हूँ। यह है, मातृप्रेम! और, यह है ऊंचे दर्जे का प्रेम, जिसकी सीमा अपनी ही जाति यानी मनुष्य-संतान तक परिमित न हो, बल्कि पशु पक्षियो से भी अपनेपन का अनुभव करें। आदमी एक दूसरे से कह दिया करते हैं कि मै आपको अपना ही समझता हूँ,

आप के लिए जी-जान हाजिर है। पर असल में देखा जाय तो ऐसे आदमी बहुत कम हैं, जो दूसरे आदमियो के लिए जी-जान हाजिर कर सकें, और, उनकी तादाद तो और भी कम है, जो पशु पक्षियो से निस्वार्थ प्रेम करें और उनकी भरसक सेवा सहायता करें। पाठक तनिक विचार करें कि पशु पक्षियो के प्रति, और खासकर ऐसे पशु पक्षियो के प्रति जिन्हें प्रेम से पाला जा सकता है, आदमी का क्या फर्ज है, उसका व्यवहार कैसा होना चाहिए।

आशा है, आदमी में प्रेम और दया का भाव बढ़ता जायगा, उसमे पशु पक्षियो के प्रति भी उदारता की भावना बढ़ेगी। इनसान खुद सुखी रहते हुए दूसरे जीवों को भी सुख शान्ति से, और निर्भयता के साथ सृष्टि का आनन्द लेने देगा। जो पशु पक्षी आज मनुष्य को अपने हत्यारे या शिकारी के रूप मे देखते हैं, और मनुष्य से यमराज की तरह डरते हैं, वे उसको अपना प्रेमी और सहायक मानेंगे। वह विश्व-राज्य कितना सुन्दर होगा जब मनुष्य का आदर्श केवल मनुष्य मात्र से भ्रातृभाव न होकर प्राणी मात्र से भाईचारा होगा — जब वास्तव मे विश्वबंधुत्व का व्यवहार किया जायगा।

सहायक साहित्य

'हिन्ट्स फार सेल्फ-कल्चर' ... श्री० हरदयाल एम० ए०

'ए लास्टिंग पीस' .. एम० गारनेट, और
एच० डब्ल्यू० कोपलर

'असेन्शयल युनिटी आफ् आल
रिलीजन्स' ... डा० भगवानदास

'प्रिफेस टु पीस' ... नार्मन एंजल

राष्ट्र-संघ और विश्व-शान्ति .. रामनारायण यादवेन्दु

आत्म निर्माण ... चन्द्रशेखर शास्त्री

चरित्र निर्माण ... " "

राष्ट्र-संघ के उद्देश्य और विधान

विश्ववाणी, वीणा, मानव धर्म, मधुकर, प्रताप, शुभचिन्तक
आदि पत्र पत्रिकाएँ।